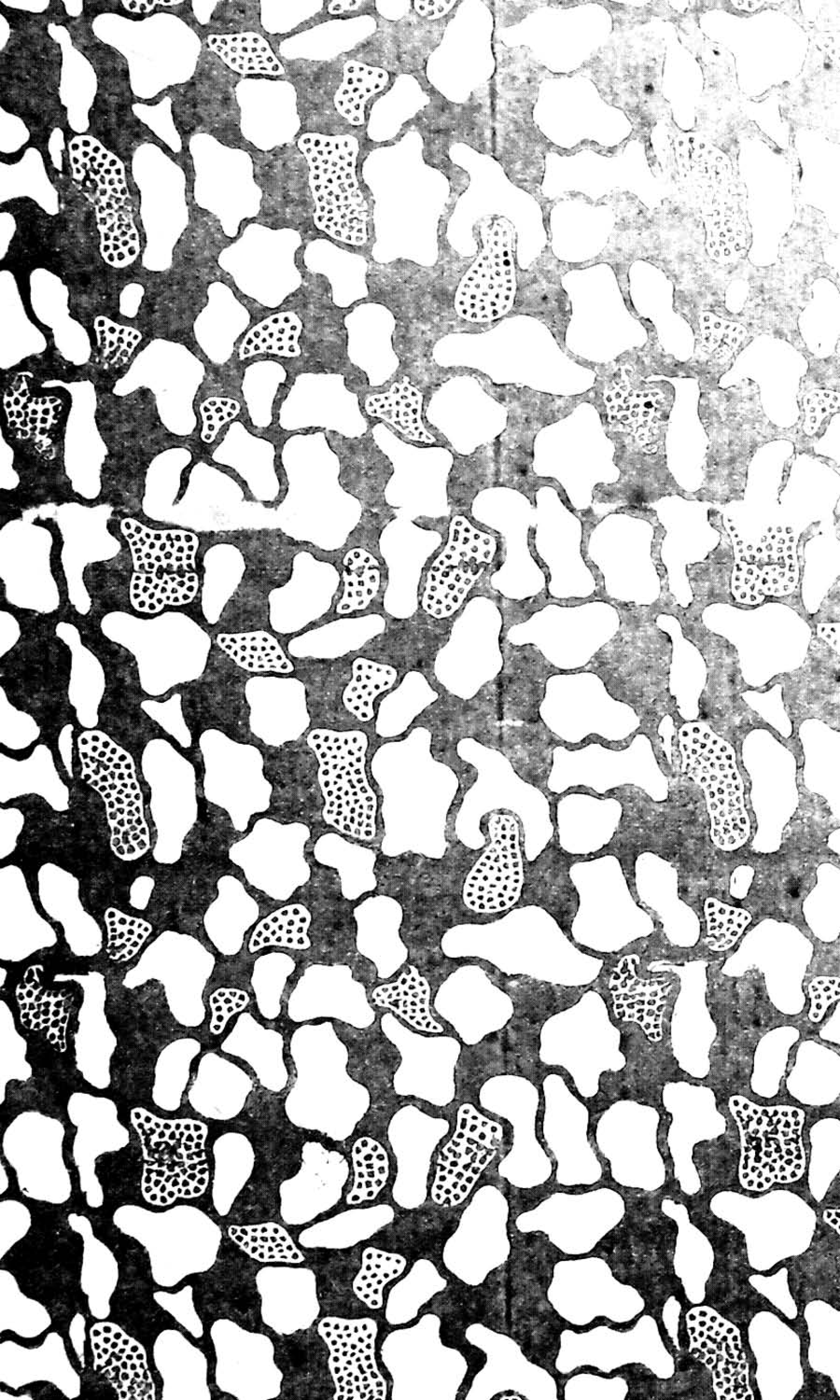


जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत

['जीवन और काव्य' पर एक समीक्षात्मक ग्रंथ]

लक्ष्मीनारायण सुधांशु, एम० ए०

युगांतर साहित्य-मंदिर,
भागलपुर सिटी

प्रकाशक—
युगांतर साहित्य-मंदिर,
भागलपुर सिटी (बिहार)

प्रथम आवृत्ति, जून १९४२ ई०
मूल्य सजिल्द ३)

मुद्रक—
मानिक लाल
युनाइटेड प्रेस लिमिटेड
भागलपुर

भूमिका

हिंदी में जीवन की प्रतिष्ठा पर काव्य के विश्लेषक समीक्षा-ग्रंथों का अपेक्षाकृत अभाव देखकर मुझे 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत' पुस्तक लिखने की भावना हुई। धीरे-धीरे मेरी भावना ने विचार का रूप धारण किया। भारतीय विश्वविद्यालयों के उच्च वर्गों में भी हिंदी भाषा तथा साहित्य को अधिकाधिक स्थान प्राप्त होने तथा वैज्ञानिक पद्धति से उसके शिक्षण की प्रवृत्ति ने स्वभावतः मेरे विचार को कृतसंकल्प बना दिया और आज मैं इस पुस्तक को लेकर अपने पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो सका।

इस पुस्तक में काव्य या साहित्य के मूल सिद्धांतों का संबंध मानव जीवन के उन शाश्वत तत्त्वों के साथ बताया गया है जिनका परिचय हमें थोड़ा-बहुत रहता है, किंतु उनकी विशेषता का विश्लेषण साधारणतः हम नहीं कर पाते। जीवन-प्रकृति के इन तत्त्वों के विश्लेषण तथा काव्य या साहित्य के मौलिक सिद्धांतों के साथ उनका विनियोग, यथासंभव, साहित्य-शास्त्र, मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान, वैद्यक-शास्त्र, वेदांत-दर्शन आदि के अनुसार किया गया है। वेद, उपनिषद्, वेदांत आदि आर्ष ग्रंथ तथा संस्कृत, हिंदी और अँगरेजी के अन्यान्य ग्रंथों से, जीवन और काव्य की समीक्षा करने में मुझे अमूल्य सहायता प्राप्त हुई है।

इस पुस्तक में कुल दस अध्याय रखे गए हैं। अंतिम अध्याय—अंतर्दर्शन—में मैंने हिंदी के नौ आधुनिक कवियों की, बहुत ही संक्षेप में, प्रवृत्ति-मूलक समीक्षाएँ की हैं। कवियों के निर्वाचन तथा क्रम में किसी निश्चित मानदंड का उपयोग नहीं किया गया है। वे प्रायः प्रवृत्ति-विशेष तथा अवस्था-क्रम के अनुसार ही रखे गए हैं। समीक्षित कवियों में से अनेक के साथ मेरा व्यक्तिगत परिचय है और उनके जीवन को निकट से देखने के अनेक अवसर भी मुझे प्राप्त हुए हैं, किंतु उनके परिचय तथा सद्भावना ने मुझे उनके साथ पक्षपात करने की कभी प्रेरणा न दी। जीवन की सारी दुर्बलताओं के साथ रहकर भी मैंने, यथासंभव, अपनी प्रकृति के विवेक को निष्कंप तथा निर्दिष्ट रखने की चेष्टा की है। जिन कवियों ने अपने काव्य-कौशल से मेरी सहानुभूति को अर्जित किया है उन्हें वह पूर्वाग्रह-रहित होकर प्राप्त हुई है।

इस पुस्तक की रचना तथा प्रकाशन में आशातीत विलंब हुआ। इसका उत्तरदायित्व विशेषतः मेरे जीवन की साहित्यिक गति-विधि के राजनैतिक दिशा-भेद पर है। अपनी साहित्य-साधना तथा प्रवृत्तियों की रक्षा केलिए मुझे अनुकूल वातावरण नहीं मिल रहा था और परिणामतः दो-चार महीने के काम केलिए मुझे दो-चार वर्षों की लंबी प्रतीक्षा करनी पड़ी। छपाई का क्रम अपने ढंग से चल रहा था, परंतु उस क्रम के अनुसार मैं लेखन-कार्य केलिए समय नहीं बचा पाता था। ज्यों-ज्यों अध्याय पूरे होते गए त्यों-त्यों वे प्रेस भेजे जाते रहे। अपनी विश्रब्ध प्रवृत्ति के कारण, कुछ सार-पत्रक बना लेने के बाद, सारी पुस्तक की रचना श्रुति-लेखन-पद्धति पर ही हुई

और इस कार्य में मेरे प्रिय गोविंदप्रसाद झा, साहित्यालंकार ने सर्वाधिक परिश्रम किया। मेरी सुविधा तथा जीवन-क्रम के अनुसार, समय-समय पर, इस कार्य-भार को सर्व-सुहृद् अनूप, साहित्यरत्न; बुद्धिनाथ झा 'कैरव', एम० एल० ए०; तथा रूपलाल, साहित्यरत्न ने बहुत उत्साह के साथ सँभाला। इतना होने पर भी, यदि मेरे प्रिय बंधु सत्येंद्रनारायण, बी० ए० ने अपने स्नेह तथा साहित्य-प्रेम का परिचय देकर, इस पुस्तक के प्रकाशन में सुविधाएँ न दी होतीं तो, शायद, मैं अबतक इसकी रचना भी न कर पाता। अन्यथा कार्य-संलग्न रहने तथा असुविधा के कारण मैं स्वयं इसका प्रूफ नहीं देख सका और इस भार को बड़ी प्रसन्नता के साथ प्रिय तपेशचंद्र त्रिवेदी ने ढोया। मैं अपने इन बंधुओं का अनुग्रह मानता हूँ।

बस, इतना ही।

पूर्णियाँ,
१ जून '४२

—सुधांशु

विषयानुक्रमणिका

पहला अध्याय

भाव-विन्यास और जीवन

दूसरा अध्याय

जीवन का वातावरण और काव्य-प्रकृति

तीसरा अध्याय

आत्मभाव और काव्य-विधान

चौथा अध्याय

मन का ओज और काव्य का रस

पाँचवाँ अध्याय

काव्य का अर्थबोध

छठा अध्याय

काव्य की प्रेरणा-शक्ति

सातवाँ अध्याय

लय और छंद

आठवाँ अध्याय

ग्रामगीत का मर्म

नवाँ अध्याय

कलागीत की प्रवृत्तियाँ

दसवाँ अध्याय

अंतर्दर्शन

जीवन और काव्य

पहला अध्याय

भाव-विन्यास और जीवन

भाव का शाब्दिक अर्थ है स्थिति या वृत्ति। सांख्यशास्त्र ने बौद्धिक भाव और शारीरिक भाव के नाम से इसके दो भेद कर दिए हैं। यहां सांख्यशास्त्र की मीमांसा करना हमारा प्रयोजन नहीं है। मनुष्य के हृदय में बाह्य जगत् की संवेदनाओं के कारण विकार उठते हैं जो मिलकर भाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं।

मूल भाव—
सुख और दुख

मूल भाव वस्तुतः दो ही हैं—सुख और दुख। इन्हीं दोनों को दूसरे शब्दों में राग और द्वेष कहते हैं १। जीवन में राग और द्वेष के भाव किसी-न-किसी रूप में सदा वर्त्तमान रहते हैं। ये दोनों भाव कई भावनाओं के संश्लेषण के परिणाम हैं जो वृत्ति-चक्र की तरह हृदय में बराबर उठते रहते हैं। इन दोनों भावों के अतिरिक्त कुछ मनोवैज्ञानिक 'उदासीनता' नाम से एक तीसरी स्थिति भी बताते हैं। वात्सायन ने 'मोह' से संभवतः इसी तीसरी स्थिति का बोध कराया है जो स्पष्ट नहीं है। उदासीनता वृत्ति का उल्लेख हमारे

१. सुखाद् रागः—वैशेषिक सूत्र ६, २, १०
दुखाद् द्वेषः—उपर्युक्त का उपस्कार

प्राचीन साहित्य में १ पाया जाता है, किंतु सुख और दुख की प्रधानता के सामने उदासीनता का महत्त्व गौण हो जाता है। जब तक मनोविकार सक्रिय नहीं रहता तब तक उसकी चेष्टा भी नहीं दिखाई जा सकती। फलतः उदासीनता मूल विकार नहीं हो सकती।

सुख-दुख का प्रभाव और शरीर-मनोविज्ञान

डॉ० भगवानदास ने सुख और दुख को आत्मा की मात्रा माना है २। इसको इस तरह स्पष्ट किया जा सकता है कि इन दोनों का संबंध आत्मा के रूप की अपेक्षा परिणाम से ज्यादा संबद्ध है और इस प्रकार आत्मा के जीवन और उसके प्रदर्शन से ज्ञान, इच्छा और क्रिया इन तीनों वृत्तियों के साथ वे संबंध रखते हैं। न्याय के अनुसार मनुष्य अपने जीवन में जानता है, इच्छा करता है और प्रयत्न करता है ३। आत्मा की वृद्धि, विस्तार और आधिक्य का भाव सुख है और उसका ह्रास, संकोच और अल्पता दुख है ४। अल्पता में सुख नहीं है, महत्ता ही प्रसन्नता है। पूर्ण महत्ता वही है जब कि आत्मा किसी अन्य को देखती, सुनती, जानती नहीं। सर्वत्र अपनी ही महत्ता पाती

१. मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः।
उत्पद्यंते त्रयः पक्षाः मित्रोदासीन शत्रवः—महाभारत।
वन के मुनि भी अपने-अपने कर्मों को करते हुए वहाँ मित्र, शत्रु और उदासीन तीन पक्षों को बिना बनाए नहीं रह सकते।

२. Dr. Bhagwan Das: Science of the Emotions.

३. 'जीवो जानाति, इच्छति, यतते'

४. सुख और दुख के शाब्दिक अर्थ से भी यही प्रमाणित होता है। सु=उत्तम+ख=आकाश—व्याप्ति; दु=दुर्लभ+ख=व्याप्ति।

है १। मनुष्य अपनी चेतना की वैयक्तिक स्थिति में या तो सुख का अनुभव करता है या दुख का। शरीर-मनोविज्ञान के सूक्ष्म विश्लेषण से यह पता चलता है कि सुख की स्थिति में मनुष्य का शरीर विकसित तथा भारी रहता है। सुख की सत्ता से शरीर में वृद्धि तथा स्फूर्त्ति होती है। दुख के अनुभव से इसके विपरीत शरीर में लघुत्व, संकोच आदि होता है २। जीवन की साधारण घटनाओं में भी शरीर पर सुख या दुख की सत्ता का प्रभाव देखा जा सकता है।

आलंबन के विचार से राग-द्वेष के रूपांतरित भाव

सुख और दुख से उद्भूत राग तथा द्वेष, आश्रय और आलंबन के विचार से मनोविकारों के कई रूपों में परिवर्त्तित हो जाते हैं। ये रूपांतर केवल स्वरूप में ही नहीं, बल्कि अलग-अलग मूल के रूप में भी होते हैं। राग और द्वेष जीवन के ये दो मुख्य तत्त्व हैं। इन्हीं दो तत्त्वों से हृदय के अगणित भावों की उत्पत्ति होती है।

१. नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं......यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा—छांदोग्य, ७. २३. १

२. By careful examination it appears that the pleasure is the feeling of an expansion, an increase of the self. The very essence of pleasure is an enhancement of the self, its growth, its intensification, its superiority over others or over its own past states, its moreness in short—moreness than before and as compared with others.

Dr. Bhagwan Das: Science of the Emotions, (1924) Ch. X. pp. 340—41.

Tilchener: An Outline of Psychology (1902) Ch. V. p. 112
Stoddart: The Mind and its Disorders, (1921) p. 58.

साहित्य-शास्त्र की रस-पद्धति भी इन दो ही तत्त्वों पर अवलंबित है। जीवन के व्यवहार-क्षेत्र में व्यक्ति की विशिष्टता, समानता तथा हीनता के अनुसार इन तत्त्वों में भी मौलिक परिवर्त्तन हो जाते हैं। विशिष्ट के प्रति राग, सम्मान हो जाता है, समान के प्रति प्रीति तथा हीन के प्रति करुणा। द्वेष-तत्त्व भी इसी प्रकार विशिष्ट के प्रति भय, समान के प्रति क्रोध तथा हीन के प्रति दर्प के रूप में परिवर्त्तित हो जाता है। आलंबन की भिन्नता के कारण राग और द्वेष भावों के उपर्युक्त रूपांतरों की बात विचित्र होने पर भी सत्य है। जीवन के विविध क्षेत्रों में भावों के परिवर्त्तन देखे जाते हैं। आलंबन की भिन्नता के अतिरिक्त उसके या उसकी समानता के प्रति भी आश्रय के हृदय में पूर्वापर विरोध-संपन्न भाव भी जन्म लेते हैं।

जीवन की गत्यात्मक स्थिति और विपरीत भावों का समवाय

मनुष्य का जीवन सदा एक सरल रेखा की गति से नहीं जाता। उस पर जगत् के नाना व्यापारों के घात-प्रतिघात लगा करते हैं। सरल रेखा-गति से चलने पर जीवन की विशिष्टता भी प्रमाणित नहीं होती और इस प्रकार का जीवन, भावों के उत्थान-पतन के अभाव के कारण, काव्य के उपयोग का नहीं रहता। जब तक जीवन पर जगत् के ऐसे व्यापारों का प्रभाव नहीं पड़ता जो कभी तो उसे धक्का देकर आगे बढ़ा दे और कभी खींच कर पीछे लौटा ले, तब तक जीवन की दृढ़ता प्रकट नहीं होती। मनुष्य को जब आगे बढ़ने की शक्ति नहीं मिलती तब वह वहीं बैठ जाता है। अधिकांश जीवन परिस्थितियों के आघात को सह नहीं सकते, विचलित होकर वे इधर-उधर हट जाते हैं।

परिस्थितियों की विषमता में जो दृढ़ता रखता वह जगत् के ध्यान को सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर सकता है। काव्य का उत्कर्ष इसी प्रकार के जीवन के वर्णन से होता है। सरल जीवन में सरल भावों का समवाय दिखाना काव्य का प्रधान उद्देश्य नहीं हो सकता। जिस काव्य में विपरीत भावों के वृत्ति-चक्र का वर्णन किया जाता है वही काव्य यथार्थ में सच्चा काव्य है। विपरीत भावों के वृत्ति-चक्र का तात्पर्य भावों के उन मूलों से है जो एक दूसरे से केवल भिन्न ही नहीं, बल्कि ठीक अनुलोम-प्रतिलोम की तरह होते हैं। क्रोध के साथ शांति, घृणा के साथ श्रद्धा, ईर्ष्या के साथ भक्ति दिखलाना ही काव्य के विपरीत वृत्ति-समूह का समवाय है। एक ही प्रकार के अनुकूल भाव-समूह आनन्द, उत्साह, अध्यवसाय आदि से जीवन में विविधता तथा शक्ति का प्रदर्शन नहीं हो पाता। मनुष्य के अंतर्जगत् में गर्व और नम्रता, पाप और पुण्य, कर्कशता और कोमलता, निष्ठुरता और करुणा का समावेश कर उनके मूल की स्वाभाविकता दिखलाने से जीवन के रहस्य का बहुत-कुछ उद्घाटन हो जाता है। जीवन के मूल रहस्य का ऐसा स्पष्टीकरण काव्य की मर्यादा बढ़ाने में समर्थ होता है। भावों के ऐसे अंतर्द्वंद्व से जीवन में शक्ति और सजीवता आती है। कभी-कभी एक ही स्थिति में, एक ही आश्रय में भावों का ऐसा विपरीत-मूलक अंतर्विरोध उठता है जो प्रत्यक्ष में अस्वाभाविक मालूम होता है, किंतु भावुक कवि इस अंतर्विरोध के मूल को आलंबन के अनुबंध-ज्ञान से ऐसा स्पष्ट कर देता है कि वह उतना ही सजीव और स्वाभाविक मालूम पड़ने लगता है। संकल्प के साथ कर्त्तव्य का युद्ध दिखलाना दार्शनिक कवि का

काम है। घृणा भाव के मूल के निकट ही प्रेम-तत्त्व को दिखलाना काव्य की विशिष्टता है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि जीवन में सर्वत्र ही विपरीत वृत्ति-समूह का समवाय ही दिखाया जाय। भावों के स्वाभाविक परिवर्त्तन और गति-क्रम को दिखाना कला का सच्चा उद्देश्य है, पर जीवन को कुछ दूर तक सरल रेखा की गति से चलाने का भी विशेष प्रयोजन है। जब तक जीवन सरल रेखा पर कुछ दूर तक भी गतिशील नहीं होता तब तक उसमें जगत् के व्यापारों के घात-प्रतिघात से प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं हो सकती। प्रतिक्रिया निवृत्ति नहीं है, क्योंकि यह हृदय की इच्छित वृत्ति नहीं। निवृत्ति में इच्छा का योग है, किंतु प्रतिक्रिया तो उसी स्थिति में उत्पन्न होती है जब हृदय को उस की न्यूनतम आशंका हो। शकुंतला के जीवन में पति-प्रेम की ऐकांतिक भावना से जो एक सरल गति आई थी वह दुष्यंत द्वारा अपमानित होने पर वक्र हो गई। जीवन की ऐसी ही स्थिति में मनुष्य के हृदय में भावों का समुद्र उमड़ता है, पर उसको संयत रख कर उसके सौंदर्य से जगत् को प्रभावित करना सच्चा कलाकार ही जानता है।

स्थिति की अनुरूपता तथा चारित्रिक विशेषता के उपलक्ष्य पर, जीवन में भावों का विन्यास दिखाना काव्य का उद्देश्य है।

लोक-सामान्य भाव-भूमि और जीवन की मर्यादा

जीवन की लोक-सामान्य भाव-भूमि पर काव्य के वर्णन में व्यक्तित्व की मर्यादा प्रायः नहीं रखी जाती। इसका कारण यह है कि हृदय में भावों के जो भिन्न-भिन्न वृत्ति-चक्र हैं वे सब समस्त मानव-सृष्टि में न्यूनाधिक रूप से एक ही प्रकार के

उपकरणों से निर्मित हैं। यदि दुख दुख है; सुख सुख है तो इनमें रंक और राजा का भेद मिट जाता है। किसी प्रियजन का वियोग यदि वस्तुतः संवेदनीय वियोग है तो संसार का समस्त वैभव भी हृदय की उस वेदना को दूर करने में समर्थ नहीं हो सकता। जहाँ जीवन के उच्चतर तत्वों का विश्लेषण किया जाता है वहाँ मानवता एक सामान्य रूप में सिमिट जाती है। उसकी सारी विविधताएँ मिट जाती हैं। रघुवंश की इंदुमति के देहांत पर अज का विलाप एक सामान्य पुरुष का विलाप है, किसी नृपति का नहीं। कुमारसंभव में मदन-दहन के उपरांत, रति का विलाप, एक सामान्य स्त्री का विलाप है। भावों की सत्ता में व्यक्तित्व की विशेषताएँ डूब जाती हैं। राजा-रंक अपने सुख-दुख से हँसते-रोते हैं। इन भावों में उनके प्रति केवल मात्रा का भेद रहता है। इस प्रकार के वर्णन में कवि का उद्देश्य मुख्यतः वर्णन द्वारा मूल भावनाओं का विन्यास ही दिखाना होता है। वैयक्तिक विशेषता एक उपलक्ष्य मात्र रहती है और वर्णन उसका प्रधान विषय हो जाता है। यही कारण है कि अज के शब्दों में कोई भी विधुर पुरुष, स्थिति की अनुरूपता पर, विलाप कर सकता है और कोई भी सद्यः वैधव्य-ग्रसित नारी रति के स्वर में रो सकती है। यदि भावों के ये विन्यास सामान्य जीवन को स्पर्श करते हुए नहीं चलते तो वे काव्य न होकर कुछ और ही होते।

जीवन में कर्मों की एकरूपता देखकर भावों की एकरसता का विचार किया जाता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक प्रकार के कर्म करते हुए भी, कर्त्ताओं में भावों की विभिन्नता रहती है, किंतु एक ही स्थिति में रहकर और एक ही प्रकार के

कर्म करने में प्रेरक भावों की एकरूपता निश्चित की जा सकती है। पश्चिमी मनोवैज्ञानिक भी मनुष्य की समान धारणाओं की सत्यता

भाव और कर्म का समन्वय

स्वीकृत करते हैं। जिस वस्तु से हमें घृणा है उस वस्तु से यदि एक दूसरा व्यक्ति भी घृणा करता है तो वह हमारे इस भाव के अनुकूल ही भाव रखता है। जो हमारे दुख में अनुकंपा प्रकट करता है वह निश्चय ही हमारी उस स्थिति को सत्य समझता है। जो हमारी ही तरह किसी काव्य या चित्र को प्रसंद करता है और ठीक हमारे ही शब्दों में उसकी प्रशंसा करता है तो वह वस्तुतः हमारे विचार को समुचित समझता है। जो एक व्यंग्य पर हमारे साथ, हमारी ही तरह, हँसता है वह हमारी हँसी की उपयुक्तता को अस्वीकृत नहीं कर सकता १।

अंतर्बाह्य प्रकृति और जीवन

बाह्य जगत् और अंतर्जगत् के तारतम्य में एक सौंदर्य है। यह सत्य है कि जो बाह्य है वह अंतः नहीं, किंतु दोनों एक दूसरे से प्रभावित होते रहते हैं। मनुष्य के बाह्य जगत् के सौंदर्य का उपभोग तो न्यूनाधिक मात्रा में प्रायः सभी कर सकते हैं, परंतु अंतर्प्रकृति के सौंदर्य का उपभोग करने की क्षमता कवि ही रखता है। जीवन में बाहर-बाहर जो सौंदर्य देखा जाता है वह भीतर के माधुर्य को पुष्ट करता है और भीतर के सौंदर्य से बाहर उद्दीप्त होता है। जो कवि रूप-सौंदर्य के साथ ही गुण-सौंदर्य का चित्रण कर सकता है वही सच्चा कवि है। काव्य की यह प्रणाली नाटक में अच्छी तरह

१. Adam Smith: Theory of the Moral Sentiments, Pt. I. See. I.

देखी जा सकती है। मनुष्य की अंतर्प्रकृति में भावों का स्वाभाविक व्यतिक्रम दिखाना बड़े महत्त्व की बात है। घृणा के बदले प्रेम और प्रतिहिंसा के बदले कृतज्ञता दिखाने से मानव-हृदय की सूक्ष्मता का पता चलता है। इसी परिवर्त्तन को दिखाना जीवन का स्पष्टीकरण है।

भाव और कर्म-विधान में पूर्व और पश्चिम का भेद

केवल तर्क और बुद्धि-वृत्ति के अनुसार मनुष्य एक भी काम नहीं करता। उसके प्रत्येक कर्म के मूल में किसी-न-किसी प्रकार का भाव छिपा मिलेगा। भाव स्वतः प्रत्यक्ष नहीं रहता, वह कर्म के रूप में ही अपने आश्रय में प्रत्यक्ष होता है। मनुष्य की कोई भी क्रिया तबतक कर्म नहीं मानी जा सकती जबतक उसमें उसकी इच्छा का योग न पाया जाय। जीवन में जबतक भाव से कर्म का विधान नहीं होता तबतक वह उपयोगी तो क्या, अपने अस्तित्व को भी प्रमाणित कर सकने में समर्थ नहीं हो सकता। रस-पद्धति का अनुभाव भी शारीरिक विकार होने के कारण, कर्म की श्रेणी में ही आता है। मनुष्य के प्रत्येक प्रेरक भाव के विश्लेषण से जीवन की सारी क्रियाओं का रहस्य प्रकट हो जाता है। कर्म पर धर्म का आवरण रखकर एक भिन्न प्रकार से ही इसकी समीक्षा की जा सकती है। पूर्व और पश्चिम के धर्म की धारणाएँ भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार धर्म की धारणाएँ भिन्न रहने से उनका प्रभाव काव्य पर भी पड़ता है। पूर्वीय विचार से कर्म के परिणाम की समीक्षा उसके प्रेरक भाव से होती है और पश्चिमी विचार के अनुसार उसका परिणाम ही मुख्य है। सद्भाव की प्रेरणा से किए हुए किसी कर्म का परिणाम

यदि अनिष्टकारक भी हुआ तो कर्त्ता दोषी नहीं माना जा सकता, किन्तु इसके विपरीत पश्चिमी मत से कुभाव-प्रेरित कर्म का परिणाम यदि संयोगवश हितकर प्रमाणित हुआ तो कर्त्ता पुण्य का अधिकारी हो सकता है। कुछ दार्शनिक इससे भिन्न विचार भी रखते हैं १।

इच्छा तथा कर्म का संबंध और जीवन की प्रकृति

धर्म की धारणाओं के इस अंतर ने जीवन की प्रकृति में थोड़ी विभिन्नता ला दी है। जहाँ शुद्ध मानवता की दृष्टि से जीवन का प्रश्न है वहाँ जगत् के काव्य में एकरूपता है, पर जहाँ देश की सभ्यता तथा संस्कृति से प्रेरित भावों के आवरण से जीवन आच्छादित हो गया है वहाँ यही समझना चाहिए कि उस सभ्यता तथा संस्कृति से पृथक् जीवन कुछ नहीं है। इस विषय में अब कुछ पश्चिमी लेखक भी अन्यथा विचार रखने लगे हैं। डा० जान्सन के चरित्र-लेखक बौसवेल ने उनके कथन को इस प्रकार अंकित किया है कि यदि किसी भिखारी के शिर को फोड़ने के विचार से हम उस पर पैसे फेंकें और वह उन पैसों को चुनकर अपना पेट पाले तो उसके लिए हमारा यह काम अच्छा ही हुआ, किन्तु हमारे इस कार्य के अभिप्राय को कोई अच्छा नहीं कह सकता। कर्म के केवल परिणाम पर ही अभिप्राय निर्भर नहीं करता। कर्म में जबतक बुद्धि-वृत्ति के अनुसार अनुव्यवसाय, प्रत्यभिमान,

(1) There is no real reason to doubt that the good or evil in the motive of an action is exactly measured by the good or evil in its consiquence. Green: Prolegomena to Ethics, P. 320.

प्रत्ययानुपश्यता आदि न हो तबतक उस कर्म का सारा श्रेय कर्त्ता को नहीं दिया जा सकता। आवेग, उद्वेग, क्षोभ आदि से जिन कर्मों की प्रेरणा होती हो और कर्म का विधान हो जाने पर चित्त की साधारण स्थिति में कर्त्ता यदि अपने पूर्व निश्चय में परिवर्त्तन करना न चाहे तो उस कर्म के साथ उसके जीवन का संबंध देखा जा सकता है। करुणा के आवेग में यदि किसी व्यक्ति ने एक भिखारी को, अपनी जेब में पैसा न पाकर, रुपया ही दे दिया और आवेग के शांत होने पर पैसे के बदले रुपया देने का उसे पश्चात्ताप हुआ तो वह सम्पूर्ण कर्म का अधिकारी नहीं माना जा सकता। इच्छा-पूर्वक कर्म का नियोजन ही जीवन है। भाव और विचार से जीवन की सत्ता पृथक् नहीं है। उच्च भाव तथा विचार से प्रेरित होकर कर्म करनेवाले अध्यवसायी व्यक्ति ही महापुरुष कहलाते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि जीवन की उच्चता या नीचता का विचार भावों की क्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कुछ लोग केवल भावों की सत्ता पर विश्वास न कर, जीवन की महत्ता का संबंध प्रतिभा के साथ भी लगा सकते हैं। जीवन की महत्ता में प्रतिभा के योग को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता, किंतु जीवन के निर्माण में प्रतिभा कोई आवश्यक प्रतिबंध नहीं। जिसके हृदय में भावों की सचाई है, उच्चता है वह प्रतिभा-सम्पन्न न होने पर भी अपने जीवन की एक मर्यादा रखता है। यदि किसी के हृदय में किसी की वस्तु चुरा लेने का भाव है तो राज-नियम की दृष्टि में वह अभी अपराधी नहीं हो सकता, परन्तु धर्म-नियम तो उसे वहीं पकड़ लेता है। यह भाव यदि उसके हृदय में जम गया है तो उसके जीवन

के अन्य सारे कर्म उसी से प्रेरित होंगे। सुविधा मिलने पर वह चोरी करना नहीं छोड़ सकता। न्यायशास्त्र का जिस कथन का उल्लेख मैंने किया है उसके अनुसार भी मनुष्य पहले जानता, तब इच्छा करता और उसके उपरांत प्रयत्नशील होता है। चोर भी लोभनीय पदार्थ को प्राप्त कर सुखी बनने का ज्ञान रखता है और तब सुख को प्राप्त करने की इच्छा से उस पदार्थ को चुराने का प्रयत्न करता है। इसके विपरीत उच्च कर्मों के विधान में भी इच्छा का कर्म के साथ ऐसा ही संबंध रहता है। जीवन को महत् बनानेवाला जो प्रयत्न-सौंदर्य संसार में देखा जाता है उसका मूल यही भाव है। इच्छा को छोड़ कर जीवन की सत्ता अन्यत्र नहीं है। इच्छा ही मनुष्य है १। जिसके हृदय में, जिस वस्तु के लिए, जिस ढंग की इच्छा होती है वह वैसा ही होता है २। इच्छा जाग्रत होने पर चित्त में जो स्पंदन होता होता है, वही जीव है। अतः चित्त ही जीव है, ऐसा भी कहा जा सकता है। चित्त का स्पंदन जिस प्रकृति का होता है उसी प्रकृति का वह जीवन बनता है। इस मत से पूर्व और पश्चिम, दोनों के दार्शनिक विचारक प्रायः एकमत हैं ३।

काव्य में जिन घटनाओं के उल्लेख से मानसिक विप्लव उपस्थित होने की आशंका रहती है उनकी वांछनीयता या अवांछनीयता

१. काममय एवायं पुरुषः, बृहदारण्यक, ४, ४, ५,

२. Lay: The child's unconscious mind, P. 15.

३. जीवश्चित्त परिस्पंदः पुंसां चित्तं स एव च—योगवाशिष्ठ ३-१४।
Every thing is in sensation—Hegel: Philosophy of Mind P. 21, (English Translation by Wallace)

पर ध्यान रख कर ही काव्यकार उनका उल्लेख करता है। जो काव्यकार पाठक के हृदय में विप्लव को जगा कर उससे अपना कामभर चला लेने के बाद उसे शांत रखने की क्षमता रखता है वही सच्चा कलाकार है।

भाव, मानसिक शक्ति और जीवन

बहुत से भाव ऐसे होते हैं जो एक बार जग जाने पर बहुत देर तक संयत नहीं हो पाते। जो व्यक्ति निर्बल मानसिक शक्तिवाले होते हैं वे कभी-कभी भावों का रूप मानसिक न रखकर शारीरिक क्रिया द्वारा अभिव्यंजित करते हैं। किसी बच्चे के मुख से किसी घटना का वर्णन सुनने से इसकी सत्यता प्रगट हो जाती है। उसके वर्णन में शब्दों से अधिक अंगों की क्रिया रहती है। किसी शब्द के रूप पर मन-ही-मन विचार करते समय भी हमारी जिह्वा, मूर्धा, तालु आदि उच्चारण में योग देने वाले अंग तदनुकूल स्पंदित हो जाते हैं [१]। जिस ढंग के जो भाव हैं वे मन में स्थान पाते ही मनुष्य को अपने अनुरूप क्रिया-तत्पर करने के लिए वाध्य करने लगते हैं। हँसी की बात सुनकर लोग हँसना रोक नहीं सकते। शोक की बातें सुनकर दुखी बनना छोड़ नहीं सकते। जिस प्रकृति का जो भाव होता है वह तत्काल ही अपने प्रभाव को व्यंजित करता है। हँसने लायक बातों को सुनकर मनुष्य तत्काल ही हँसता है। दो-चार घंटे के बाद हँसने के लिए अपने को संयत नहीं रख सकता। यह दूसरी बात है कि उसी बात की याद कर बार-बार हँसी आवे, किंतु पहली बार उस बात का प्रभाव पड़ता ही है। इसी प्रकार किसी-न-किसी प्रकार का भाव अपनी सत्ता को प्रकट किए

1—Dr. Bain: The Senses and the Intellect. P. 457.

बिना नहीं रह सकता। बहुत से धूर्त-चालबाज आदमी ऐसे होते हैं जो अपने मन के भावों को छिपाने में कुछ सफल भी हो जाते हैं, पर उन्हें इसके लिए बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है। ऐसे प्रयत्न के फल-स्वरूप प्रभाव की बाह्य अभिव्यक्ति तो दबी-सी रहती है, किंतु अंतर्जगत में उसके संस्कार को कोई नष्ट नहीं कर सकता। यह उसी दशा में संभव है जब उस व्यक्ति के हृदय की वृत्तियाँ कुंठित हो गई हों। गंभीर व्यक्ति में यह देखा जाता है कि छोटे-छोटे भाव उनकी मानसिक स्थिति को बदलने में समर्थ नहीं होते, यह इसलिये कि उनकी गंभीरता उन छोटे-छोटे भावों से कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी और व्यापक होती है।

भावों का वर्गीकरण, उनकी प्रक्रिया और जीवन पर प्रभाव

भावों की सूक्ष्मता पर विचार कर उनके दो मुख्य वर्गीकरण किए जा सकते हैं—एक शक्त और दूसरा अशक्त। क्रोध, उत्साह, साहस आदि शक्त भाव हैं और करुणा, दया, क्षमा, सहानुभूति आदि अशक्त। सहृदय मनुष्य में भावों की सभी वृत्तियां रहती हैं। सहृदयता का अर्थ केवल सहानुभूति-पूर्ण हृदय नहीं, बल्कि हृदय की जितनी वृत्तियाँ हैं सब की स्थिति है। क्रोध के अवसर पर क्रोध करना, करुणा के अवसर पर सहानुभूति दिखाना सच्ची सहृदयता है। उच्च और शक्तिशाली जीवन का निर्माण केवल शक्त भावों से ही नहीं होता, यथार्थ में जीवन की सार्थकता के लिए अशक्त भावों का अवलंबन भी आवश्यक है। वास्तविक जीवन में मनुष्य के सुख की प्रवृत्ति और दुख की निवृत्ति रहती है। बड़े-बड़े दयावीर भी दूसरे के अगाध दुःख को देखकर अपना मुख इसलिए फेर लेते हैं कि उस दुःख को दूर करना

उनकी शक्ति के बाहर की बात है। इस प्रकार मुख फेरने में दुःखी के दुःख को दूर करने की अनिच्छा नहीं झलकती प्रत्युत् निराशा झलकती है। दुःख की अपरिसीमता को देखकर तदनुरूप अपनी असमर्थता जान कर उनके हृदय में जो दुःख होता है वह उन्हें उस दृश्य के सम्मुख से हट जाने को वाध्य करता है। यह भी दुःख की निवृत्ति है। इसी प्रकार परोपकार करना भी अपने दुःख को दूर करना ही है। परोपकार की वृत्ति में अपने दुःख को दूर करने की भावना दिखलाना अयुक्तिसंगत मालूम पड़ता है। किंतु यह सत्य है कि दूसरे के दुःख को देखकर जब मनुष्य के हृदय में चोट पहुँचती है तब अपनी उस चोट के दुःख को ही दूर करने के लिए वह उसका उपकार करता है। यदि दूसरे के दुःख को देखकर मनुष्य के हृदय में किसी प्रकार का दुःखानुभव न हो तो वह परोपकार में प्रवृत्त हो ही नहीं सकता। अतः यह निश्चित है कि अपने हृदय के दुःख को दूर करने के लिए ही मनुष्य परोपकार, दया, कृपा, क्षमा करता है। जगत् के सारे व्यापारों के लिए हृदय की संवेदना ही प्रधान है। इसके बिना कोई काम नहीं हो सकता। जब कभी मनुष्य किसी बात में दूसरे की धारणा के अनुसार अपने को अशक्त समझ कर दुःखी होता है तब अपनी इस अशक्तता को बड़े जोर के साथ पूरा करने की चेष्टा करता है। संसार में ऐसे बहुत लोग देखे जाते हैं जो अपनी स्थिति के अनुसार काम न कर दूसरे की धारणा को भ्रम प्रमाणित करने के लिए कभी-कभी दुस्साहस के साथ काम कर बैठते हैं १।

1. The aggressive acts of (the physical or intellectual) bully are really an overcompensation for his unconscious feeling of inferiority. Lay: The Child's Unconscious Mind p. 157.

यह भाव वस्तुतः दूसरों की दृष्टि में अपने को कम समझना ही है। अपने को कम समझने तथा उच्च समझने की भ्रमपूर्ण भावनाओं से मनुष्य के जीवन की दिशाएँ प्रायः बदल जाया करती हैं। मनुष्य के हृदय में अपने संबंध में जो संवेदना उठती है उसी के अनुसार उसके जीवन का निर्माण होने लगता है। मानव हृदय भावों का संतुलन रखने की चेष्टा करता है। जहाँ बंधन है गति का अवरोध है वहाँ भावों की क्रिया उसे तोड़ने का प्रयत्न करती है। अपनी कृतकृत्यता पर मनुष्य को गर्व होता है। वस्तुतः यह गर्व अपनी कृतकृत्यता से उऋण होने के लिए होता है। अपने दुःख के सजीव कारण पर मनुष्य क्रोध करता है। यह क्रोध दुःख को दूर कर हृदय को समान स्थिति में रखने के प्रयत्न-स्वरूप होता है। अपनी प्रशंसा सुनकर मनुष्य को प्रसन्नता होती है। यह प्रसन्नता अपनी आनंदमयी स्थिति की कल्पना से होती है जिसके आधार पर प्रशंसा के वे शब्द व्यक्त हुए हैं। मनुष्य जैसा है, जिस स्थिति में है, वैसा कहना प्रसन्नता को उत्तेजित नहीं करता। जितना वह है उतने से अधिक पर ही उसकी प्रसन्नता निर्भर करती है। अतः जो वह नहीं है वही बनने या समझे जाने की भावना से वह प्रसन्न होता है। इसी प्रकार प्रसन्नता पाने की चाट पाकर वह खुशामद-पसंद और उसे न पाकर वह आत्म-प्रशंसी बन जाता है। कल्पना के आनंद से तृप्ति न मिलने पर वह अपने मुख से ही अपनी प्रशंसा के लिए बाध्य होता है। इस प्रकार की बाध्यता प्रसन्नता की चाट पाकर ही होती है। यही अहंकार की पहली सीढ़ी है। जो मनुष्य आत्मश्लाघी होता है उसकी तर्क-बुद्धि मारी जाती है। अपने ऊपर कहे गए

व्यंगों को समझने की शक्ति उसे नहीं रहती। जीवन की दिशा को बदलने में भाव बड़ा महत्त्व रखता है। कर्म के अभाव में जीवन का कुछ भाव नहीं माना जा सकता।

भाव की प्रकृति और जीवन में उसका परिणाम

भाव की साधारण स्थिति तथा उसके आवेग में स्पष्ट अंतर है। भाव को बार-बार उत्तेजित कर यदि उसके अनुसार कार्य न कर चित्त को शांत कर दिया जाय तो कुछ दिनों के बाद वह निष्क्रिय हो जाता है। भाव की प्रेरणा का अनुसारी-कार्य नहीं करने से हृदय अपमानित होकर उस वृत्ति को ही छोड़ देता है। दुःखी के दुःख को देख कर हृदय में करुणा उत्पन्न होती है और उस करुणा की प्रेरणा के अनुसार दुःखी की सहायता कर हृदय को संतुष्ट न किया जाय तो एक दिन ऐसा समय भी आयगा जब किसी के दुःख को देख कर हृदय में करुणा उत्पन्न ही न होगी। उस भाव के लिए हृदय जड़ हो जायगा। जिस दृश्य को देखकर भावावेग उत्पन्न होता है, सदा उसके अनुसार कार्य करने से मनुष्य की प्रकृति में वह एक स्थान प्राप्त कर लेता है। रास्ते चलते हुए पगले को देख कर स्वभावतः लड़के उसे तंग किया करते हैं। इससे पागल कुढ़ता है, झुंझलाता है और क्रुद्ध होता है। बार-बार ऐसा किए जाने पर जब कभी वह अपने आसपास लड़कों के झुंड को देखता है तब वह क्रोध के भावावेग में आ जाता है। मानव-प्रकृति की यह विशेषता है कि वह भाव-स्थिति या उसके आवेग के कारण ही किसी कार्य की ओर प्रेरित नहीं होती बल्कि अचेतन रूप में भी स्वभावगत कार्य की ओर प्रेरित हो जाती है। उपनिषदों में मनुष्य के भीतर पाँच कोषों की अवस्थिति बताई

गई है, वे हैं—अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष तथा आनंदमय कोष। इन कोषों में आनंदमय कोष चारों पुरुषार्थों से अलग रखा गया है। संसार में जितनी वस्तुएँ हैं उनसे मूर्ख और विद्वान् दोनों ही अपने-अपने ढंग से आनन्द और विषाद ग्रहण करते हैं। उन्हें यह बताने की आवश्यकता नहीं कि आनंद और विषाद के कौन-कौन से तत्त्व हैं। व्यावसायिक उपयोगितावाद के इस युग में विषादोत्पादक वस्तुओं से भी कुछ-न-कुछ आनंद का रस निचोड़ा जा सकता है, किंतु नैतिक उपयोगितावाद इन वस्तुओं से विशेष प्रयोजन नहीं रखता। यह इसलिये नहीं कि विषाद अनैतिक होता है। जीवन के साथ विषाद का संबंध उतना ही गहरा है जितना आनन्द का। काव्य का आनंद जीवन का स्वार्थ है, परंतु यह स्वार्थ परमार्थ की परिधि के भीतर रहता आया है। स्थायी आनंद-वृत्ति जब जगत् और जीवन के किसी आधार को पाकर जाग्रत होती है तब प्रफुल्लता होती है और विषाद-वृत्ति में झुंझलाहट। ऐसे मनोभाव अपनी मूल-वृत्तियों की स्थिति को सूचित करते हैं। मनुष्य जब जिस स्थिति में रहता है तब वह साधारणतः स्थिति की गंभीरता के कारण उसी में निमग्न रहता है। इस निमग्नता को तोड़ कर जब कभी कोई व्यक्ति उसे उस स्थिति से हटाना चाहता है तब वह फिर-फिर उसी भाव में डूबे रहने की चेष्टा करता है। यह स्थिति तब तक बनी रहती है जब तक उस स्थिति में बने रहने की सारी शक्ति निःशेष नहीं हो जाती है।

दूसरा अध्याय

जीवन का वातावरण और काव्य-प्रकृति

हमारे जीवन के चारों ओर अलक्ष्य रूप से संस्कार का एक ऐसा वातावरण फैला रहता है जिसका प्रभाव हमारे कल्पनाशील मन पर बराबर पड़ता है। यह एक प्रकार की आध्यात्मिक शक्ति है जिसे हम देख तो नहीं सकते, किंतु उसके प्रभाव से बचने की क्षमता भी नहीं रखते। जब हम कभी निरपेक्ष होकर चुपचाप बैठे रहते तब हमारे मन में कितने ही प्रकार के मनोविकार उठते और विलीन होते हैं। कभी अच्छे संस्कारों का उद्भव होता है और कभी बुरे। संस्कारों का यह अस्तिव जगत् के अणु-परमाणु में है और जिसके मन में जैसे संस्कारों को ग्रहण करने की जैसी शक्ति रहती है वह वैसे ही संस्कारों को उसी तरह अपनाता है।

जीवन और संस्कार

बाह्य जगत् में ऐसे संस्कारों की सत्ता मानकर भी यह कहा जा सकता है कि जीवन के साथ उसका कोई प्रकट संबंध नहीं। इसी कारण ऐसे संस्कारों का संबंध आध्यात्मिक ही माना जाता है। किसी ऋषि के शांत तपोवन में, जहाँ सिंह के सामने मृग-शावक किलोलें करते हैं, मत्त मयूर के सामने फणिधर फण फैलाते हैं वहाँ, उस ऋषि के अहिंसक संस्कार का ही वातावरण है। जहाँ का वातावरण दूषित रहता है वहाँ का कुप्रभाव भी निर्बल धारणा-शक्ति वाले व्यक्ति के चित्त पर पड़े बिना नहीं रहता। किसी के व्यक्तित्व की महत्ता को स्वीकृत कर नत-मस्तक होना आध्यात्मिक संस्कार का ही प्रभाव है। जीवन में संस्कारों की जो आध्यात्मिक सत्ता दिखाई देती है वह जीवन के आवरण में रहकर काव्य में भी आती है। संस्कारों के योग से, जीवन की तरह, काव्य की प्रकृति में भी थोड़ा-बहुत तदनुकूल परिवर्त्तन होता है।

सामाजिक जीवन और मनोविकार

आरंभ से ही हमारा जीवन सामाजिक अनुकरण के आधार पर अपनी लौकिक पूर्णता को प्राप्त करने का उद्योग करता है। यह बात केवल जीवन की स्थूल क्रियाओं को ही ध्यान में रखकर नहीं कही जाती, प्रत्युत् जहाँ सूक्ष्म मनोविकारों का विकास होता है वहाँ भी हम देखते हैं कि उन मनोविकारों ने अपने विकास के लिए समाज के ही किसी-न-किसी अंग का आश्रय लिया है। क्षमा, क्रोध, उत्साह, सहानुभूति आदि मनोविकार नैसर्गिक अवश्य हैं, किन्तु इन सब की सत्ता समाज में ही प्रकट की जा सकती और समाज से ही उसका पोषण हो सकता है। ईर्ष्या-जैसे दूषित मनोविकार

का जन्म समाज की धारणा पर ही अवलंबित है। स्पर्द्धा तो वस्तुगत होती है और ईर्ष्या व्यक्तिगत। समाज की दृष्टि जब दो समान व्यक्तियों पर एक साथ पड़ती और दोनों के विकास में विषमता पाई जाती है तब क्षुद्र व्यक्ति के हृदय में समाज की इस धारणा के फल-स्वरूप दूसरे व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या उत्पन्न होती है। वस्तुतः इस ईर्ष्या से उस व्यक्ति का कोई लाभ नहीं होता। वह समाज में अपने अभीष्ट पद का अधिकारी नहीं होता तब भी ईर्ष्या में जलकर ही वह अपने हृदय को संतुष्ट कर लेता है। सदाचार से सुख प्राप्त हो सकता है, पर सदैव नहीं। यदि सदाचार से सुख प्राप्त होने का नियम अटल रहता तो संसार में दुराचारी खोजने से भी नहीं मिलते, क्योंकि दुःख कोई नहीं चाहता। असत्यवादी असत्य बोलकर भी समाज में कम-से-कम अपने को सत्यवादी बनने का ही ढोंग रचता है। प्रत्येक असत्य का विधान सत्य के अनुकरण पर ही होता है। इसी प्रकार लोभी अपने को निर्लोभ तथा चोर अपने को ईमानदार प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं। यह सदाचार की विशेषता ही है कि मनुष्य उसका अधिकारी न होने पर भी अपने को वैसा ही दिखलाने का प्रयत्न करता है। यथार्थ में जो व्यक्ति गुणवान रहते हैं वे दूसरों के दोष पर आक्रमण करने की प्रवृत्ति नहीं रखते। यह इसलिए कि उनकी वृत्तियों के लिए उनके पास साधन है जिसमें वे लीन हो सकें। जिस व्यक्ति के पास कोई गुण नहीं रहता वह ईर्ष्या के वशीभूत होकर दूसरे के गुण पर आक्रमण करता है। इस प्रकार की भावना में अपने जीवन के विकास की धारणा नहीं रहती। समाज में अपनी स्थिति को

दूसरों से कम देखकर मन में जलन उत्पन्न होती है। एक दूसरे दृष्टिकोण से भी इस विषय का स्पष्टीकरण हो सकता है। मनुष्य की वृत्तियों का संतोष, गुण को प्राप्तकर या वहाँ तक पहुँचकर ही होता है। चाहे वह उसे अपने पास मिले या दूसरे के पास। गुणहीन व्यक्ति भी दूसरे के गुण की विशेषता के सामने नत-मस्तक होता है। इससे यह प्रमाणित है कि मनुष्य की सत्प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक हैं। गुणहीन व्यक्ति को जब यह पता लगता है कि गुणी की उच्चता ने समाज की धारणा में उसका स्थान हेय बना दिया है तब उसकी बुद्धि की निर्बलता कुप्रवृत्तियों को जन्म देने लगती है। अपने घर में भोजन के अभाव से भूखे रहने पर, दूसरों को भी भूखा रखने की चेष्टा करना ईर्ष्या का लक्ष्य होता है। जहाँ गुण है वहाँ ईर्ष्या टिक नहीं सकती। जो व्यक्ति जिस गुण का अधिकारी है उसमें उस गुण की शोभा होती है और समाज के किसी भी व्यक्ति को इससे असंतोष नहीं होता। ऋण के परिशोध में किसी महाजन को दिए गए रुपये के प्रति किसी के मन में वैसा अन्यथा भाव उत्पन्न नहीं हो सकता जैसा कि उसी रुपए को हम किसी अन्य व्यक्ति को बिना किसी विशेषता के यों ही मुफ्त में दे दें। गुण हो या अवगुण, समाज के वातावरण से अलग रहकर कोई भी मनुष्य उसके विकास की बात कौन कहे, उसकी सत्ता को भी प्रमाणित नहीं कर सकता। आध्यात्मिक संस्कारों के योग से जीवन में जो एक सजीवता लक्षित होती है वह जीवन के बीच में ही रहकर संभव है, अन्यत्र नहीं।

काव्य में किसी पात्र के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से केवल उसी पात्र की सत्ता पर्याप्त नहीं समझी जा सकती। उस पात्र के जीवन की विशेषता दिखाने केलिए एक छोटे मोटे समाज का आधार लेना पड़ता है। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र का चरित्र-चित्रण रामायण का परम उद्देश्य है, किंतु क्या वह सीता, लक्ष्मण, कैकेयी, भरत, शबरी, हनूमान, सुग्रीव, रावण आदि के विना पूर्ण कहा जा सकता है! शकुंतला के आरंभिक जीवन का चित्र उपस्थित करने केलिए कालिदास ने गौतमी, प्रियंवदा तथा अनुसूया का अस्तित्व आवश्यक समझा। जीवन का चित्रण जीवन के संसर्ग में ही हो सकता है। जहाँ जीवन को व्यक्त करने केलिए जीवन का आधार नहीं मिलता वहाँ भी हम अतीत जीवन के संस्मरणों के सहारे आगे बढ़ने का प्रयत्न करते हैं। मेघदूत के विरही यक्ष का जीवन इस प्रकार का एक अच्छा उदाहरण हो सकता है। अलकापुरी में रहकर उसने जिस प्रकार का विलासपूर्ण जीवन व्यतीत किया था उसके संस्मरण ने इस निर्वासन में उसके जीवन में एक नई स्फूर्त्ति का मार्ग बना दिया, यह सत्य मानना पड़ेगा। इसकी कल्पना में विरहिणी यक्षिणी का म्लान मुख सदा विराजमान रहा। आषाढ़ के प्रथम मेघ को देखकर पिछले संस्कारों के वशीभूत हो उसने निर्जीव मेघ को भी जीवंत-सा मान लिया। रामगिरि के जन-शून्य वातावरण में विरही यक्ष ने एक ऐसे अवलंब को चुन लिया जिसके उपलक्ष्य से उसके सारे मनोविकार अभिव्यक्त हो सके।

जीवन के विकास के लिए जीवन का आधार

मनुष्य का जीवन सदा अपूर्ण रहता आया है, किंतु वह पूर्णता पर पहुँचने की चेष्टा भी बराबर करता रहा है। जीवन का प्रत्येक क्षण अपनी पूर्णता को प्राप्त करने में ही व्यतीत होता है। यह सत्य है कि यदि हम अपने जीवन के विकास-क्रम के मूल का पता लगावें तो हमें मालूम होगा कि अपने जीवन में हमें जो कुछ विशेषता दिखलाई पड़ रही है वह समाज की देन है १। जीवन में मृत्यु को पाकर ही विकास का क्रम रुकता है, अन्यथा वह किसी-न-किसी रूप से विकास के पथ पर चलने की चेष्टा करता ही रहता है। जब जीवन का भविष्य अंधकार-पूर्ण मालूम पड़ने लगता तब जीवन अपने आलोकमय अतीत की याद कर ही अपनी सत्ता को जीवित तथा सुरक्षित रखता है। मनुष्य-जीवन जिस काल में रहेगा, जिस स्थिति में रहेगा वह अपनी सत्ता जीवंत रखने की चेष्टा करेगा। जीवन में स्थिरता नहीं रहती। जब कभी आगे का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है तब भी वह निश्चेष्ट होकर चुपचाप बैठ नहीं रहता। आँखें आगे रखकर वह पीछे चलने लगता है, क्योंकि जबतक जीवन में कोई गति नहीं रहेगी तबतक उसकी यह संज्ञा भी नहीं मानी जा सकती।

समाज और जीवन

जीवन में हमें अपनी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने पर हर्ष और पराजय पर विषाद होता है। विजय-पराजय जीवन में हर्ष-विषाद का एक सामान्य विषय रहता आया है। कभी-कभी ऐसा होता है कि अपनी पिछली विजय का स्मरण जीवन की

१. Prof. Baldwin: Social and Ethical Interpretation in Mental Development, P. II.

वर्त्तमान स्थिति को सुखद बनाता है। पराजय के संबंध में भी हमारी मानसिक चेतना एक दूसरे ही रूप में जाग्रत होती है। अपने बहुत पिछले काल के पराजय की भी, जिसका अनुसारी परिणाम हमारे वर्त्तमान पर कोई आघात नहीं कर रहा है, याद कर हम विषण्ण नहीं होते, एक प्रकार से निरपेक्ष रह जाते हैं। इस निरपेक्षता का कारण, पराजय के बाद उतने काल पर हमारे जीवन की सत्ता की विजय है। अपने किसी प्रिय का उत्कट शोक भी कुछ दिनों के बाद अपनी गुरुता को छोड़ देता है। काल पर विजय प्राप्त कर ही हृदय अपने भावों की प्रचंडता को शांत रखने में समर्थ होता है।

हर्ष तथा विषाद पर काल का प्रभाव

पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों के आधार पर कुछ लोग काव्य को जीवन की व्याख्या मानते आए हैं। वस्तुतः काव्य जीवन की व्याख्या हो या अनुवाद, हमें यहाँ इससे कुछ विशेष तात्पर्य नहीं। काव्य में जो जीवन चित्रित किया जाता है वह किस रूप में, इसी पर यहाँ विचार करना है। प्राकृत जीवन की सत्ता काव्य में एक प्रभाव के रूप में प्रकट होती है। जगत् में जो जीवन है काव्य में भी वही जीवन नहीं रहता, वल्कि उसका प्रभाव-मात्र रहता है। जिस जीवन में प्रभाव की जितनी क्षमता रहती है काव्य में उसे वैसा ही स्थान प्राप्त होता है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति का 'फोटो' उसके आलोक और छाया के अतिरिक्त और कुछ नहीं, उसी प्रकार काव्य का जीवन भी उसकी सत्ता के प्रभाव के सिवा और कुछ नहीं। यदि काव्य में हम जीवन की सत्ता को प्रभाव

काव्य में प्रभाव के रूप में जीवन

के रूप में व्यक्त करने की बात न मानें तो व्यक्ति के अंग-प्रत्यंग शिख-नख-वर्णन से ही काव्य में जीवन का विधान मान लेना पड़ेगा। वह व्यक्ति लंबा था, उसकी आँखें बड़ी-बड़ी, नाक पतली और ऊँची उठी हुई, मूँछें घनी और तीर की तरह नुकीली आदि कहने से उसके मुख या शरीर के स्वरूप का ही बोध होता है, किंतु उसके व्यक्तित्व या जीवन केलिए इतना या इसी प्रकार बहुत कहने पर भी काव्य का तात्पर्य सिद्ध नहीं होता। शारीरिक वर्णन के साथ-साथ या बाद जब हम यह कहने को बाध्य होते हैं कि वह व्यक्ति बहुत सुंदर या खराब है, उदार या कृपण है, सदाचारी या दुराचारी है तब हमारे चित्त पर उसकी सत्ता का प्रभाव ही समझना चाहिए। कवि या लेखक के हृदय में किसी व्यक्ति का शरीर प्रविष्ट नहीं हो सकता और जबतक हृदय के साथ उसका संबंध न हो तबतक काव्य में उसका विधान संभव नहीं। यही कारण है कि किसी के आत्मभाव की सत्ता के प्रभाव को ही कलाकार अपने हृदय में लेता है और अपनी आध्यात्मिक शक्ति का योग देकर काव्य में उसका मार्मिक विधान करता है।

काव्य में प्रभाव के रूप में जीवन के विधान की बात ऊपर कही जा चुकी है। अब इस पर एक भिन्न दृष्टिकोण से विचार करना है। जीवन की किसी घटना से वास्तविक हो वा काल्पनिक, यदि हमें किसी को प्रभावित करना होता है तो प्रमाण से पुष्टकर उसका वर्णन करना पड़ता है। कोई सदाचारी या दुराचारी है, इतना कह देने से ही किसी के चित्त पर अभीष्ट प्रभाव

प्रभाव और उसका विश्लेषणात्मक कारण

नहीं पड़ सकता। काव्य का अभिप्राय तो इससे तनिक भी सिद्ध नहीं होता। जीवन में प्रभाव की जो मूल क्रियाएँ हैं उन सबके विश्लेषण से ही काव्य में उसका वास्तविक विधान होता है। कोई सदाचारी है तो किन सुकर्मों से, कोई दुराचारी है तो किन पापों से ? कलाकार ने किसी के व्यक्तित्व के संबंध में जो धारणा बना रखी है उसका प्रमाण पाठक और श्रोता को देना पड़ेगा, उसके औचित्य को सिद्ध करना होगा। पाठक को भी अपना भाव है, अपना विवेक-विचार है, अपनी धारणा-शक्ति है। दूसरे द्वारा संचित प्रभाव से ही उसके जीवन के सारे काम नहीं चल सकते। काव्य में कर्मों के उल्लिखित होने का प्रयोजन उसके उस वातावरण से है जिसके बीच में रह कर वह पला है। जीवन के बीच में रखकर जीवन को देखने से उसका कोई अंग छूटने नहीं पाता। ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, बाहर-भीतर, अगल-बगल सब दृष्टिगत हो जाते हैं १। किसी तालाब में खिले हुए कमल के सौंदर्य को बताने केलिए केवल सुंदर कह देने से ही काम नहीं चलता, वरन् उस कमल के आस-पास, उसके पत्तों, भौंरों, शैवाल-जाल, जलकी हल्की लहरों आदि का बिंब-ग्रहण कराना आवश्यक हो जाता है। अपने वातावरण के बीच में रहकर ही मनुष्य के जीवन की यथार्थ स्थिति का पता चलता है। मानव-समाज ही जीवन का वातावरण है। जीवन के तत्वों के विकास में समाज का बड़ा भारी ऋण है। मनुष्य केवल अपने विषय में ही नहीं सोचता, वह दूसरों केलिए भी

१ Prof. Baldwin: Social and Ethical Interpretations in Mental Development. P. II.

सोचता है, वह दूसरों के भावों से ही लाभ उठाता है। दूसरों ने जो देखा है, जो सुना है, जो अनुभव किया है उन सब के आधार पर जीवन का विकास होता है। यदि ऐसी बात नहीं रहती तो प्रत्येक मनुष्य को आदिम युग से ही अपने जीवन का आरंभ करना पड़ता और अबतक बुद्धि, विज्ञान, कला के योग से जिस सभ्यता का विकास हुआ है उससे वह कोई लाभ नहीं उठा सकता। परंतु ऐसी बात नहीं है। समाज सभ्यता की जिस स्थिति पर पहुँच गया है उसके बाद से ही हम आगे बढ़ने की चेष्टा करते हैं। यही कारण है कि काव्य में जीवन पर समुचित प्रकाश डालने केलिए समस्त सामाजिक वातावरण का चित्रण आवश्यक हो जाता है जिसके साथ उसका संबंध रहा है।

कल्पना, बुद्धि और सौंदर्य की काव्यगत योजना

मनुष्य की कल्पना-शक्ति बड़ी अद्भुत है। वह सृष्टि के परम सौंदर्य में भी कल्पना का योग देकर उसे महत्तर बना डालने की चेष्टा करती है। कल्पना से अधिक सुंदर प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। लेकिन यह बात भी सत्य है कि कल्पना को परिपुष्ट करने की बात बहुत से बुद्धिवादी समीक्षक नहीं मानते। वे बुद्धि के सामने किसी अन्य वस्तु को विशेषता देने की उदारता भी नहीं रखते। प्रत्यक्ष जीवन का सौंदर्य काव्य में परोक्ष सौंदर्य के रूप में प्रविष्ट होता है। अतः जबतक परोक्ष को कल्पना की विशेषता न प्राप्त होगी तबतक वह प्रत्यक्ष के सामने टिक नहीं सकता। काव्य-समीक्षा में बुद्धिवाद की विजय सर्वत्र नहीं होती। प्रतिभा से जब उसकी मुठभेड़ होती है तब बुद्धि को अपने पराजय पर ग्लानि भी नहीं होती। जीवन की जो क्रियाएँ श्रेय

हैं उन पर बुद्धि का आधिपत्य स्वाभाविक है। केवल बुद्धिहीनता के कारण जीवन की जो क्रियाएँ जटिल तथा अज्ञेय मालूम पड़ती हैं वे यथार्थ में वैसी नहीं होतीं। प्रतिभा के अतिरिक्त समीक्षक के पास ऐसा कोई साधन नहीं जिसके द्वारा वह जीवन की क्रियाओं की जटिलता तथा अज्ञेयता को जानने में समर्थ हो सके। बुद्धि की सीमा को पार कर प्रतिभा का उदय होता है। जीवन के समस्त सौंदर्य को काव्य में प्रविष्ट नहीं कराया जा सकता। जहाँ सौंदर्य की अपूर्णता है वहाँ काव्य में पूर्णता का आवरण देकर पाठकों को भुलाने की चेष्टा की जाती है, किंतु जहाँ सौंदर्य पूर्ण है वहाँ वह अपनी सारी पूर्णता को लेकर काव्य में अँट भी नहीं सकता। सारांश यह है कि प्रत्यक्ष जीवन के सौंदर्य का जो मान-दंड है उससे काव्य का काम सदा नहीं चलता। सारग्राहिता के विचार से थोड़ी देर केलिए कलाकार को भी समीक्षक बनना पड़ता है। कभी-कभी ऐसी स्थिति होती है कि जहाँ सौंदर्य की पूर्णता है वहाँ भी काव्य में अपूर्ण सौंदर्य ही लिया जाता है और जहाँ अपूर्ण सौंदर्य है वहाँ कुछ जोड़ दिया जाता है। अतः यह कहना कुछ निश्चित नहीं है कि जीवन के किस अंग को, किस रूप में काव्य में लिया जाना चाहिए। इस बात का सब से सच्चा निर्णेता कलाकार ही होता है। समीक्षक तो उसके बाद अपना निर्णय देता है। जीवन के सौंदर्य को काव्य में प्रविष्ट कराने केलिए बड़ी सतर्कता की आवश्यकता है। बहुधा ऐसा देखा गया है कि अकुशल कलाकार के हाथों सौंदर्य की मर्यादा मारी जाती है। फूल की पंखुड़ियों पर ढुलमुल ओसकणों की जो शोभा होती है वह

मोतियों से कम सुंदर नहीं, किंतु अनाड़ी कलाकार के स्पर्श करते ही वह सारी शोभा पानी के रूप में हथेली पर जा गिरती है।

जीवन में भाव-विधान और काव्य-प्रकृति

काव्य की प्रकृति की परीक्षा केलिए यह जानना आवश्यक है कि काव्य में जिन भावों का वर्णन रहता है वे काव्य में आने के पहले, कुछ देर केलिए ही सही, कवि के हृदय के भाव रहते हैं। काव्य में भिन्न-भिन्न पात्रों की भिन्न प्रकृतियों की सूक्ष्मता दिखलाने केलिए जिन तत्त्वों का विधान होता है वे कवि की प्रकृति के साथ किसी-न-किसी प्रकार का संबंध अवश्य रखते हैं। बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं जिन्हें मनुष्य चरितार्थ तो नहीं कर सकता, परंतु सोच सकता है। इस तरह बहुत-सी बातें ऐसी भी होती हैं जिन्हें मनुष्य परिस्थितिवश कर तो लेता है, किंतु इसके पहले उसके हृदय में कर्म की प्रेरणा के रूप में उन भावों का स्पष्ट उदय नहीं हुआ रहता। रास्ता चलते हुए अचानक साँप को आगे देख हम उछल तो पड़ते हैं, किंतु साँप से बचने केलिए उछल कर आगे बढ़ने की बात, साँप के देखने के पहले, हमारे मन में नहीं रहती। मनुष्य का जीवन जिस रूप का है उसी रूप में वह काव्य में प्रतिबिंबित नहीं होता। काव्य में आने के पहले जीवन की बहुत-सी बातें छोड़ दी जाती हैं और ऐसी बहुत-सी बातें भी ली जाती हैं जिनका अस्तित्व केवल कल्पना-जगत् में ही पाया जा सकता है। इसका कारण यह है कि काव्य में जीवन का विधान करते समय हम सामाजिक जीवन में अपनी स्थिति का भी विचार करते हैं।

ईश्वर की सृष्टि में जो कुछ है उनमें मनुष्य सर्वाधिक शक्ति-संपन्न है। शक्ति से तात्पर्य यहाँ भाव तथा लौकिक सृष्टि-विधान की प्रतिभा से है। यदि वन के किसी कोने में एक फूल खिलता है तो उसके लिए किसी के हृदय में आदर-भाव की कोई विशेष संभावना नहीं रहती, क्योंकि ईश्वर की शक्ति को प्रमाणित करने केलिए उस फूल को प्रमाण के रूप में दिखलाना विशेष महत्त्व नहीं रखता। छोटे-छोटे बच्चे जब गलियों में, सड़कों या नदी की रेतों पर छोटे-छोटे घरौंदे बनाते हैं तब उन्हें अपनी शक्ति पर, सृष्टि करने की छोटी-सी क्षमता पर, गर्व होता है। वे बड़े अनुराग से घरौंदे बनाते और उनसे अपने गर्व का आनंद पाते हैं। गर्व कर्म का ऋण है। ईश्वर की सृष्टि की तरह ही काव्य में जब काव्य-कार पात्रों का निर्माण करता है तब उसे अपने इस कर्म के प्रति बड़ा अनुराग होता है। काव्यगत पात्रों के जीवन वस्तुतः लोक-जीवन के अनुरूप ही होते हैं। इसी कारण लोक-जीवन की प्रकृति काव्य की प्रकृति का स्थान लेती है।

लोक-जीवन और काव्य-प्रकृति

प्रत्येक बात के लिए मनुष्य अपने विवेक से उत्पन्न विचार प्रकट नहीं करता। संस्कार या परंपरा से प्राप्त विचारों में ही अपनी बातें मिला देता है। सब में यह शक्ति नहीं रहती, सब को सब वस्तुओं के निरीक्षण और परीक्षण का ज्ञान और अवकाश भी नहीं रहता। इन्हीं कारणों से मनमें पहले से जो धारणा बनी हुई रहती है उसी के आधार पर मनुष्य अपना विचार प्रकट कर देता है। यही कारण है कि प्रत्येक मनुष्य के विचार मौलिक नहीं

जीवन की परंपरा और काव्य

होते, बल्कि परंपरा से आयी हुई धारणा में योग देने वाले होते हैं। मानव जीवन की यह विशेषता काव्य में प्रयुक्त धारणाओं की सामान्यता को प्रतिपादित करती है। परंपरा की यह रूढ़ि आधुनिक जीवन को भूत जीवन से पृथक न होने देने में सहायता करती है। इसी से काव्यगत जीवन में भूत और वर्त्तमान का कोई विच्छेद नहीं मालूम पड़ता।

जीवन का विकास और अतीत वर्त्तमान का संबंध

जीवन के विकास में मूल भावों का व्यतिक्रम नहीं होता। साधारणतः प्रवृत्ति के बहुत दिनों तक एक ही दिशा में चलने को विकास कहते हैं। प्रवाह की इसी दिशा को रोकने या बदलने से प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। कुछ तत्त्ववेत्ता विकास को रूढ़िग्रस्त मानते हैं, क्योंकि बहुत दिनों तक एक ही दिशा में एक ही तरह की शक्ति के विकसित होने से उसमें कुछ रूढ़िप्रियता आ जाती है। ऐसी स्थिति में उसकी प्रतिक्रिया के लिए कहीं विरोध और कहीं विद्रोह की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। इस अर्थ में हमारे बहुत से कलाकार भावों के परंपरागत विकास के विद्रोही कहलाते हैं। जीवन के किसी भी क्षेत्र को वे बहुत दिनों तक एकरस और एकरूप देखना पसंद नहीं करते। जिन कलाकारों में आती हुई विकास-परंपरा के विरोध करने का स्पष्ट साहस नहीं होता वे अपनी विरोधमयी सत्ता को अपने पात्रों की ओट में प्रकट कर देते हैं। काव्य के विधान में इस बात पर सदा ध्यान रखना पड़ेगा कि वह अतीत से असंबद्ध न रहे। जिस काव्य में किसी-न-किसी रूप से अतीत प्रतिध्वनित नहीं होता वह भविष्य के निर्माण में समर्थ नहीं हो सकता। वर्त्तमान को

अतीत ही संजीवित रखता है। अतीत से वर्त्तमान का विच्छेद उसी दिन संभव है जिस दिन सृष्टि में मानव जीवन की इस परंपरा का अंत हो जाय और तब स्थायी साहित्य का कोई मूल्य भी नहीं रह जाता है। यदि हम अपने वर्त्तमान जीवन की परंपरा के मूल सूत्र का अनुसंधान करें तो हमें न मालूम कितने लाख वर्ष पीछे जाना पड़ेगा। काव्य भी अपनी वर्त्तमान जीवनी-शक्ति को सुदूर अतीत से ढोता आ रहा है। काव्य पर अतीत का यह प्रतिबंध उसमें गंभीरता और मर्यादा रखने में समर्थ होता है। जिस काव्य के साथ यह प्रतिबंध नहीं लगा रहता वह हल्का होकर तेजी के साथ वर्त्तमान को छोड़कर भविष्य में पहुँचने की चेष्टा करता है। सामान्य लोक-जीवन कलाकार की इस गति के साथ आगे नहीं बढ़ सकता। जो काव्य सामान्य लोक-जीवन को अपने साथ लेकर आगे नहीं बढ़ सकता उसका कुछ उपयोग और तात्पर्य भी समाज में नहीं रहता। किंतु इसकी भी एक सीमा है। काव्य की धारा जब बहुत दिनों तक ही दिशा में एक ही गति से चलती रहती है तब उसमें इतनी रूढ़ि-प्रियता आ जाती है कि हमें उसमें केवल निर्जीवता ही मालूम पड़ती है। जीवन के तत्त्व सामान में ही मालूम पड़ता है। जीवन के सामान्य तत्त्व में भी देश, काल और जाति के अनुसार कुछ विविधताएँ आ जाती हैं। इतनी विविधताएँ रहने पर भी उस तत्त्व का मूल तो जीवन का सत्य ही रहता है, परंतु वह मूल भूमि की भिन्नता के कारण अपनी विशेषता प्रकट करता है। भारतीय काव्य में सार्वभौम जीवन का संश्लेषण, कर्त्तव्य और धर्म; ग्रीक आदर्श में स्वातंत्र्य और सौंदर्य, रोमन में

नियम और शासन; पारसी में व्यक्तित्व और माधुर्य की प्रधानता मानी जाती है।

जीवन और काव्य

जगत में जहाँ जीवन है वहाँ किसी-न-किसी रूप में नैतिकता को आश्रय देना ही पड़ता है। जीवन की नैतिकता का यह संबंध काव्य में भी दिखाई पड़ता है, परंतु कोई भी काव्य केवल अपने नैतिक आदर्शों की महानता के कारण ही महत् नहीं हो जाता। जीवन की क्रियाएँ उसमें प्रधान हैं। जहाँ एक ओर जीवन की कमजोरियाँ रहती हैं वहाँ दूसरी ओर शक्तिशालीनता भी। इसी अशक्ति और शक्ति के द्वंद्व से जीवन का विधान किया जाता है। हास्य और रुदन जीवन के दो प्रधान व्यापार शक्ति तथा अशक्ति से ही संबंध रखते हैं। अपने को पूर्ण समझ कर या दूसरों को अपने से हीन जानकर बुद्धि के दर्प से मनुष्य हँसता है। जब मनुष्य अपने को शक्तिहीन पाकर निरुपाय समझता है तब वह रोता है। हँसने और रोने के जो विविध रूपान्तर हैं उनसे जीवन की क्रियाएँ भिन्न नहीं हैं। जीवन और काव्य की एकात्मता के समय यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि विधायक कल्पना जीवन की वास्तविकता को काव्यगत सत्य के साथ मिलती है जिससे जीवन की सत्ता काव्य से भिन्न न दिखाई पड़े। काव्य की प्रकृति का विधान करनेवाली जीवन की विविधता-पूर्ण एकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

तीसरा अध्याय

आत्मभाव और काव्य-विधान

आत्मभाव या व्यक्तित्व पर सूक्ष्म विचार करने के उपरांत यह पता चलता है कि निस्संदेह वह एक अन्विति है, एक अपूर्व तथा स्पष्ट विशेष है। केवल अपने गुण के द्वारा ही वह अन्य व्यक्तियों से भिन्न किया जा सकता है। संभवतः व्यक्तित्व के गुण की इन्हीं धारणाओं को मन में रख कर रवींद्रनाथ ठाकुर ने अन्विति के तथ्य को ही कला का सच्चा सिद्धांत माना है। यदि गुण अनावश्यक रहते तो आत्मरूप ईश्वर इस अनंत गुण को जिनसे प्रकृति बनी है, नहीं धारण करते १।

आत्मभाव—एक अन्विति

१—गुणव्यक्तिरियं देवी निगुणः पुरुषः पराः।
नाम रूपे भगवती प्रत्ययः पुरुषः पुमान्—भागवत

गुण की व्यक्ति प्रकृति है और गुण की अव्यक्ति पुरुष। नाम और रूप प्रकृति है। अनादि, अनंत, शुद्ध और सरल पुरुष परमात्मा है।

रवि बाबू आत्मभाव की अभिव्यक्ति ही कला का मुख्य उद्देश्य समझते हैं।

वस्तुतः सौंदर्य एक साधन है उसका मुख्य उद्देश्य नहीं। कला का मुख्य सिद्धांत अन्विति (Unity) का सिद्धांत है। अपने भोजन के तात्त्विक मूल्य को हम उसके संयोजक तत्त्वों से जान लेते हैं, किंतु उसका स्वाद तत्त्वों की उस अन्विति में है जिसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता। जहाँ बहिर्जगत् के साथ हमारे हृदय के संबंध में भावाधिक्य रहता है वहाँ कला की सृष्टि होती है। जहाँ हमारा व्यक्तित्व अपने वैभव का अनुभव करता है वहाँ क्रीड़ा के रूप में कला व्यक्त हो जाती है। कला का कार्य मनुष्य के सच्चे संसार के निर्माण में है जो सत्य और सौंदर्य का जीवित रूप है१।

आत्मभाव की अभिव्यक्ति—कला

टॉलस्टाय ने अपनी 'कला क्या है' नामक पुस्तक में अपने पूर्ववर्ती सभी कला-संबंधी मत-मतान्तरों की समीक्षा करते हुए, अपना मत प्रतिपादित किया है। उनके विचार से कला का उद्देश्य एक मनुष्य के हृदय में उठे हुए भावों को क्रिया, रेखा, वर्ण, ध्वनि, शब्द के द्वारा दूसरे हृदय में अनुभव करना कराना है। टॉलस्टाय का यह मत भारतीय साहित्य की रस-पद्धति से बहुत भिन्न नहीं

टालस्टाय का कला-संबंधी मत

१—Where there is an element of the superflous in our heart's relationship with the world art has its birth......... Where our personality feels its wealth it breaks out in display .... The building of men's true world—the living world of truth and beauty—is the function of art.

—Rabindranath Tagore: Personality.

है। उन्होंने कला की परिभाषा में विधि और निषेध दोनों का वर्णन करते हुए अपनी स्थिति को बहुत ही स्पष्ट रखने की चेष्टा की है। उन्होंने फिर कहा है कि कला, जैसा कि अध्यात्मवादी कहते हैं, ईश्वर या सौंदर्य के किसी रहस्य के भाव का प्रदर्शन नहीं। वह जीवन-सौंदर्य तत्व-वेत्ता जैसा कहते हैं, अपने संचित ओज के आधिक्य का उपभोग करानेवाली क्रीड़ा नहीं है। वह बाह्य चिह्नों के द्वारा मनुष्य की भावुक अभिव्यक्ति नहीं है। वह आनंददायक वस्तुओं की सृष्टि नहीं है और सब के उपरांत वह आनंद नहीं है, बल्कि मनुष्यों को एक ही भाव में परस्पर मिलाने का एक साधन है और व्यक्तिगत तथा मानवता की जीवन-विकास-हित-कामना की दृष्टि से अनिवार्य है १।

१—To evoke in ourself a feeling one has once experienced, and having looked it in oneself, then, by means of movements, line, colours, sounds or forms expressed in words so to transmit that felling that is the activity of art.

—Tolstoy: What is art ? p. 50.

१—Art is not, as the metaphysicians say, the manifestation of some mysterious Idea of Beauty, or God; it is not, as the acthetical physiologists say, a game in which man lets off his excess of stored up energy, it is not the expression of man's emotions by external signs; it is not the productions of pleasing objects; and above all it is not pleasures but it is a means of union among men; joining them together in the same feelings, and indispensable for the life and progress towards well-being of individuals and of humanity.

—Tolstoy: What is art ? p. 50.

समीक्षा

अध्यात्मवाद की दृष्टि से यदि टॉलस्टाय के मत की समीक्षा की जाय तो उनकी सभी निषेधात्मक बातें कला के उद्देश्य के अनुकूल मानी जा सकती हैं। अध्यात्मवाद के अनुसार आत्मानुभूति ही इस जगत् की सारी क्रियाओं का लक्ष्य है। टॉलस्टाय ने अपनी परिभाषा में जो हित-कामना शब्द का उल्लेख किया है वह आत्मानुभूति के अतिरिक्त किसी दूसरे क्षेत्र में स्पष्ट नहीं हो सकता। कला की यह परिभाषा इतनी अधिक अतिव्याप्ति पूर्ण है कि विधि और निषेध की सीमा के भीतर गढ़े जाने पर भी वह असीम हो गई है। हित-कामना की दृष्टि से मनुष्यों के पारस्परिक मिलन को कला कहना स्पष्ट नहीं है। जीवन में ऐसी बहुत-सी घटनाएँ, ऐसी बहुत-सी परिस्थितियाँ आती हैं जब मनुष्य पारस्परिक संरक्षण के विचार से सम्मिलित हो जाते हैं, किंतु क्या इसे कोई कला का कार्य या उद्देश्य बता सकता है! कलाकार के प्रत्यक्ष अनुभव के उपरांत गौण रूप से दूसरे हृदयों में भाव की जागृति या संचारण कला का विषय हो सकता है, किंतु प्रत्यक्ष अनुभव की स्थिति में भाव-संचारण करने से कला नहीं मानी जा सकती। जहाँ कलाकार को मूलभाव की उपस्थिति में औरों की तरह ही रोने और हँसने को बाध्य होना पड़े तो वहाँ कला नहीं मानी जा सकती। टॉलस्टाय ने इस दृष्टि से भी कला पर विचार किया है और उदाहरण में भेड़िया-भेड़िया कहकर चिल्लानेवाले उस लड़के का उल्लेख किया है जो झूठ-मूठ 'भेड़िया आया—भेड़िया आया' कह कर चिल्लाता था। आस-पास के लोग अपना-अपना काम-धंधा छोड़ कर उसकी रक्षा केलिए ही दौड़ पड़ते थे और सबके आने पर वह ठठाकर हँस देता था। इस

उदाहरण पर कला के विषय को निश्चित करने केलिए तीन प्रकार से विचार करना आवश्यक मालूम पड़ता है। पहला तो वह है जब वह लड़का विना भेड़िया को देखे हुए ही ठगने के विचार से लोगों को भेड़िय-भेड़िया चिल्लाकर बुला लेता है। दूसरा वह है जब उस लड़के के सामने वस्तुतः भेड़िया आ जाता है और तब वह भेड़िया-भेड़िया चिल्लाता है। तीसरा वह है जब वह लड़का, यदि जीवित रहा तो लोगों के सामने भेड़िया के आने पर अपने हृदय के भय के बीते हुए अनुभव का वर्णन करता है। लोग उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करते हैं। यदि सच पूछा जाय तो यही तीसरा प्रकार कला का विषय है, क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष अनुभव के उपरांत उसी भाव को हृदयंगम कराने के विचार से उन सारी स्थितियों का वर्णन किया गया है जो दूसरे हृदयों तक पहुँच सके। इसमें सम्मिलित जीवन-रक्षा केलिये हित-कामना की कोई बात नहीं है, केवल अपने हृदय के प्रत्यक्ष और अनुभूत भाव को दूसरे हृदयों तक पहुँचा कर रस-मग्न करने के अतिरिक्त इसका कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है। यदि हित-कामना के विचार से भेड़िया से बचने का उपाय बताया जाता तो वह भाव का विषय न होकर ज्ञान का विषय होता और तब कला को स्थिर रखने के लिए वहाँ स्थान नहीं मिलता।

साधारणतः कलाकारों के दो विभाग माने जा सकते हैं। पहले प्रकार के कलाकार जो बहुत कम होते हैं, वे हैं जो अपने समस्त आत्मभाव को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से पात्रों के जीवन का आधार बनाते हैं। अपने आत्मभाव की सारी विशेषताओं को इस

कलाकारों के भेद और काव्य में निरूपित भाव

रूप से समर्पित कर देते हैं कि उनके पात्र अलग-अलग व्यक्तित्व रखनेवाले जीवधारी-से प्रतीत होते हैं। दूसरे ढंग के कलाकार वे होते हैं जो सृष्टि करते हैं, उनमें सामंजस्य भी रखते हैं, प्रेम, हास, द्वेष, घृणा, विषाद आदि मनोविकारों से पाठकों को स्पंदित भी करते हैं, किंतु उनके पात्रों का कोई मौलिक आधार न रहने के कारण कभी-कभी वे विचित्र जंतु की तरह ही मालूम पड़ते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के पात्रों का अपने आत्मभाव के आधार पर ही निर्माण करना एक असंगत-सी बात मालूम पड़ती है, परन्तु यह एक काव्यगत सत्य है। कलाकार के हृदय की भावना जब किसी चरित्र का निर्माण करने लगती है तब वह एक विचार के रूप में स्थिर हो जाती है। बुरा-से-बुरा भाव भी जो कवि अपने काव्य में किसी पात्र के द्वारा अभिव्यक्त करता है वह भाव की संज्ञा को छोड़कर विचार की श्रेणी में आ जाता है। भाव की उत्पत्ति की युक्तियुक्तता के लिए उतना आग्रह अपेक्षित नहीं होता जितना विचार के लिए। युक्ति-क्षमता के विना विचार को कोई आधार नहीं मिल सकता। भाव ही जब चित्त में स्थायित्व पाता है तब विचार बन जाता है। भाव को स्थिर रहने के लिए कोई कारण होना चाहिए और यही कारण विचार की संगति रखता है। इसीलिए कलाकार का कोई पात्र विचार के रूप में होने के कारण अपनी स्थिति के लिए न्याय चाहता है। क्रोध एक भाव है, किंतु जब यही भाव चित्त में कुछ दिनों तक स्थिर रह जाता है तब वैर की संज्ञा प्राप्त कर लेता है।

अपने पात्र को जीवंत-सा बनाने के लिए कलाकार को अपनी सारी प्रतिभा और शक्ति का योग देना पड़ता है। दर्शक की

भाँति तमाशा देखने के लिए अपने पात्रों की ओट में खड़ा नहीं रहता। पाठकों को वह ऐसा विश्वास दिला देता है कि अपनी कृतियों से पृथक् उसका कोई अस्तिव नहीं। काव्य में किसी पागल, प्रेमी, डाकू, शराबी, अत्याचारी आदि के चित्रण के लिये यह आवश्यक नहीं कि कलाकार को भी वैसे जीवन तथा परिस्थितियों का मौलिक ज्ञान या साक्षात्कार रहा हो। रस की प्रतीति के संबंध में सत्त्वोद्रेक का जो महत्त्व है, वही भिन्न-भिन्न प्रकार के चरित्रों में अपने आत्मभाव को प्रतिष्ठित करने की बात कही जा सकती है। उन्मत्त क्रोधी रौद्र रस की प्रतीति नहीं करता। एक शराबी किसी शराबी पात्र का चित्रण नहीं कर सकता। यदि यह मान लिया जाय कि किसी शराबी पात्र के चित्रण करने केलिए कलाकार को भी उस जीवन के मौलिक अनुभव के लिये शराबी बनना पड़े तो साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि पाठक या श्रोता को भी रसानुभूति केलिए शराबी बनना चाहिए; किंतु ऐसी बात इसलिए नहीं मानी जा सकती कि काव्य की रस-पद्धति इसके अनुकूल नहीं। पात्रों को सजीव बनाने केलिए जब तक कलाकार अपना जीवन, अपना आत्मभाव समर्पित नहीं करता तब तक उसके पात्र जीवित नहीं दिखाई पड़ सकते। जीवन के विना सौंदर्य की सत्ता भी अच्छी तरह प्रकट नहीं हो सकती। गोस्वामी तुलसीदास ने रावण-जैसे भीषण और दुर्दांत चरित्र की अवतारणा करने में यदि अपना आत्मभाव समर्पित न किया होता तो रावण के चरित्र से पाठक कुछ भी ग्रहण नहीं कर सकते। काव्य में कलाकार अपने आत्मभाव को स्रष्टा के अनुरूप ही रखता है। सृष्टि में

आत्मभाव की प्रतिष्ठा और जीवन की स्थिति

ब्रह्म की जो व्यापक सत्ता है वही काव्य में कवि की रहती है। सृष्टि के अणु-परमाणु में ब्रह्म व्याप्त है, परंतु वह लक्षित कहीं भी नहीं होता। काव्य के वर्ण-वर्ण में कवि का आत्मभाव परिव्याप्त रहता है, किंतु वह स्पष्ट कहीं भी लक्षित नहीं होता।

आत्मभाव की अनेकता

एक ही कलाकार जब नाटक, उपन्यास, कहानी आदि लिखता है तब प्रत्येक विषय में हम उसके दूसरे विषय के संबंध में ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक दूसरे विषय के साथ कलाकार अपने जीवन की मूलशक्ति का दिशा-निर्देश कर लेता है, किंतु इस प्रकार के दिशा-निर्देश में कलाकार को अपनी शक्ति की मर्यादा पर इतना ध्यान रखना पड़ता है कि किस ओर वह कितना सफल हो सकता है। यह निश्चित नहीं है कि कोई अच्छा नाटककार अच्छा औपन्यासिक भी बन सके, यह बहुत-कुछ शक्ति की विविधता पर निर्भर करता है। प्रत्यक्ष जीवन में भी हम देखते हैं कि कोई वकील जो अपनी कला में पूरा प्रवीण माना जाता है अपनी सारी विकसित शक्तियों के साथ भी एक साधारण इञ्जिनियर का काम नहीं कर सकता है। शक्ति स्थिर है, किंतु उसको भिन्न-भिन्न दिशाओं की गति का ज्ञान नहीं।

शक्ति और ज्ञान

सच्चे कलाकारों से हम शक्ति-ग्रहण करते हैं—ज्ञान प्राप्त नहीं। हमारे हृदय में शक्ति के अविकसित अंकुर छिपे रहते हैं, उन्हें विकसित कर प्रकाश में लाना सच्चे कलाकार का काम है। शक्ति का विकास होने पर हमारे जीवन का स्तर ऊँचा उठता रहता है और ज्ञान की प्राप्ति पर हम उसी समतल पर आगे बढ़ते हैं। इस प्रकार काव्य की

शक्ति हमें ऊँचा उठाती है और ज्ञान हमें आगे बढ़ाता है। जीवन की सारी संवेदनाओं को हिलाकर शक्तियों का विकास करनेवाली काव्य-कला का स्थान उस ज्ञान-ग्रंथ से कहीं ऊँचा है जो हमारे मस्तिष्क में केवल संख्या-वृद्धि करता है। कवि की शक्ति जिस सीमा तक विकसित है उससे अधिक ऊपर उठना भी पाठक या श्रोता केलिए संभव है जब उसके पास शक्ति की पूंजी हो। शक्ति-साहित्य का विकास मानव-जीवन के आदिकाल से आरंभ होकर अब तक जितना हो गया है वह इतना पर्याप्त है कि उसमें जीवन की विविधताओं का चित्रण तो किया जा सकता है, पर सीमा को हम तोड़कर सहसा ऊपर नहीं उठ सकते। जीवन में प्रतिपल संक्रांति होती रहती है और काव्य में इस संक्रांति का प्रत्येक स्पंदन अंकित होता जाता है, किंतु कलाकार को स्पंदन की इस नियमितता से संतोष नहीं होता। वह जीवन-धारा में ऐसी बाढ़ लाना चाहता है जिससे अधिकतर जीवन-प्लावन हो सके। यदि विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि काव्य का यह जीवन-प्लावन भी नियमित है। समय-समय पर नियम के बंधन को ढीला करना भी नियम-पालन के अंतर्गत ही माना जाता है। कलाकार को केवल इसी बात से हर्ष होता है कि वह मानव-जीवन को काव्य के नये क्षेत्र में देखता है। काव्य का यह क्षेत्र वास्तव में नया नहीं होता, पुराने मकान पर ही चूने की पुताई कर दी जाती है। मनुष्य का जो आत्मभाव है वह जीवन की परंपरा से सर्वथा भिन्न नहीं हुआ करता और इसीलिए काव्य में जो आत्मभाव प्रतिष्ठित किया जाता है वह परंपरा को लेकर ही चलता है। यदि वह परंपरा से अपना संबंध-विच्छेद कर ले

तो वह समाज में एक अद्भुत जंतु की तरह ही माना जायगा। काव्य के संबंध में भी यही बात ठीक कही जा सकती है। यह कहना बहुत ही भ्रमपूर्ण है कि पुराने छंदों में नवीन जीवन का उल्लास व्यक्त नहीं किया जा सकता। छंद कभी पुराना नहीं होता, नवीन उल्लास को भरते ही वह स्वतः नवीन हो जाता है। यदि छंदों का पुराना और अनुपयुक्त हो जाना संभव है तो पुरानी वर्णमाला को भी हटाकर नयी वर्णमाला का निर्माण करना उचित है। किंतु मनुष्य के उच्चारण की ध्वनियाँ इतनी निश्चित हैं कि इसका निराकरण नहीं हो सकता। एक ही प्रकार के मानव शरीर में हम भिन्न-भिन्न आत्माएँ, तरह-तरह के जीवन देखते हैं। तब क्या यह संभव नहीं है कि एक ही प्रकार के छंद में हम भिन्न-भिन्न उच्छ्वास—तरह-तरह की संवेदनाएँ देख सकें! यदि काव्य-रचना के नये कला-विधान की अनिवार्यता प्रमाणित करने की चेष्टा की जाय तो सब से पहले इसी बात का उत्तर मिलना चाहिए कि कला के पुराने कहे जानेवाले आवरण में बंधे हुए कालिदास, भवभूति, बाणभट्ट, तुलसी, सूर या बिहारी को हम क्या भूल सकते हैं? क्या नयी रचनाएँ हमें पुरानी रचनाओं के पढ़ने में विराग उत्पन्न करा सकती हैं? यदि नहीं, तो नये कला-विधान की आवश्यकता बहुत दूर तक प्रमाणित नहीं की जा सकती। आधुनिक जीवन का जो आत्मभाव है वह यदि शक्ति-संपन्न है तो काव्य के किसी भी आवरण में अपनी नवीनता अवश्य प्रतिपादित करेगा। संक्रांति में जीवन का एक नया उल्लास अवश्य रहता है, परंतु इस नये उल्लास में इतनी क्षमता नहीं कि वह पुराने उल्लास पर

प्राचीन और नवीन छंद

कोई आवरण डाल सके। पिछला उल्लास भी तो मानव-जीवन का उल्लास है, पिछला विषाद भी तो मानव-जीवन का ही विषाद है! जबतक मनुष्य जीवन के समान तत्त्व वर्त्तमान हैं तभीतक काव्य स्थिर है। यदि जीवन नया या पुराना नहीं होता तो काव्य भी नया या पुराना नहीं हो सकता।

वैज्ञानिक सभ्यता और काव्य-विधान का नवीन क्षेत्र

कुछ समालोचकों का कहना है कि वैज्ञानिक सभ्यता के नये आविष्कारों से मानव-हृदय में भी नये-नये भावों का विधान होता जा रहा है। इसीलिए नये-नये भावों को अभिव्यक्त करने केलिए नयी-नयी विधियाँ, नये-नये छंद निर्मित होने चाहिएँ। ऊपर से यह बात कुछ जँचती-सी मालूम होती है, किन्तु मानव-हृदय पर जब हमारा ध्यान जाता है तब हम यही समझ कर संतोष कर लेते हैं कि मानव-हृदय वही चिरंतन है, उसमें केवल अनुभव ही नया भरा गया है। बड़े महल से गिरकर मरने के भय का अनुभव हमें पहले से ही है। पहाड़ की चोटी पर से लुढ़क कर गिरने के भय का अनुभव भी हमें पुराना ही है, किंतु पैरासूट या हवाई जहाज से गिरकर मरने के भय का अनुभव आधुनिक सभ्यता का परिणाम है। वैज्ञानिक सभ्यता ने निस्संदेह हमें जीवन में अनुभव के नये-नये क्षेत्र दिए हैं। लेकिन हमें यह कभी न भूलना चाहिए कि अनुभव के क्षेत्र ही नये-नये हैं, हृदय हमारा वही है, भय भी हमारा वही है। अंतर केवल इतना ही है कि चाहे पहाड़ की चोटी पर से गिरकर मरें या हवाई जहाज पर से। यदि भय, क्रोध, आश्चर्य, हास आदि से भिन्न हृदय की किसी

स्थायी वृत्ति का आविष्कार होता तो वस्तुतः काव्य को एक ऐसा क्षेत्र मिलता जो नया समझा जाता। भावों में जो नवीनता दिखलाई जाती है, यथार्थ में वह नवीनता नहीं है—आधुनिक जीवन की विविधता है। भाव के वृत्ति-चक्र में जब कितनी ही भावनाएँ आकर जम जाती हैं तभी हम उसे नवीन कहते हैं जो केवल विविध और जटिल हैं। काव्य में कलाकार केवल अपने आत्मभाव को ही प्रतिष्ठित नहीं करता, वरन् वह समस्त मानव-जीवन को व्यक्त करने की चेष्टा करता है। वह अपने आश्चर्य, हास का वर्णन भी ठीक उसी तरह नहीं करता जिस तरह वह आश्चर्य और हास किया करता है। यदि वह अपने आसपास के लोगों के आश्चर्य या हास करने के ढंग की समानता अपने में न देखे तो वह स्वयं अद्भुत् हो जायगा। यही कारण है कि कलाकार अपने अंतर्जगत् को अथवा अपने आत्मभाव को भी कभी-कभी सच्चाई के साथ अपने काव्य में प्रतिष्ठित नहीं कर सकता। वह अपने अंतर्जगत् को भी बाह्यजगत् के मूल्य पर काव्य को देता है। कभी-कभी कलाकार अपने आत्म-भाव की प्रकृति की मर्यादा को दबाकर पाठक या श्रोता की प्रकृति के स्तर पर पहुँच जाता है और उस समय अपने काव्य को सर्वाधिक लोक-प्रिय बनाने की लालसा में अपनी मर्यादा भूल जाता है। बाहर की मांग को पूरा करने केलिए अपने अंतर के उच्छ्वास पर प्रतिबंध लगा देता है। काव्य में यदि यह व्यापार आरंभ से ही नहीं चला आता तो प्रत्येक कलाकार का अपना व्यक्तिगत काव्य होता और वह काव्य इतना संकीर्ण होता कि जातीय जीवन का कोई चित्र उसमें लक्षित नहीं होता।

काव्य और जीवन का तारतम्य

काव्य में जीवन शुद्ध जीवन के रूप में व्यक्त नहीं किया जाता। हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं कि वह काव्य में एक विचार के रूप में रखा जाता है, वस्तुतः वह एक तथ्य नहीं रहता, बल्कि तथ्य पर कलाकार का निजी विचार रहता है। साधारणतः ऐसा देखा जाता है कि कवि संसार को देखकर जीवन का अनुमान नहीं करता वरन् जीवन के आधार पर ही संसार का अनुमान करता है। यदि उसमें उलटफेर हो तो काव्य की आत्मा पर भी आघात पहुँचने की संभावना बनी रहती है। एक जीवन के ऊपर दूसरे जीवन का प्रभाव पड़ता है और प्रभाव पड़ते ही उसमें परिवर्त्तन के लिए अवकाश मिल जाता है, किंतु प्रभाव को हम सदा इसी रूप में नहीं देख सकते। किसी प्रकार के प्रभाव से कभी तो हम प्रभावित होते हैं और कभी हमारी स्थिति शील-द्रष्टा के रूप में ही बनी रहती है। संसार में जो घटनाएँ जिन रूपों में होती रहती हैं उन सब का चित्रण काव्य में उन्हीं रूपों में नहीं होता। कवि के अंतर्जगत् में अविकल रूप में वे घटनाएँ स्थान नहीं पातीं। अपनी रुचि और स्थिति के अनुसार उनमें वह जोड़-तोड़ करता है। इस प्रकार वे घटनाएँ कलाकार की अपनी सृष्टि कही जाती हैं। कुंभकार घड़े का निर्माता कहा जाता है, किंतु यथार्थ में वह उस घड़े के निर्माण का निमित्त-कारण मात्र है। घड़े की मिट्टी, जो उसका मूल उपादान है, एक भिन्न सृष्टि की वस्तु है। कलाकार भी काव्य-सृष्टि का केवल निमित्तकारण हुआ करता है, काव्य के मूल उपादान पर उसका कोई अधिकार नहीं। संसार में नित्य जो तरह-तरह की घटनाएँ

होती रहती हैं, उन समस्त घटनाओं के उद्देश्य को हम समझ नहीं पाते। यथार्थ में उनमें से कुछ उद्देश्यहीन भी होती हैं, यह सहसा नहीं कहा जा सकता। मानव-बुद्धि की अपारंगता उनके रहस्य को नहीं समझ सकती, किंतु काव्य की समस्त घटनाओं के क्रम और उद्देश्य को हम समझ सकते हैं; क्योंकि वे मनुष्य—कवि के अंतर्जगत् की सृष्टि हैं। यदि अंतर्जगत् की स्रष्ट घटनाओं के रहस्य का पता नहीं लगता तो हम उन्हें मानने को वाध्य नहीं होते और इस प्रकार के काव्य-विधान से रस-पद्धति को आश्रय प्राप्त नहीं होता। मानवीय सृष्टि भी ईश्वरीय सृष्टि का एक अंग है, इसी कारण अंगी का परोक्षभाव अंग पर पड़ता है। यदि अंग की स्वतंत्र सत्ता मानी जा सके तो अंगी से उसका कोई संबंध नहीं मानना पड़ेगा, किंतु यह विषय इतना रहस्य-पूर्ण तथा ज्ञान-सापेक्ष है कि सहज ही इसका स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। जगत् की घटनाएँ ज्ञान-रूप होने के कारण हमारे लिए सुगम नहीं हैं, किंतु उन्हीं घटनाओं में से कुछ कट-छँट कर जब काव्य के क्षेत्र में आ जाती हैं तब वे हमारे लिए ज्ञेय और सुगम हो जाती हैं। संभव है, उनमें से कुछ घटनाएँ साधारण जनता के ज्ञान-क्षेत्र से बाहर रहने के कारण भाव-क्षेत्र में स्थान न पा सकें, पर यह नहीं कहा जा सकता कि वे मनुष्य की ज्ञान-परिधि के सर्वथा बाहर हैं। इसका निराकरण इसी तथ्य से हो जाता है कि स्वयं कवि एक मानव है।

काव्य में हमारे जीवन का जो चित्रण किया जाता है उसमें तथ्य या कल्पना की जितनी मात्रा रहती है, उसके लिए हम विशेष चिंतित नहीं होते। हम इतने से ही संतुष्ट हो जाते हैं कि

काव्य में वर्णित कोई घटना यदि तथ्य नहीं है तो तथ्यवाद अवश्य है। तथ्य और तथ्यवाद का अंतर सत्य और सत्य की कल्पना के बराबर मानना चाहिए। घटना का कोई व्यतिक्रम हमें वहीं खटकता है जहाँ हमारे हृदय में विश्वास करने की प्रवृत्ति नहीं रहती। हृदय के जिन उपकरणों से विश्वास-वृत्ति का विधान होता है उन पर यदि कोई आघात पहुँचे तो हम उस वृत्ति से ही विमुख हो जाते हैं। भेड़िया, भेड़िया चिल्लाकर व्यर्थ ही लोगों को दौड़ानेवाले रूस के उस गड़ेरिये की कहानी बहुतों ने सुनी होगी। लेखक या कवि यदि विश्वास की प्रवृत्ति से प्रतिकूल होकर काव्य का विधान करे तो उसे सफलता नहीं मिल सकती। जबतक काव्य की समस्त घटनाओं को सत्य मानकर हम नहीं चलते तबतक उसकी यथार्थता का भी आनंद नहीं प्राप्त कर सकते। यदि कोई काव्यकार हमारी विश्वास-वृत्ति को चुनौती देकर किसी घटना का वैचित्र्य दिखाना चाहे तो वह अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो सकता। पाठक या श्रोता के विश्वास की सामान्य प्रवृत्ति पर ही वह काव्य-निर्माण में आगे बढ़ सकता। इस प्रवृत्ति की अवहेलना करनेवाली रचनाएँ काव्य में तिरस्कृत समझी जाती हैं। घटना काल में सीमित रहती है, पर उस घटना का सत्य असीम बन जाता है। महाकवि कालिदास भारतवर्ष में जिस समय पैदा हुए थे, यह उस समय की घटना है, किंतु आज भी यह सत्य है कि कालिदास किसी समय भारतवर्ष में पैदा हुए थे। सत्य के ऐसे ही उपकरणों से काव्य का विधान किया जाता है। काव्य को पढ़ते समय हमारी स्थिति विश्वास करने, न करने या संशय की नहीं

विश्वास-वृत्ति और काव्य-विधान

रहती। काव्य को पढ़ने या सुनने के पहले ही हम उस स्थिति के लिए तैयार हो जाते हैं जिससे हमें काव्य का आनंद प्राप्त हो सके। हमारी संशयात्मक प्रवृत्ति पर आनंद की कल्पना का आवरण पड़ जाता है और हम इस भौतिक संसार में रहकर भी इसे भूलकर भाव के विश्व में संचरण करने लगते हैं। छोटे-छोटे बच्चे जब गुड़ियों के साथ खेलते हैं, उनका विवाह कराते हैं, उन्हें भोजन कराते हैं, तब यह समझ कर ही कि वे जीवित नहीं, गुड़ियां हैं। फिर भी उन्हें गुड़ियों के खेल में उतना ही आनंद आता है। यदि कोई बच्चा किसी गुड़िया को भोजन करावे और वह गुड़िया यथार्थ में ही खाने लगे तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहे। आनंद तो खिसक ही जायगा, संभव है, कुछ बच्चे भय से भग न जायँ! काव्य में जैसा कुछ सत्य रहता है वैसा मानकर ही हम आगे बढ़ते हैं।

जीवन के सत्य में काव्य का समन्वय

हमें मान लेना पड़ता है कि कवि जो कुछ कह रहा है वह सत्य है। कभी-कभी तर्क का भाव प्रबल होने पर संदेह का अवकाश मिलता है, परंतु रस प्राप्त करने का संस्कार उसे दबा देता है। संभावना पूर्ण रूप से न तो सत्य है और न असत्य। संयोग से ही वह दो में से एक बनती है। इतिहासकार हमारी विश्वास-वृत्ति को चुनौती देकर आगे बढ़ सकता है और इसी प्रकार आगे बढ़ने में उसकी सार्थकता है, पर कोई काव्यकार यदि ऐसा प्रयत्न करे तो उसे सफलता नहीं मिल सकती। मस्तिष्क की क्रियाओं के विश्लेषण से पता चलता है कि मनुष्य पहले विश्वास करना सीखता है और तब अनुमान करना। यदि किसी

के अनुमान का कोई आधार न हो तो हमें कल्पित विश्वास की भूमि तक भी वह पहुँचाने में समर्थ नहीं हो सकता। साहित्यकार बाह्य जगत् को अंतर्जगत् में लाकर ही काव्य-सृष्टि करता है। विधाता की यह विशाल सृष्टि मनुष्य के हृदय में भाव के रूप में ही सिमट कर आ सकती है। किसी पाँच फीट लंबे व्यक्ति के चित्र को पाँच इंच के चित्रपट पर देखकर भी हमें यह कभी धारणा नहीं होती कि वह चित्रित व्यक्ति पांच इंच से बड़ा नहीं है। पाँच फीट का जो सत्य है वह पाँच इंच में सिमट कर भी वस्तुतः अपने यथार्थ रूप से छोटा नहीं होता। जगत् का सत्य भी अपने विस्तृत तत्वों के संकुचित होने पर काव्य में अपने मौलिक रूप से हटता नहीं।

कवि का जीवन और काव्य-मर्यादा

आज से कुछ दिन पहले संस्कृत-साहित्य के विद्यार्थियों की यह धारणा थी, और यह धारणा आज भी किसी-न-किसी रूप में बनी हुई है कि कवि की जीवनी उसके काव्य को समझने में सहायता नहीं देती। परंतु पश्चिमी समीक्षा-सिद्धांत ने यह संभावना उपस्थित कर दी है कि कवि का जीवन उसकी रचना से पृथक् नहीं है। जिस परिस्थिति में जो रचना हुई है उससे उस पर यथेष्ट प्रकाश पड़ सकता है। जयपुर-नरेश को अपना राज्य-कार्य भूलकर अपनी नवोढ़ा प्रिया में एकांत लवलीन देखकर बिहारी ने जो दोहा लिखकर उनके पास भिजवाया था उसका अर्थ-सौंदर्य क्या इस प्रसंग के परिचय से विशेष उद्भासित नहीं हो जाता? वाल्मीकि और कालिदास ने अपनी क्रूरता तथा मूर्खता के बदले अपने काव्यों को जो करुणा और विदग्धता से आप्लावित किया

है उससे क्या काव्य-विधान की स्थिति स्पष्ट नहीं होती ? तुलसी और सूर ने अपने अलौकिक प्रेम को पराकाष्ठा तक पहुँचा कर जो अपने भावों का प्रत्यावर्त्तन किया, उससे क्या उनकी रचनाओं पर प्रकाश नहीं पड़ता ? काव्य-समीक्षा में यदि जीवन की परिस्थितियाँ छोड़ दी जायँ तो उसमें कुछ कमी रह जाती है। कवि की रचना उसके जीवन का एक अंगमात्र है। अंग की समीक्षा में अंगी को भुलाना ठीक नहीं। तालाब में खिले हुए कमल की जैसी शोभा होती है क्या वह तोड़कर हाथ में रखने से भी वैसी ही मालूम पड़ती है ? आधुनिक कवियों के संबंध में हम यदि इसी सिद्धांत के अनुसार विचार करना शुरू करें तो उनकी रचनाओं पर काफी प्रकाश पड़ सकता है। साधारण जीवन या साधारण घटना काव्य में स्थायित्व पा सकती है। एक मनुष्य के सुख-दुख के समान संसार के बहुत-से मनुष्यों के सुख-दुख हो सकते हैं, यह कोई असाधारण बात नहीं। काव्य में इसी साधारण तथ्य के आधार पर चिरंतन सत्य को प्रतिष्ठित किया जाता है। असाधारण घटनाएँ जगत् में कभी-कभी हुआ करती हैं; अतः वे काव्य में भी कभी-कभी सत्य होती हैं। साधारण जीवन में सुख-दुख सदा ही बने रहते हैं, इसलिए सदा वे सत्य रहते हैं। काव्य में ऐसे जीवन की बड़ी उपयोगिता है। सत्य का तत्त्व शाश्वत है। वह कभी साधारण या असाधारण नहीं हुआ करता है—सदा एकरस रहता है। यही एकरसता काव्य के स्थायित्व में योग देती है। काव्य-विधान के संक्रांतिकाल में यह एकरसता विपर्यस्त नहीं होती, केवल बंधी हुई मर्यादा पर थोड़ा आघात पहुँचाती है और यदि यह आघात किसी निपुण

कलाकार की लेखनी-द्वारा पहुँचे तो उसकी भी एक मर्यादा बँध जाती है।

सृष्टि के प्रत्येक दृश्य में ऐसा आकर्षण है जो मानव-हृदय को स्वतः अपनी ओर आकर्षित करता है। जबतक मनुष्य को

आत्मभाव और काल की संक्रांति

अपने जीवन से अनुराग है, जबतक वह संसार में और दिन तक जीने की लालसा रखता है, तबतक काव्य की संभावनाएँ सदा बनी रहेंगी। इन संभावनाओं को मनुष्य का अपने जीवन का अनुराग ही पुष्ट करता रहेगा। प्रकृति के जो दृश्य सदा से चले आए हैं वे प्रायः अब भी उसी प्रकार हैं। कलाकार वस्तुतः उन दृश्यों का चित्रण नहीं करता, प्रत्युत् अपने हृदय की उन वृत्तियों का विश्लेषण करता है जो उन दृश्यों के योग से उद्यत होती हैं। जबतक सृष्टि का प्रत्येक सूर्योदय जीवन में एक नया पहलू सामने लाता रहेगा तबतक काव्य की संभावनाएँ निश्चित हैं। काव्य-विधान की संक्रांति उसके तत्त्व को सुरक्षित रखने के लिए भी कभी-कभी आवश्यक हुआ करती है। संस्कृति बहुधा किसी के करने से नहीं हुआ करती, वह तो जीवन की एक ऐसी विशेषता है जो स्वतः अपने अस्तित्व का परिचय देती रहती है। सभ्य जगत् के जितने भी आंदोलन हैं वे काव्य की मर्यादा तथा दिशा पर अपना प्रभाव डालते हैं। नये-नये छंदों का निर्माण, नये-नये अलंकारों का विधान होता है। काव्य-विधान के जो उपकरण जीर्ण समझे जाते हैं उन सब का उद्धार करना ही संक्रांति का अभिप्राय समझा जाता है। संस्कृति बहुधा बहुमुखी नहीं होती। यद्यपि वह किसी एक ही दिशा पर अपना विशेष

प्रभाव दिखलाती है तथापि उसका प्रभाव इतना व्यापक होता है कि वह काव्य में एक नया क्षेत्र उत्पन्न कर देता है। काव्य के जीर्ण उपकरणों का भले ही यह कहकर उद्धार किया जाय कि वे अवश्य आधुनिक युग के योग्य नहीं, किंतु यथार्थ में वे अनुपयुक्त नहीं होते। वे मनुष्य की अपनी कृतियां हैं; इसलिए ऐसी कृतियाँ जीर्ण समझी जाती हैं। सूर्योदय कभी पुराना नहीं मालूम होता, चाँदनी भी कभी पुरानी नहीं मालूम पड़ती, यह इसलिए कि वे मनुष्य की सृष्टि नहीं हैं। मनुष्य बराबर सृष्टि करने की आकांक्षा किया करता है, इसी कारण एक के बाद दूसरी सृष्टि कर वह अपने बुद्धि-वैभव का परिचय देता है। नये-नये छंदों के निर्माण को हम बुरा नहीं मानते। बुद्धिवाद के इस विकास-युग में हम बुद्धि-कौशल को रोक भी नहीं सकते, किंतु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि काव्य-विधान में बुद्धि अपना व्यवसाय भाव-क्षेत्र से सर्वथा बाहर नहीं कर सकती। काव्य का संक्रांतिकाल विचार को विकसित कर देता है, सृष्टि होने लगती है; पर सौंदर्य तथा स्थायित्व का दर्शन पीछे होता है। युग-प्रवाह की बहुत कम ही रचनाएँ स्थायी साहित्य में स्थान पाती हैं। इसका एक मुख्य कारण यह है कि कलाकार का आत्म-भाव काव्य में स्वाभाविक गति से प्रतिष्ठित नहीं होता, बल्कि एक नयी मर्यादा को प्रतिष्ठित करने के लिए किया जाता है। समय की प्रगति के आगे-आगे कलाकार की भावनाएँ, आकांक्षाएँ चलती हैं, किंतु जबतक विस्तृत जन-समाज में उन भावनाओं तथा आकांक्षाओं को अपनाने की क्षमता नहीं आती तबतक उन पर काव्य का अस्तित्व टिक नहीं सकता। जिस विचार को हृदय में

हम आज स्थान देते हैं, काव्य में उसे कल हम सम्मिलित कर सकते हैं। बुद्धि और भाव में यह एक तात्त्विक अंतर है। काव्य का विषय बुद्धि नहीं—भाव है और काव्य-विधान की संक्रांति केवल भावुकता से उत्पन्न नहीं हो सकती। बुद्धि-ग्राह्य विषय को भी भाव-रूप बनने में कुछ समय लगता है। काव्य के लिए इसकी प्रतीक्षा भी आवश्यक है। मोगल बादशाही जमाने में हमारी सभ्यता पर थोड़ा-बहुत मुस्लिम प्रभाव किसी-न-किसी प्रकार पड़ा ही, लेकिन उस समय का काव्य उस प्रभाव से निर्लिप्त रहा। अंगरेजी राज्य में जिस प्रगति से हमारी सांस्कृतिक सभ्यता की भावना मलिन होती जा रही है उसी प्रगति से काव्य-जगत् में परिवर्त्तन नहीं होता। सूट-बूटधारी कलाकार भी भारतीय काव्य की मर्यादा को सहसा तोड़ने का साहस नहीं करते। काव्य में परिवर्त्तन नियमानुकूल होता है। इसका प्रधान कारण यही है कि जीवन-पक्ष को छोड़कर काव्य का अस्तित्व अन्यत्र कुछ अर्थ ही नहीं रखता। जीवन एक प्रगति की धारा है, फिर काव्य का मूल संस्कार सहसा ही विनष्ट नहीं किया जा सकता।

भाव और विचार में काल का व्यवधान

जिस प्रकार मनुष्य के चरित्र-निर्माण के प्रतिबंधक रहते हैं उसी प्रकार काव्य में कलाकार का आत्मभाव भी कई प्रतिबंधों के बीच प्रतिष्ठित होता है। राज-भय, समाज-भय, धर्म-भय मानव-चरित्र को संयत रखता है। काव्य-विधान भी इस संयम का अतिक्रमण नहीं कर सकता। जो जाति अपने जीवन को जिस रूप में देखती है वह उसी ढंग के काव्य का निर्माण, काव्य का विधान करती

आत्मभाव और चरित्र के प्रतिबंध

है। भारतीय काव्य महान् है—विराट् नहीं। यह इस कारण कि भारतीय जनता अपने जीवन को विराट् की अपेक्षा महान् देखना चाहती है। जिस दिन भारतीय जीवन में यूरोपीय जीवन की तरह विराट् भावना, विराट् कल्पना की गुंजाइश होने लगेगी उस दिन यहाँ के काव्य की रचना भी उसी दिशा में होगी। आज से कुछ दिन पहले हमारे काव्य में किसी उपेक्षिता, विधवा या पतिता का कोई स्थान न था, पर अब ऐसे युग का निर्माण हो रहा है कि व्यक्ति के शील-सद्गुण पर जाति-जन्म का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

संक्रांति-काल और काव्य

मिट्टी के पात्र में सुधा रख देने से सुधा का मूल्य कम नहीं होता। स्वाभाविक गति से जीवन में जो महानता आ सकती है, केवल उसी पर काव्य का अधिकार होना चाहिए। मानवीय दुर्बलताएँ मनुष्य को महान् बनने से बहुत-कुछ रोक सकें, पर काव्य-जगत् से वे बाहर नहीं रह सकतीं। दुर्बलताओं का ही तो समाज बना करता है। अबतक विश्व की किसी जाति ने महानता का समाज स्थापित नहीं किया। आदर्शवादी काव्य महानता का प्रलोभन दे सकता है, पर उस प्रलोभन के निकट तथ्य के टिकने की कोई निश्चित संभावना नहीं। यही कारण है कि सामाजिक जीवन की संक्रांति की छाया काव्य पर पड़े बिना नहीं रह सकती। बिना किसी व्यक्तिगत दोष के कारण समाज में जिसका स्थान नितांत निम्न कोटि का है, काव्य में उसी पात्र का चित्रण प्रायः सुधरे रूप में मिलता है। मौलिक विशेषताएँ किसी दुश्शील पात्र के प्रति श्रोता या पाठक की सहानुभूति को जाग्रत करने

में समर्थ नहीं हो सकती। प्रगतिशील जीवन के जो चित्र अभी काव्य में आ रहे हैं, उनके प्रति पाठक कुछ दिनों तक भले ही केवल शील-द्रष्टा के रूप में रहें, पर अब वह युग आ रहा है जब उसमें भी रसानुभूति प्रतीत होगी।

काव्य-विधान में मूल तत्व का विश्लेषण

काव्य का प्रयोजन मनुष्य के केवल कर्मों के चित्रण से ही सिद्ध नहीं होता, जबतक अंतर्वृत्तियों का विश्लेषण नहीं किया जाता तबतक काव्य की उपयोगिता नहीं मानी जा सकती। यदि अच्छी अंतर्वृत्तिवाले मनुष्य के कुकर्म को हम कुकर्म कह सकते हैं तो बुरी अंतर्वृत्तिवाले मनुष्य के सुकर्म को सुकर्म नहीं कहना चाहिए। किस वृत्ति से किस कर्म की उत्पत्ति हुई है, यही स्पष्ट करना काव्य का उद्देश्य है और इसी स्थिति में कलाकार अपने आत्मभाव को न्याय्य प्रमाणित कर सकता है। केवल कर्म को ही जीवन मानकर चलने से बड़ी-बड़ी बाधाएँ आ सकती हैं। जगत् में इन वाधाओं का मूल्य कुछ कम भी हो, किंतु काव्य में इन वाधाओं से बड़ी रुकावट पैदा हो सकती है; क्योंकि काव्य में प्रत्येक पात्र के—प्रत्येक कर्म के—प्रेरक भाव का विश्लेषण नहीं होने से पाठक या श्रोता उसका हृदयंगम नहीं कर सकता। यह बात सच है कि रोटी खाने से पेट भर जाता है चाहे वह रोटी जौ की हो या गेहूं की। यदि क्षुधा को तृप्त करना ही हमारा लक्ष्य है तो जौ-गेहूं के झमेले में पड़ना आवश्यक नहीं। काव्य में भी जहाँ पात्र के चरित्र का प्रदर्शन करना आवश्यक है वहाँ अंतर्वृत्तियों का विश्लेषण अनिवार्य नहीं। रोटी खाने में जब हम अपनी क्षुधा को ही तृप्त नहीं करना चाहते

वरन् स्वाद का भी आनंद लेना चाहते हैं तब रोटी के तत्त्व का विश्लेषण उचित जान पड़ता है। इतिहास में कर्म के उल्लेख से काम चल जाता है, किंतु काव्य में इसी पद्धति से काम नहीं चल सकता; क्योंकि स्वाद के रूप में हम काव्य का रस लेना चाहते हैं। इसीलिए मनुष्य के चरित्र से ही पाठक को संतोष नहीं मिलता। मनुष्य का हृदय चिरंतन सत्य हो सकता है, पर उसका चरित्र वैसा व्यापक नहीं होता। मनुष्य का जो हृदय है वही सदा उसका चरित्र नहीं हुआ करता। संसार की परिस्थितियाँ मनुष्य के चरित्र तथा हृदय को सर्वदा और सर्वथा एक नहीं रहने देतीं। काव्य में जब कलाकार मानव-चरित्र की सृष्टि करता है तब हृदय और चरित्र को दो भिन्न-भिन्न तत्त्व मानकर ही। जगत् के व्यवहार को देखकर वह चरित्र का वर्णन करता है, किंतु उस चरित्र को न्याय्य सिद्ध करने केलिए कलाकार को कारण देना पड़ता है और इसी प्रकार वह पात्र में अपने आत्म-भाव को प्रतिष्ठित कर जीवित रखता है।

कलाकार की शैली और उसका आत्मभाव

कलाकार की शैली के संबंध में जो समीक्षा की जाती है उसके संबंध में हमें पहले ही समझ लेना चाहिए कि कलाकार के व्यक्तित्व के अतिरिक्त शैली में भाषा की सांस्कृतिक विशेषता भी अपना महत्त्व रखती है। व्यक्तित्व का जितना महत्त्व है उतना ही भाषा की मर्यादा का भी। आत्म-भाव की बहुत-सी विशेषताएँ शैली में मिलती हैं किंतु उन्हीं के ऊपर निर्भर रहकर किसी कलाकार के आत्म-भाव की मर्यादा स्थिर करना भ्रम से खाली नहीं। कलाकार जिस रूप में जगत् के सम्मुख रहता है,

अपने काव्य में वह प्रायः वही नहीं रहता। काव्य की शैली मस्तिष्क का विषय न होकर कलाकार की भाव-दशा, प्रवृत्ति, आकांक्षा तथा औत्सुक्य आदि को लेकर चलती है। हृदय संवेदना का क्षेत्र है, इसलिए शैली की समीक्षा के समय गणित और विज्ञान को साधारणतः छोड़कर कविता, नाटक और उपन्यास की ही चर्चा की जाती है। जिन विषयों में मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का अभाव पाया जाता है उनके आधार पर कलाकार के आत्म-भाव का विश्लेषण करना संभव नहीं होता। रवीन्द्रनाथ काव्य का मुख्य उद्देश्य कलाकार की अभिव्यक्ति ही समझते हैं। यह अभिव्यक्ति व्यक्ति की एक विशेषता के रूप में होती है। आत्म-भाव के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि वह एक अन्विति है। एक व्यक्ति की विशेषता को अन्विति के सिद्धांत के रूप में न माना जाय तो काव्य के विधान में कलाकार के आत्म-भाव की व्यापकता नहीं मानी जा सकती। कवि की अनुभूति का ज्ञान या उसके आत्म-भाव की प्रतिष्ठा उसकी पदावली के अतिरिक्त या उससे निरपेक्ष होकर नहीं हो सकती। जहाँतक काव्यसंबंधी अनुभूति है, वह पदावली से अपनी सत्ता को पृथक् नहीं कर सकती। कवि में अनुभव करने और अनुभव को पदावली में व्यक्त करने की शक्ति भिन्न ,नहीं है। ग्राहक कल्पना और विधायक कल्पना के नाम से विश्लेषण केलिए हम एक विभाजन कर सकते हैं किंतु दोनों का क्रम एक दूसरे के साथ इतना मिला हुआ है कि कलाकार के जीवन में हम दो गतियां नहीं देख सकते। जहाँतक वह कवि है—अनुभूति-संपन्न है, वहाँतक वह अपने काव्य से भिन्न कुछ भी नहीं।

इसे यों भी कहा जा सकता है कि वह अपने काव्य से पृथक् कुछ है ही नहीं। रश्मियों का मंडल ही तो सूर्य है, न रश्मियाँ सूर्य से भिन्न हैं और न सूर्य ही कोई पृथक् वस्तु है। काव्य भी अपने कला-विधान से अलग नहीं है और कलाकार का आत्म-भाव अपने काव्य से इतना संयुत है कि उसकी पृथक् सत्ता हो ही नहीं सकती।

चौथा अध्याय

मन का ओज और काव्य का रस

रसास्वादन के संबंध में यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि मनुष्य अपने अतिरिक्त ओज का ही रस-ग्रहण करता है। शारीरिक परिश्रम, बाह्य जगत् का प्रभाव मनुष्य के मन के ओज पर ही अवलंबित रहते हैं। संसार में जितने भी काम किए जाते हैं, सब ओज के बल पर ही। जिसके मन में ओज नहीं है, जो अपने दिन-रात के कामों में मन का सारा ओज व्यय कर चुका रहता है उसे किसी भी वस्तु से आनंद की

मन का ओज और रसास्वादन

उपलब्धि नहीं हो सकती। काव्य का रसास्वादन मन के अतिरिक्त ओज के आधार पर ही होता है। बाह्य जगत् की कोई अन्य शक्ति या प्रभाव मौलिक रूप से हमें रस-ग्रहण में सहायता नहीं दे सकता। यदि मन में ओज की मात्रा विशेष रूप से वर्त्तमान हो तो उसी मात्रा के अनुसार आनंद का अनुभव किया जा सकता है। सूखी हड्डियाँ चबानेवाला कुत्ता अपने ही मसूड़ों की जड़ों का रक्त चखकर इस बात से प्रसन्न होता है कि हड्डियों से ही उसे यह रस प्राप्त हो रहा है। कस्तूरी-मृग अपनी ही नाभि की सुगंध से उद्भ्रांत-चकित होकर इधर-उधर दौड़ता और सोचता है कि यह सुगंध उसे कहाँ से मिल रही है! पाठक या श्रोता अपने मन के बचे हुए ओज से ही काव्य का आनन्द पाता है, किंतु समझता है कि उसने यह आनंद काव्य से उपलब्ध किया है। काव्य की क्षमता ओज की संवेदना को उभाड़ना-भर होनी चाहिए। जो दुखी है, दिन-भर का थका-मांदा है, चित्त अस्वस्थ है, उसे सरस-से-सरस काव्य भी रसास्वादन का आनंद नहीं दे सकता। इसका एकमात्र कारण यही है कि उसके मन का सारा ओज चित्त की अव्यवस्था में ही नष्ट हो जाता है और काव्य के रस-ग्रहण करने के लिए कुछ बच नहीं रहता। प्रकृति के समान दृश्य को ही देखकर एक स्वस्थ चित्तवाला व्यक्ति जितना आनंद ले सकता है उतना एक अस्वस्थ चित्तवाले को नहीं प्राप्त हो सकता। यदि किसी के मन का थोड़ा ओज किसी प्रकार बच जाय तो वह उसी मात्रा में आनंद का अनुभव कर सकता है, चाहे वह आनंद काव्य में प्राप्त हो, प्रकृति के किसी रमणीय दृश्य

ओज का संचय और आनंद-प्राप्ति

में मिले या बाह्य जगत् के किसी अन्य व्यापार में। मार्शल ने १ इसी तथ्य पर एक सिद्धांत का प्रतिपादन किया है कि मनुष्य विश्राम के समय अपने मन के ओज का उत्पादन करता है। यदि मनुष्य को विश्राम करने का अवसर न मिले तो उसके मन में ओज का संचय नहीं हो पाता और फलतः उसे आनंद से दूर-ही-दूर रहना पड़ेगा। विश्राम करने के बाद जब चित्त स्वस्थ हो जाता है और कुछ ओज भी संचित हो जाता है तब प्रकृति के साधारण-से-साधारण दृश्य में भी मनुष्य को एक अपार आनंद उमड़ता दिखाई पड़ता है। आनंद की संवेदना जब एक ही स्थिति में बहुत देरतक बनी रहती है तब वह स्थिति पूर्वापेक्षा सुखकर प्रतीत नहीं होती, क्योंकि बराबर एक स्थिति में रहने के कारण मन का सारा ओज एक ही बार खर्च हो जाता है। काव्य के पाठक या श्रोता को इस बात का अनुभव होगा कि बराबर एक ही कई बार पढ़ने या सुनने में वैसा आनंद प्राप्त नहीं होता, जैसा कि उसे पहली और दूसरी बार हो चुका रहता है। यदि काव्य में ही आनंद माना जाय तो एक ही प्रसंग को पचासों बार पढ़ने पर भी मनुष्य को प्रत्येक बार एक-सा ही आनंद मिलना चाहिए, पर ऐसा होता नहीं है।

१. After the quiet of the night-hours the bird-song, as we awake is more than usually pleasurable, the rested eye sees beauty in all colours. The rubbing at our morning bath, of the skin, which has not during the night felt the normal friction of our clothing, the flavour of some special food to which we have been accustomed but which has not lately been tested—all are pleasurable.

—Marshall: Pain, Pleasure and Aesthetics, p. 200.

इस स्थिति का स्पष्टीकरण करने पर यह पता चलता है कि जिसके मन का ओज जितना ही क्षमता-संपन्न होगा वह उतना ही आनंद की व्यवस्था करने में सफल हो सकेगा। जो मनुष्य ओज का संचय जितनी ही कम मात्रा में करेगा वह तदनुसार ही आनंद प्राप्त करने का अधिकार पा सकेगा। निश्चेष्ट तथा कार्यविमुख रहने वाले अमीर-उमराव कुछ अधिक विलासी इसी कारण होते हैं कि उन्हें साधारण जनता से अपने ओज-संचय की ज्यादा सुविधा रहती है। यहाँ स्वभावतः एक प्रश्न उठता है कि यदि कोई मनुष्य बराबर ओज का संचय ही करता रहे और दैनिक काम-धंधों में उस ओज का व्यय न कर केवल आनंद के उपभोग में ही लगा रहे तो उसे उसी मात्रा में आनंद प्राप्त हो सकता है या नहीं ? मस्तिष्क की क्रियाओं तथा हृदय के भावों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य सदा परिवर्त्तन चाहता है। यदि परिवर्त्तन का क्रम रुक जाय तो सृष्टि में आकर्षण की सत्ता नष्ट होने में देर न लगे। खिला हुआ सुंदर फूल इसीलिए इतना प्रिय मालूम होता है कि एक दिन वह खिला ही न था, कली के रूप में था और आज खिलकर वह झड़ने जा रहा है। मनुष्य को अपना जीवन इसीलिए इतना प्रिय है कि उसने एक दिन संसार में जन्म लिया है और किसी दिन उसे मरना भी है। वस्तु, भाव, क्रिया आदि में अमरत्व रहने से उनका स्वाभाविक सौंदर्य ही नष्ट हो जाता है। हमारे भारतीय कलाकारों ने सौंदर्य की परिभाषा बड़ी मार्मिक अंतर्दृष्टि से की है कि क्षण-क्षण जो नवीनता उत्पन्न करे उसी को सौंदर्य कहते

संचित ओज और उसका उपयोग

हैं। काव्य या प्राकृतिक दृश्य में यदि हमें नवीनता नहीं मिलेगी तो मन अपने ओज का व्यापार अच्छी तरह नहीं कर सकेगा। जो बराबर ओज का ही संचय करता रहता है उसे ओज-संचय के प्रयत्न में भी ओज का व्यय करना पड़ता है। एक बार ओज संचित कर लेने के बाद वह उसी मात्रा में बराबर बना नहीं रह सकता, क्योंकि मनुष्य की मानसिक क्रिया जाग्रतावस्था में कभी बंद नहीं रह सकती। इंजिन को चालू रखने के लिए पेट्रोल का खर्च देना ही पड़ेगा। ओज का संचय भंडार बढ़ाने के लिए नहीं किया जा सकता। जिसके मन में जो कुछ अतिरिक्त ओज बचा है उससे यदि वह बाह्य जगत् का आनंद प्राप्त नहीं कर सकता तो उसका वह ओज मानसिक क्रिया के संचालन में ही समाप्त हो जाता है। जिस भंडार का द्वार सदा ही खुला रहता है वहाँ कुछ छिपाकर रखने में सफलता नहीं मिल सकती।

आनंद और विषाद तथा ओज

आनंद जबतक अनुभूत नहीं रहता तबतक उसको प्राप्त करने की प्रेरणा मन में नहीं होती। विषाद भी जबतक अनुभूत नहीं रहता तबतक उसको दूर करने की चिंता मन में नहीं उठती। जीवन में आनंद है, इसलिए हम विषाद को हटाकर उस स्थिति को बचाए रखने का प्रयत्न करते हैं। मन के विश्राम की स्थिति में जो ओज संचित होता है उससे जितनी देर तक आनंद लिया जा सकता है उससे कम ही समय में विषाद सब ओज को आत्मसात् कर ले सकता है। किसी वस्तु के निर्माण में जितना काल अपेक्षित है उतना उसके विध्वंस में नहीं। ओज-संचय में आनंद के लिए हम एक स्थिति का

निर्माण करते हैं, परंतु विषाद की छाया पड़ते ही वह नष्ट हो जाती है। विषाद का हल्का-से-हल्का आभास भी हमें व्यथित कर देता है, किंतु साधारण आनंद का भाव हमें जीवन की साधारण स्थिति में ही रखता है। साधारण से अधिक आनंद पाकर ही हम अपने हृदय में उसके अस्तित्व का उपभोग करते हैं।

ओज और स्थिति-परिवर्त्तन

आनंद को प्राप्त करने तथा विषाद को दूर करने में ओज का व्यय होता है और इन दोनों ही स्थितियों में हमारी मानसिक वृत्तियां सक्रिय रहती हैं। किसी समय वे अंतर्मुख और किसी समय वहिर्मुख रहती हैं। जबतक आनंद या विषाद की प्रकृति या मात्रा में कोई उल्लेखनीय अंतर न हो तबतक हमें उसके अस्तित्व का प्राय: संवेदनीय बोध नहीं होता। दैनिक जीवन में जिसे जितना आनंद या विषाद प्रतिदिन मिला करता है उससे अपनी इस स्थिति में किसी प्रकार की नवीनता का ज्ञान नहीं होता और फलतः उसके लिए उस मात्रा में सुख या दुख जीवन का एक सामान्य व्यापार बना रहता है। अंधेरे कमरे में जब अचानक दीपक का प्रकाश होता है तब हम उस ओर ध्यान देने को वाध्य होते हैं, परंतु दिन भर सूर्य के उगे रहने पर हमें बराबर उस ओर ध्यान देने की परवाह नहीं रहती। बाल रवि की सुनहली किरणें इसलिए रमणीय मालूम होती हैं कि वे गहन अंधकार से फूट निकली हैं। सांध्य सूर्य की लालिमा हमें इसलिए प्रिय मालूम होती है कि कुछ क्षण के बाद गहन कालिमा में उसका पर्यवसान होगा। परिवर्त्तन या नवीनता

का यही क्रम जीवन में ओज का सद्व्यय करता है। इस प्रकार के आनंद को प्राप्त करने के लिए हमें अपनी चेतना-शक्ति और अध्यवसाय पर बराबर जोर नहीं देना पड़ता। स्वाभाविक गति से इस प्रकार काम होता चलता है कि हम अपने में सदा चेतन प्रयत्न का अनुभव नहीं कर पाते। किसी भाव को पहली बार ग्रहण करने में हमें अपनी चेतना-शक्ति तथा अध्यवसाय की जितनी सहायता लेनी पड़ती है उतनी क्रमशः उसी भाव की उत्तरोत्तर प्राप्ति में नहीं। कुछ दिनों के बाद वही भाव हमारे हृदय का एक स्थायी अंग बन जाता है १।

मन की स्थिति और व्यवधान

मन की साधारण स्थिति में हम विदूषक की बातों से प्रसन्न होते हैं, किंतु जब हमारी मानसिक स्थिति में कोई असाधारण दुखद परिवर्त्तन हुआ रहता है तब प्रायः विदूषक की मनोरंजक बातों को भी सुन कर, प्रसन्न होने के बदले, झुंझला उठते हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्य जैसा चाहता है वैसा ही मानसिक स्थिति को बनाए रखने का प्रयत्न करता है। उसमें वह किसी दूसरे का व्यवधान सहन नहीं कर सकता। हृदय में जब किसी प्रकार की संवेदना उठती है तब यदि वह संवेदना सुखद होती है तो कल्पना में बराबर इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि प्रवृत्ति की यह स्थिति सदा बनी रहे और इसके विपरीत यदि संवेदना दुखद होती है तो जल्द-से-जल्द उसे हटाने की कोशिश की जाती है। जब हम बैठे-बैठे अपने मन में कल्पना का आनंद लेते रहते हैं तब मन की वैसी स्थिति में किसी के कुछ कहने पर पहली बार तो हम

१—Mc Dongell: Body and Mind. p. 276.

उत्तर दे देते हैं, पर दूसरी-तीसरी बार पूछे जाने पर झुंझला उठने को हम विवश हो जाते हैं। भाव की जो सत्ता हमारे मन में बनी रहती है उसमें किसी प्रकार की बाधा हमें वांछनीय नहीं। बाधा आते ही हम स्वाभाविक रूप से झिड़क कर उसे दूर करने की चेष्टा करते हैं। काव्य में भी जब हमारी मानसिक स्थिति भाव की समतल भूमि पर बनी रहती है तब इस स्थिति के प्रतिकूल किसी प्रकार की व्यंजना होने पर उस बाधा के प्रति हमारे मन में अन्यथा होना एक साधारण बात है। अन्यथा भाव इस बात का प्रमाण है कि हमारी अपनी सत्ता काव्य के किसी विशेष पात्र की सत्ता से मेल नहीं खाती। ऐसी व्यवस्था में हमें वैसे वर्णन से आनंद नहीं होता, क्योंकि तब हमारी समझ से ओज का अपव्यय होने लगता है। कवि किसी के हृदय में नया भाव नहीं भरता, बल्कि वह केवल अनुभूत भावों को ही जाग्रत तथा उत्तेजित करता है। किसी नायक-नायिका के प्रेम-वर्णन को पढ़कर या सुनकर पाठक या श्रोता उनके सुख से अपने को सुखी नहीं मानता, वरन् उस वर्णन से उसके अपने हृदय का ही भाव जाग्रत होकर उत्तेजित हो जाता है और रस की प्रतीति होने लगती है। यदि ऐसे सुख की वासना का संस्कार पाठक या श्रोता के चित्त पर नहीं है तो काव्य के ऐसे वर्णन से उसका मनोरंजन नहीं हो सकता।

मन का संस्कार और रस की प्रतीति

काव्य में वैचित्र्य या चमत्कार को भी एक स्थान प्राप्त है। यह सत्य का अपलाप नहीं है, किंतु द्राविड़ी प्राणायाम से सत्य की प्रतीति कराना है। सत्य को जानना और मानना दो बातें

जगत् का जो सत्य है, काव्य का सत्य ठीक उसी रूप में व्यक्त नहीं किया जाता। वैचित्र्य या चमत्कार इसी प्रकार काव्य का सत्य है, जगत् के सत्य से कभी-कभी इसे बहुत दूर रखना पड़ता है। पाठक या श्रोता के हृदय में ऐसी भावना उत्पन्न होती है कि वह इस वैचित्र्य या चमत्कार के सत्य को तथ्य समझकर ही आनंद प्राप्त करता है। आनंद का यह प्रलोभन यदि उसे न हो तो वह काव्य के ऐसे सत्य को नहीं समझ सकता। काव्य और चमत्कार दोनों में अंतर है और वह अंतर इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि काव्य को एक प्रतीति के रूप में लेकर हम विमुग्ध रूप से मौन हो जाते हैं, किंतु वैचित्र्य या चमत्कार के समय हम अपना मौन भंगकर वाह-वाह कह उठते हैं।

काव्य और वैचित्र्य या चमत्कार

काव्य का उद्देश्य शुद्ध मनोरंजन नहीं हो सकता। उद्देश्य के मार्ग में मनोरंजन एक साधन है। उसका अंतिम उद्देश्य जगत् के साथ मानव-हृदय का सामंजस्य स्थापित करना है। मनोरंजन का प्रयोजन चित्त-वृत्ति को रस-दशा की उस भाव-भूमि पर पहुंचा कर संलग्न रखना है जहाँ काव्य के मूल भाव से प्रभावित होते समय पाठक या श्रोता की चित्त-वृत्ति इधर-उधर न हो जाय। मनुष्य की चित्त-वृत्ति इतनी व्याकरणात्मक है कि जबतक उस पर किसी प्रकार का मधुर प्रतिबंध नहीं रखा जाय या उसके सामने कोई प्रलोभन या आकर्षण न रखा जाय तब तक वह एक स्थिति में

रस की प्रतीति में मनोरंजन—एक साधन, उद्देश्य नहीं

कुछ देर के लिए भी नहीं रह सकती। चित्त की ऐसी स्थिति में काव्य अपने सारे उद्देश्यों को लेकर मनोरंजन के पीछे-पीछे चलता है। उस समय पाठक या श्रोता की अपनी सत्ता काव्य के तथ्य से पृथक् नहीं रहती, उसी में मिल जाती है। यदि काव्य का उद्देश्य शुद्ध मनोरंजन ही रहता तो इसके लिए काव्य जैसे दुर्लभ व्यापार को घसीटने की आवश्यकता नहीं। किसी के बेठंगेपन पर हम हँसते हैं, थोड़ी देर के लिए उससे हमारा मनोरंजन हो जाता है, परंतु क्या वह बेढंगापन काव्य की समता कर सकता है? काव्य-जैसे गंभीर विषय का उद्देश्य मनोरंजन जैसा हल्का विषय नहीं हो सकता। मनोरंजन को हल्का कहने से हमारा तात्पर्य यही है कि उसका कोई उससे भिन्न उद्देश्य नहीं होता। हास्यरस में मनोरंजन की सत्ता बड़ी प्रत्यक्ष रहती है, किंतु इस मनोरंजन के अतिरिक्त पाठक या श्रोता के हृदय पर किसी और बात का भी संस्कार जमता है जिसे वह उस समय मनोरंजन-मात्र ही समझ कर रह जाता है और उसका हृदय एक अज्ञात दिशा की ओर बढ़ जाता है। जिस प्रकार शारीरिक बलके

रस-पद्धति मानसिक व्यायाम है

लिए शारीरिक व्यायाम की आवश्यकता है, उसी प्रकार शक्ति केलिए भावों का व्यायाम अपेक्षित है। प्रत्येक अंग के विकास केलिये भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यायाम के ढंग निश्चित हैं। मानसिक शक्ति के विकास केलिए भी नाना प्रकार के भावों का विन्यास करना पड़ता है। जीवन में काव्य की सफलता का यही परिणाम है। वीर रस के काव्य से हम अपने मानसिक उत्साह का विकास कर सकते हैं, करुण रस के काव्य से हम अखिल जीव के प्रति

शोक-स्पंदित होकर अपनी सहानुभूति-भावना की वृद्धि कर सकते हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न रस-प्रधान काव्यों से हम भिन्न-भिन्न भावों को विकसित करने में समर्थ हो सकते हैं। यह एक साधारण बात है कि जो व्यक्ति जिस ढंग के काव्यों का अध्ययन करता है उसके विचार प्रायः उसी ढंग के होते हैं। यदि रामायण से केवल पितृ-भक्ति, भ्रातृ-प्रेम, पातिव्रत, मैत्री, दुष्टों के दमन आदि की ही शिक्षा मिले, यदि महाभारत से केवल 'यतोधर्मः ततोजयः' का ही उपदेश प्राप्त हो तो दोनों महाकाव्यों की विशालता का तात्पर्य सिद्ध नहीं होता। महाकाव्यों में हमें जीवन की विविधताएँ मिलती हैं। उनसे हम विश्व-जीवन को आत्मसात् करने की चेष्टा करते हैं—यही उनका चरम उद्देश्य है।

आनंद और विषाद का रासायनिक मिश्रण

आनंद और विषाद दो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं, परंतु किसी विशेष मानसिक स्थिति में दोनों तत्वों का ऐसा रासायनिक संमिश्रण हो जाता है कि हम दोनों तत्वों को पृथक् नहीं कर सकते। कालिदास के मेघदूत का विरही यक्ष जब अलकापुरी-स्थित अपनी प्यारी विरहिणी का स्मरण करता है तब उसकी इस स्मृति-भावना में आनंद और विषाद के जो तत्त्व एक-से मिले हुए हैं, उनको कोई भी मनोवैज्ञानिक पृथक् नहीं कर सकता। भावों का योग गाणितिक क्रिया से नहीं हुआ करता, वह तो रासायनिक योग होता है। यक्ष को अपनी प्रिया की स्मृति से उसकी विरहावस्था पर विषाद होता है, परंतु उस विषाद की स्मृति से भी उसे जो आनंद प्राप्त होता है उसको भी वह छोड़ नहीं सकता। यहाँ विषाद से भिन्न आनंद का कोई अस्तित्व

नहीं है। इस प्रकार के आनंद को प्राप्त करने केलिए अपेक्षित विषाद को स्वीकृत करना ही पड़ेगा। प्रत्येक मानसिक स्थिति के मूल से यह पता चलता है कि शुद्ध विषाद के जितने रूप हमारे मन में आया करते हैं उतने शुद्ध आनंद के नहीं। गौतम-पत्नी यशोधरा अपने पति के, जगत् के कल्याण की खोज में, राजमहल से चुपचाप निकल जाने पर, स्वाभाविक रूप से विषण्ण होती है, किंतु वह अपने अस्तित्व की विशेष मर्यादा न रखकर पति के भावी गौरव की भावना से उल्लसित होकर कहती है—

जायँ, सिद्धि पावें वे सुख से—
दुखी न हों इस जन के दुख से,
उपालंभ दूँ मैं किस मुख से ?—
आज अधिक वे भाते !
सखि, वे मुझ से कहकर जाते।
गए, लौट भी वे आवेंगे,
कुछ अपूर्व अनुपम लावेंगे,
रोते प्राण उन्हें पावेंगे,
पर क्या गाते-गाते ?
सखि, वे मुझ से कहकर जाते।

—मैथिलीशरण गुप्त

जो कवि एक ही मानसिक स्थिति में आनंद और विषाद दोनों को अलग-अलग दिखाने की चेष्टा करता है वह यथार्थ में एक प्रकार के मनोवैज्ञानिक असत्य को ही प्रमाणित करने का प्रयत्न करता है। एक आँख में आनंद का उल्लास और दूसरी में विषाद का अवसाद रह ही नहीं सकते। दोनों आँखों में दोनों

तत्त्वों की मिश्रित सत्ता माननी पड़ेगी । बाह्य जगत् के विषाद को पाकर हमारे मन का ओज अनुत्पादक रूप से खर्च होने लगता है, परंतु काव्य में जब हम किसी के विषाद का वर्णन पढ़ते हैं तब आश्रय के साथ तादात्म्य स्थिति को प्राप्त कर उस विषाद से आनंद प्राप्त करते हैं।

काव्य के वर्णनों में ज्यादा ध्यान हम उन्हीं बातों—घटनाओं पर देते हैं जिनसे हमें आनंद मिलता है । व्यर्थ की बातों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित ही नहीं होता। सत्काव्य का सारा काम केवल वर्णनों से ही नहीं चलता, उसका बहुत-सा काम संकेत या उपेक्षा से ही पूरा किया जाता है। काव्य में जहां संकेत या उपेक्षा रहती है वहाँ उस अंश की पूर्त्ति पाठक अपनी बुद्धि से कर लेता है। यदि काव्य में केवल सांगोपांग वर्णन से ही काम लिया जाता तो वह किसी की दिनचर्या से विशेष महत्त्व नहीं रख सकता। जो सत्य है अथवा जिस घटना का जो परिणाम सत्य है उसका संकेत या उपेक्षा कर देने से पाठक का बहुत-सा समय, उसका बहुत-सा ओज बच जाता है जिससे वह काव्य के आगे के प्रकरणों को मनोयोग-पूर्वक पढ़ने में समर्थ हो सके । गोस्वामी तुलसीदास ने रामचंद्र के जीवन में बहुत-सी घटनाएँ दिखलाई हैं, किंतु नित्यकर्म के जो अंग—शौच, स्नान, संध्या, भोजन आदि हैं उनको बार-बार दिखलाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। जीवन के ये व्यापार ऐसे हैं जो उसकी सत्ता दिखलाने के बाद, बिना किसी विशेष परिस्थिति के, उल्लेखनीय नहीं माने जाते। पाठक या श्रोता समझ लेता है कि जीवन के ये अनिवार्य व्यापार हैं। इनके उल्लेख

काव्य में संकेत या उपेक्षा से ओज की रक्षा

की उपेक्षा कर उसका बहुत-सा मानसिक ओज बचा लिया गया है। जबतक अपने मानसिक ओज का व्यय न किया जाय तब-तक काव्य से आनंद की प्राप्ति संभव नहीं; अतएव जहाँ मानसिक ओज अनुत्पादक रूप से खर्च होता है वहाँ का वर्णन रुचिकर नहीं मालूम पड़ता। जो वस्तु कुछ खर्च करके खरीदी जाती है उसकी उपयोगिता पर हमारा ध्यान बराबर बना रहता है। यदि मनुष्य को काव्य का आनंद बिना किसी प्रकार के खर्च के ही मिला करता तो उसे अनावश्यक प्रसंग का बार-बार उल्लेख अखरता नहीं। जो घटनाएँ बहुकाल-व्यापी होती हैं उनकी स्मृति, उनका काल्पनिक चित्र, किसी संकेत को पाकर क्षण-भर में ही मन में सजीव हो जाता है। यदि संकेत या उपेक्षा से काम न लिया जाय तो किसी सत्काव्य की रचना संभव नहीं। उसमें इतनी अनावश्यक बातें एकत्र हो जायँगी कि मन का सारा ओज आरंभ में ही समाप्त हो जायगा। जिन बातों से हमें मानसिक संतोष नहीं होता, औत्सुक्य जागरित होकर आगे नहीं बढ़ता, वे हमारे आनंद का संचार नहीं कर सकतीं। कवि अपना भाव पाठक को नहीं देता, बल्कि वह संकेत से पाठक या श्रोता के ही हृदय के भाव को संचारित कर देता है। यदि पाठक या श्रोता के हृदय में उस प्रकार के भाव का मूल वर्त्तमान न हो तो उसे कवि के उस प्रकार के भाव-संकेत से आनंद नहीं मिल सकता। बीज अपने में पूर्ण माना जा सकता है, किंतु पृथ्वी से उसे विकास के जो तत्त्व प्राप्त होते हैं उन्हें भी अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। बहुत से चित्रों को हम देखते हैं कि किसी व्यक्ति का एक ही कान चित्रित हुआ है, किसी व्यक्ति की केवल छाती ही

झलक रही है, ऐसा देखकर हमको यह कभी संदेह भी नहीं होता कि चित्रित व्यक्ति कनकटा है, केवल छाती वाला है, पीठ उसे है ही नहीं ! यह संकेत या उपेक्षा का ही दृष्टांत है कि हमारी कल्पना उस अवर्णित या उपेक्षित अंश की पूर्त्ति कर देती है । काव्य में हमारी यह प्रवृत्ति ऐसी स्वाभाविक रीति से काम करती जाती है कि हमें कभी इसके लिए सचेत नहीं रहना पड़ता । चेतना-शक्ति का स्वाभाविक अंग बनकर, बिना हमारी विशेष अनुमति के ही, कल्पना अपना काम करती रहती है । जैसे दौड़ते समय हम गढ़ों या सड़क पर पड़ी हुई किसी बाधा को पाकर उछल जाते हैं वैसे ही हम अवर्णित या उपेक्षित अंश को कल्पना की छलांग से पूरा कर देते हैं । इस प्रकार हमारा मानसिक ओज सुरक्षित रहकर निकट भविष्य में आनंद के उत्पादन में योग देता है ।

पांचवां अध्याय

काव्य का अर्थ-बोध

काव्य की बहुत-सी रचनाएँ ऐसी होती हैं जो हमें प्रिय तो मालूम होती हैं, किंतु उनका अर्थ-बोध नहीं होता। किसी रचना का प्रिय लगना ही जीवन के साथ उसके हार्दिक संबंध का द्योतक है। जो वस्तुतः हृदय के भाव हैं वे किसी-न-किसी रूप से हृदय में स्थान पाने का अवश्य प्रयत्न करते हैं। मनुष्य की चेतना-शक्ति साधारणतः तीन रूपों में जाग्रत् होती है। इन्हें हम पूर्ण चेतना, अर्द्ध चेतना तथा सांस्कारिक चेतना कह सकते हैं। ध्यान-पूर्वक किसी दृश्य को देखना या उस पर विचार करना पूर्ण चेतना है। कभी-कभी किसी शहर या भीड़ में ऐसा आदमी भी देखने को मिल जाता है जो कुछ परिचित-सा तो मालूम पड़ता है, किंतु उसका नाम-पता

अर्थ-बोध और चेतना

याद नहीं रहता या मालूम नहीं हुआ रहता। ऐसे व्यक्ति हमारे हृदय में थोड़ा स्थान तो अवश्य कर लेते हैं, परंतु अपना अर्थ-बोध नहीं देते। रुचि या वृत्ति के अनुकूल विषयों में दक्षता प्राप्त करने के लिए हमारी सांस्कृतिक चेतना सहायक होती है। काव्य की ऐसी रचनाएँ अपने बहिरंग से, वर्ण से, स्वर से हमें विमुग्ध तो कर लेती हैं, किंतु अपना स्पष्ट अर्थ-बोध न देने के कारण हमें अधिकतर रस-मग्न होने से वंचित रखती हैं। काव्य में ऐसे अर्थ-ज्ञान-हीन सुखानुभव को शास्त्रीय दृष्टि से अप्रबुद्ध उपभोग कहते हैं।

अर्थ-बोध और ज्ञान-शक्ति

काव्य के किसी कठिन स्थल को समझने में जब हम असमर्थ-से मालूम पड़ते हैं तब अपनी ज्ञानशक्ति के मर्यादित क्षेत्र को विस्तृत करने केलिए हमारे अंतर्जगत् की शक्ति जोर करती है। ऐसी स्थिति में भाव-शक्ति की विकलता बढ़ती है, क्योंकि जबतक ज्ञान-शक्ति भावों के प्रवेश केलिए दरवाजा खोल नहीं देती तबतक काव्य के अर्थ-बोध पर आवरण पड़ा ही रहता है। किसी क्लिष्ट पद के अर्थ को न जानने पर भी प्रसंग-प्राप्त भाव को लेकर हम अपना काम चलाने की चेष्टा करते हैं। किसी पद को स्पष्ट जान लेना मनुष्य की आकलन-शक्ति का मुख्य प्रयोजन नहीं है। मनुष्य की अंतर्शक्ति को विकसित करना काव्य का विशेष तात्पर्य है, किंतु उपर्युक्त अवस्था में हम पद के अर्थ को जान लेना ही पर्याप्त समझ लेते हैं। किसी एक पद को लेकर माथापच्ची करने से हम छुट्टी पा जाते हैं और इस प्रकार हम अज्ञान के बंधन से मुक्त-सा समझ कर प्रसन्न होते हैं। वस्तुतः यह प्रसन्नता हमारी

मर्यादित शक्ति को विस्तृत करने के काम की नहीं होती। पानी में मिश्री की डली थोड़ी देर के बाद घुलमिल जाती है, परंतु मिश्री की डली के बदले यदि पत्थर का टुकड़ा आ मिले तो उसमें गलाने की क्षमता नहीं रहती। पर, इससे हमें अधिक घबड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि अंतर्जगत् की शक्ति में तीव्रता रहे तो पानी की कड़ी धार में पत्थर टूट भी सकता है। यदि न टूटे तो कुछ दिनों के बाद उस पत्थर के टुकड़े को कज्जलवेष्ठित होकर उसी वातावरण की दुहाई देकर रहना पड़ता है। ऐसे अर्थ-ज्ञान-हीन पद जो हमारे मानस में बने रहते हैं हमें काव्य में नवागंतुक-से नहीं मालूम पड़ते। अर्थ-स्पष्ट होने पर निश्चय ही वे हमें मन की सतत् उद्वेगशील क्रिया को विश्राम देकर प्रसन्न कर देते हैं।

मनुष्य की अंतर्शक्ति गंभीर दार्शनिक रहस्य से भरी हुई है। संसार में ऐसे बहुत-से तथ्य होते हैं जिनका ज्ञान अंतर्जगत् को

अंतर्शक्ति और अभिव्यक्ति

हुआ रहता है, परंतु वे उतने स्पष्ट नहीं होते जितने से बाहर भी प्रकाशित हो जायँ। साधारणतः जीवन में ऐसे बहुत-से क्षण आते हैं जब हम विना किसी स्पष्ट या प्रत्यक्ष कारण के प्रसन्न या विषण्ण होते हैं। वस्तुतः ये भाव अकारण नहीं हुआ करते। हमारी अंतर्शक्ति को इस प्रसन्नता या विषण्णता का कारण मालूम हुआ रहता है, परंतु अस्पष्टता के कारण हम अपने अनुभव को बाह्य जगत् में प्रकाशित नहीं कर सकते। जीवन के रहस्य की तरह काव्य की भी अपनी एक समस्या है। काव्य एक प्रतीति के रूप में जितना रमणीय हो सकता है उतना प्रतिपादन के रूप में नहीं।

आग्रह और तर्क के बल पर काव्य का यश-विस्तार नहीं हो सकता। यही कारण है कि जो काव्य हृदय पर अनायास ही कोई प्रभाव नहीं डाल सकता उसे किसी के समझाने-बुझाने पर भी विशेष शक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। रवि बाबू ने अपनी 'जीवन-स्मृति' में इस तथ्य पर बड़े मनोरंजक ढंग से प्रकाश डाला है—'क्या कोई मनुष्य कुछ बात समझाने केलिये कविता किया करता है?'—वस्तुतः मनुष्य के हृदय में जो प्रतीति होती है वह काव्य के रूप में बाहर निकलने का प्रयत्न किया करती है। यदि ऐसी कविता को सुन कर कभी कोई यह कहता है कि मैं तो इसमें कुछ नहीं समझता तो उस समय मेरी मति कुंठित हो जाती है। फूल को सूंघकर यदि कोई कहने लगे कि मेरी समझ में कुछ नहीं आता तो इसका यही उत्तर हो सकता है कि इसमें समझाने-जैसा है भी क्या; यह तो केवल भास-मात्र है। इस पर भी यदि यही कहे—'हाँ यह तो ठीक है, मैं भी जानता हूँ, पर इसका अर्थ क्या?' और इसी तरह बार-बार प्रश्न करने लगे तो उससे छुटकारा पाने के लिए दो ही मार्ग हैं—या तो उस विषय की चर्चा ही बदल दी जाय या यह सुगंध, पुष्प में विश्व के आनंद की धारण की हुई आकृति है, कह कर उस विषय को और भी अधिक गंभीर बना दिया जाय।'

अर्थ-बोध और तर्क

हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पहले बुद्धि ने आक्रमण किया, तब धीरे-धीरे उस पर भाव भी संचरित होने लगा। मार्ग को प्रशस्त करने का काम बुद्धि करती है, भाव अनुचर के रूप में पीछे-पीछे चलता है। काव्य में बुद्धिवाद के प्रति अन्याय करने का साहस हम

बुद्धिवाद और वैचित्र्य

नहीं रखते। हमारे इस कथन का तात्पर्य यह भी नहीं कि काव्य-निर्माण में पक्षपात के कारण बुद्धिवाद को हम विशेष महत्त्व दे रहे हैं। जो सड़क एक बार बन जाती है उसे नित्यप्रति बनाने की आवश्यकता नहीं होती। दिल्ली जानेवाली सड़क हम से दिल्ली का परिचय नहीं बताती, उस सड़क से चलकर ही हम दिल्ली को देख सकते हैं, उसके संबंध की बातें जान सकते हैं। हमारे व्यक्तित्व की सीमा का विस्तार करना अवश्य ही बुद्धि का काम है, परंतु प्रत्येक भाव का नियंत्रण बुद्धि नहीं कर सकती। काव्य में बहुत-से स्थल ऐसे होते हैं जहाँ बुद्धि की अग्राह्यता पर ही हमें आनंद मिलता है। वैचित्र्य या चमत्कार की बातें कभी-कभी बुद्धि केलिए अग्राह्य होते हुए भी युक्ति-संगत मालूम पड़ती हैं और अर्थ-बोध की दृष्टि से भी उसमें कोई बाधा नहीं दिखाई पड़ती। साहित्य-शास्त्र के विधाताओं ने वाच्यार्थ से अधिक महत्त्व व्यंग्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ को दिया है, पर यथार्थ रस तो वाच्यार्थ ही देता है। शब्द की इन तीनों शक्तियों का अंतिम उद्देश्य तथ्य-बोध है, किंतु इसी बोध-वृत्ति को प्राप्त करने केलिए हमें भिन्न-भिन्न दिशाओं से जाना पड़ता है। 'देश केलिए मर कर जीना सीखो'—इसमें लक्षणा कष्ट सहने का आदेश देती है, पर अभिधा तो लक्षणा के आदेश के साथ ही अतिरिक्त आनंद भी देती है जो काव्य की वास्तविकता है। 'मरकर भी जीने' के बदले 'कष्ट सहकर भी जीने' में काव्य की दृष्टि से आकाश-पाताल का अंतर पड़ जाता है। 'मरकर भी जीना' बुद्धि को अग्राह्य है, पर अभिधा की इसी अग्राह्यता में काव्य का वास्तविक अर्थ-बोध है—इसे कौन अस्वीकृत करेगा? काव्य में कुछ ऐसे प्रयोग भी

लक्षणा के आधार पर टिके हुए हैं जो बुद्धि के लिए अग्राह्य रह कर भी भाव-संचरण में कोई बाधा उपस्थित नहीं करते। 'अमुक व्यक्ति का पार पाना कठिन है' या 'उसने मेरी बात काट दी'— ऐसे प्रयोगों पर विचार करने से मालूम पड़ता है कि अमुक व्यक्ति समुद्र तो नहीं है, किंतु उसके व्यापार ऐसे हैं जिनको अपनी शक्ति के भीतर लाना कठिन है। किसी की बात भी ऐसी कोई वस्तु नहीं होती जो तलवार या चाकू से काटी जा सके, पर ऐसे प्रयोग का अर्थ इतना ही है कि जैसे किसी वस्तु को काट देने से उसके एक दूसरे हिस्से का जो अविच्छिन्न संबंध है उसका विच्छेद हो जाता है उसी प्रकार किसी बात से उसके अनुसारी परिणाम या कार्य का जो संबंध है वह नहीं रहता।

शब्द-शक्ति के चमत्कार से बुद्धि की अग्राह्यता पर जो आनंद प्राप्त होता है उसका एक दूसरा पहलू भी है। काव्य में इसे हेत्वाभास कह सकते हैं। किसी भी कार्य का जो कारण दिया जाता है वह मूलतः किसी कारण के रूप में नहीं रहता। इससे अर्थ-बोध की दो भिन्न सत्ताएँ मालूम पड़ती हैं, किंतु स्थिति की प्रधानता के कारण एक सत्ता को प्रधान मान लेने पर दूसरी सत्ता स्वतः गौण हो जाती है और पाठकों को एक अभिनव रस का आस्वादन करा देती है। 'साकेत' की उर्मिला लक्ष्मण के विरह से संतप्त होकर चौदह वर्ष के वनवास की अवधि को अपनी स्थिति के रूप में मिटा कर लक्ष्मण से मिलने की कामना करती है। चौदह वर्ष की अवधि काल के स्वाभाविक संक्रमण के रूप में बीतेगी, लेकिन उर्मिला को ही यदि अवधि बनने की शक्ति मिली होती तो वह

अर्थ-बोध और हेत्वाभास

क्षण-भर में ही चौदह वर्ष की अवधि बनकर समाप्त हो जाती। इस समाप्ति के बाद भी वह लक्ष्मण से मिलने की उत्कंठा रखती है। बुद्धिवादी यहां तर्क कर सकते हैं कि यदि उर्मिला चौदह वर्ष की अवधि बन कर स्वयं ही मिट जाती है तो फिर लक्ष्मण से मिलन का सौभाग्य उसे प्राप्त होगा ? जब तक बनवास की अवधि पूरी नहीं होती तब तक लक्ष्मण से मिलन भी संभव नहीं। अवधि बीत जाने पर ही उर्मिला का सौभाग्य चमक सकता है; किंतु उर्मिला स्वयं अवधि बनकर मिट जाने को तैयार है। अर्थ के बाहरी आवरण को देख कर उर्मिला की यह कामना बड़ी असंगत मालूम पड़ती है, किंतु इसके आंतरिक अर्थ पर ध्यान देने से यह मालूम होता है कि उर्मिला को लक्ष्मण के मिलन की इतनी व्यग्र उत्कंठा है कि वह अपने अस्तित्व को भी विलुप्त करने को प्रस्तुत है। बुद्धिवाद केलिए इस प्रसंग में स्थान नहीं रहता। काव्य की रागात्मक प्रतीति का महत्त्व यहाँ इतना बढ़ा हुआ है कि लक्ष्मण का मिलन उर्मिला के अस्तित्व के मूल्य से बढ़ा हुआ है। हेत्वाभास के रूप में ऐसी असंगति का काव्य में कुछ कम प्रयोजन नहीं रहता।

काव्य के अर्थ-बोध के संबंध में एक दूसरे पक्ष पर भी विचार करना है। वाणी पर जब मनोविकारों का प्रभाव पड़ता है तब

वाणी पर मनोविकार का प्रभाव और अर्थ-बोध

उसमें स्वतः ताल और स्वर उत्पन्न होने लगते हैं। यह ताल और स्वर भी अर्थ-बोध की दृष्टि से काव्य के पद के समान ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भिन्न-भिन्न मनोविकार प्रेम, हास, द्वेष, आनंद, आश्चर्य आदि को व्यक्त करने केलिए मनुष्य को अपनी

वाणी में थोड़ा-बहुत स्वर-ताल का अंतर देना पड़ता है। मनोविकारों की इस स्वाभाविक गति ने विकसित होकर संगीत-शास्त्र के विधान में बड़ी मदद पहुँचाई है। गान को जब पद का रूप दिया जाता है तब पद का महत्त्व बढ़ नहीं जाता, गान का लक्ष्य पद नहीं रहता, प्रत्युत् वह अर्थ-बोध के द्वारा मधुरता उत्पन्न करने का साधन-मात्र रहता है। जहाँ पद की पहुँच नहीं होती वहीं स्वर के कार्य का आरंभ होता है। अज्ञेय तथा सूक्ष्म भाव को विशद तथा तीव्र रूप में प्रकट करने की शक्ति गान में पाई जाती है। पदों के साधारण अर्थ को विशेष रूप से प्रभावशाली बनाने के लिए स्वर के सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं है। काव्यगत प्रभाव को विशेष चमताशाली बनाने के अभिप्राय से छंदों का विधान किया गया है। धनुष पर चढ़कर जिस प्रकार वाण अधिक शक्ति-संपन्न और तीव्र बन जाता है उसी प्रकार राग के द्वारा पद विचित्र आकर्षण और शक्ति प्राप्त करता है। अपने सामर्थ्य के बल पर जहाँतक पद नहीं पहुँच सकते, राग की सहायता से वे उस अज्ञात स्थान तक भी पहुँच जाते हैं। राग में मिलकर पद अपने वास्तविक अर्थ का प्रतिपादन करने लगता है। ध्वनि-सामंजस्य के कारण छंद-बद्ध पदों से एक प्रकार का विद्युत् प्रकाशित होने लगता है जो हृदय को विमुग्ध कर देता है। काव्य और राग के विषय में इतना मानना पड़ेगा कि पहले तो राग को काव्य के अधीन रहना पड़ेगा किंतु जब राग की शक्ति विकसित हो जायगी तब काव्य उसके तत्त्वावधान में आ जायगा।

राग से पद को शक्ति-वृद्धि

हृदय का भाव जब अपनी अकर्मण्यता को छोड़कर आनंद

और उत्साह से कर्मण्य बनकर जागरित होता है तब उसके कार्य-क्षेत्र का स्वरूप निश्चित होता है और फिर वह जगत् की समस्त अविच्छिन्न वस्तु के संधान की इच्छा करता है। इस प्रकार वह भाव असीम की ओर जाने के लिए चेष्टा करता है। असीम से ससीम की ओर भाव-धारा को प्रवाहित होने से काव्यगत सत्य की प्रतिष्ठा होती है और तभी वह अपना अर्थ-बोध भी देता है। इस प्रकार की भाव-धारा सदा नियंत्रित रहती है। नियंत्रण के अभाव में सत्य का स्वरूप प्रकट नहीं किया जा सकता। जगत् के विस्तृत क्षेत्र में जो-कुछ है वह सब सत्य है, किंतु उसके द्वारा काव्य में हम सत्य की प्रतिष्ठा नहीं कर सकते। जगत् का जो अर्थ-बोध है वह जितना रहस्य-पूर्ण है उतना रहस्य-पूर्ण रहने से काव्य के अर्थ-बोध की समस्या हल नहीं हो सकती। अपरिमित से निकल कर जब हम परिमित की ओर आते हैं तभी हम काव्य में सत्य की प्रतिष्ठा कर अर्थ-बोध दे सकते हैं। अपरिमित में सत्य नहीं रहता, ऐसा कहना भ्रम-पूर्ण ही नहीं है, प्रत्युत् वहाँ हम अपनी परिमित शक्ति के कारण सत्य को देखने की क्षमता नहीं रखते। परिधि के अंतर्गत आए हुए सत्य में इतनी अधिक रमणीयता उत्पन्न होती है कि वह हमारे हृदय को बरबस आकर्षित करती है। समुद्र में नमक है, यह अस्वीकृत नहीं किया जा सकता, किंतु एक चुल्लू समुद्र का पानी लेकर यदि यह कहा जाय कि चुल्लू-भर नमक ही है तो पूर्णरूप से असत्य न होकर भी वस्तु-स्थिति से यह कथन दूर ही रहेगा। अपरिमित को छोड़कर जब सत्य अपने संकुचित रूप में, काव्य की एक परिधि के अंतर्गत,

असीम तथा ससीम सत्य और अर्थ-बोध

आकर पुनः विस्तृत होने लगता है तब उससे अपने परिचय के कारण हम अभिनव आनंद प्राप्त करते हैं। समुद्र के खारे जल से नमक बनाकर जब हम मीठे पानी में घोलते हैं तब स्वाद के रूप में हमको अपनी चेष्टा का ही परिणाम मिलता है। इसी प्रकार समुद्र के जल का जो सत्य है वह तबतक अस्पष्ट रूप से अपना अर्थ-बोध नहीं देता जबतक हम उसको एक परिधि के भीतर न लाकर पुनः विस्तृत होने केलिए उसे छोड़ नहीं देते।

मनुष्य को साधारणतः अपनी वृत्ति, संस्कार या विचार-पद्धति के अनुकूल ही काव्य का बोध होता है। नवीन और तीव्र अनुभूतिपूर्ण काव्य के मर्म को समझने केलिए केवल विद्वत्ता या उच्च शिक्षा की अपेक्षा नहीं रहती, अभिव्यक्त करनेवाले हृदय के साथ जिसकी पूर्ण सहानुभूति रहेगी वही उस कविता के मर्म को अच्छी तरह समझ सकता है। जो कवि केलिए कुछ सहानुभूति नहीं रखता वह उसकी कृति के साथ न्याय भी नहीं कर सकता। कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जिनकी ग्रहण-शक्ति और भाव-व्यंजना-शक्ति बड़ी निम्न कोटि की होती है। उनकी प्रसन्नता और विषण्णता सर्वदा अतिशय मात्रा में होती है। इस प्रकार की मनोरचना वाले व्यक्ति निर्बल मानसिक शक्ति के होते हैं। उनके चित्त पर किसी साधारण बात का प्रभाव भी तीव्र रूप में पड़ता है। इसका कारण यह होता है कि ऐसे व्यक्ति को विचार करने की क्षमता नहीं होती। किसी की बात को धैर्य-पूर्वक सुनने पर विचार करने की क्षमता के अभाव में वे तत्काल भावावेग से क्रियाशील हो जाते हैं। ऐसे कवि अपने पाठक या श्रोता को—जो कोई भी हों—काव्य के अर्थ-बोध के संबंध में स्थिति स्पष्ट

नहीं करा सकते। कुछ कवि यही समझ कर प्रसन्न होते हैं कि मेरी रचनाओं के समझनेवाले बहुत थोड़े हैं। वे अपने अस्पष्ट भाव को गम्भीर भाव ही समझते हैं। संस्कृत साहित्य में ऐसे बहुत कवि हो गए हैं और वे 'वेद्यः सहृदयेरयम्'—जो सहृदय हैं वे ही इसे समझ सकते हैं—कह कर अपने पक्ष का समर्थन करते हैं। ठीक इसके विपरीत कहनेवाले भी हैं जो 'वक्तुरेवहिदोषः स्याद् यत्र श्रोता न बुध्यते' श्रोता के कुछ न समझने पर वक्ता को ही दोषी बताते हैं। दोनों पक्षों में चाहे जितनी यथार्थता रहे, किंतु इतना तो निश्चित है कि यदि कला अपनी स्थिति में स्पष्ट न रहे तो अपना अर्थ-बोध नहीं दे सकती।

छठा अध्याय

काव्य की प्रेरणा-शक्ति

जीवन क्या है, यह एक ऐसा विषय है जिस पर विवेचन तो बहुत हुआ, किंतु कोई एक निश्चित विचार अबतक प्रतिपादित नहीं किया जा सका। यदि जीवन और उसका उद्देश्य समझ लिया जाय तो उसकी गतिविधि का भी दिशा-ज्ञान हो जा सकता है। मानव जीवन एक ही साथ सामान्य और विशेष भी है। सामान्य इस दृष्टि से कि चित्त की जितनी वृत्तियाँ हैं उनकी चेष्टाएँ प्रायः

जीवन और उसका रहस्य

सब में एक रूप हैं और विशेष इस विचार से कि प्रत्येक मनुष्य अपना कुछ निजत्व तथा व्यक्तित्व रखता है। यदि ऐसा न होता तो असंख्य में एक की गणना संभव न होती। वैयक्तिक मनोविज्ञान मनुष्य के समस्त जीवन का निरीक्षण अपने दृष्टिकोण से करता है। इस मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य अपने जीवन को जिस भाव से देखता है और उसका जो प्रयोजन समझता है उसी का साक्षी उसके जीवन का प्रत्येक कर्म होता है। यह एक तथ्य है कि लोग अपने कामों का समर्थन अपने भावों से करते पाये जाते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी को प्यार करता है तो उसके प्रति सभी कामों में उसी भाव की छाप लगी रहती है। घृणास्पद् के प्रति प्रत्येक कर्म के मूल में तदनुकूल भाव ही अंकित रहते हैं। मनुष्य के भाव उसके मूल दृष्टिकोण से सदैव संगति रखते हैं। यदि ऐसा न हो तो मनुष्य का कोई काम शृंखलाबद्ध तथा युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता।

साधारणतः मनुष्य अपने जीवन का ध्येय लौकिक धन-संपत्ति, मान-मर्यादा, यश-प्रतिष्ठा, सुख-विलास, पुत्र-संतान आदि ही समझता है। इससे अधिक सोचने की न उसे चिंता है, न अवकाश और न इच्छा ही। जीवन की ये स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं।

जीवन का ध्येय—आत्म-विस्तार

मनुष्य की इंद्रियों की बनावट भी बाह्यमुखी है। उनके छिद्र बाहर की ओर हैं १। वे सहज ही अंतर्मुखी नहीं हो सकतीं। अतः

१. पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥
—कठोपनिषद्, २।१

अपनी अंतरात्मा के बदले सांसारिक विषयों की ओर वे अधिक प्रलुब्ध रहती हैं। स्वाभाविक रूप से मनुष्य का जीवन जैसा है उससे निवृत्ति चाहना उसका पारलौकिक उद्देश्य हो जाता है। आध्यात्मिक लक्ष्य—परलोक—को प्राप्त करने केलिए जीवन—लोक—एक साधन-मात्र बन जाता है, और ऐसी दशा में जीवन की परिधि लोक में सीमित न रहकर वृहत्तर—उससे भी बढ़कर असीम—हो जाती है। यही कारण है कि मरणधर्मा मनुष्य अमृतत्व की आकांक्षा करता है, क्योंकि उससे आत्मविस्तार की प्रेरणा उत्पन्न होती है। औसत मनुष्य को अपने जीवन का न तो कोई अर्थ मालूम होता है और न उसके किसी गूढ़ोद्देश्य का पता रहता है। विचार-बुद्धि का साधारणतः स्पष्ट संबंध न रखता हुआ ही उसका जीवन-व्यापार चलता है। मनोविश्लेषण से भी यह बात सिद्ध होती है १। जीवन के पुरुषार्थ-चतुष्टय धर्म,

विषयानंद और ब्रह्मानंद

अर्थ, काम और मोक्ष में काम अपने साथ अर्थ तथा धर्म को समेटता हुआ जीवन के विविध व्यापारों का प्रेरक है और मोक्ष जीवन का निवृत्ति-मूलक लक्ष्य है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जीवन के दो मुख्य ध्येयों में काम विषयानंद का तथा मोक्ष ब्रह्मानंद के

१. Among my patients from many countries, all of them educated persons, there is a considerable number who came to see me, not because they were suffering from a nueurosis, but because they could find no 'meaning of life' or were torturing themselves with questions which neither present day philosophy nor religion could answer...........I too had no answer to give.

C. G. Jung—Modern Man In Search Of A Soul. pp—266—7

प्रतीक हैं १। संस्कृत काम अपना विकास दांपत्य या पारिवारिक जीवन में पाता है और उससे बढ़कर भी वह जीवन की लोकांतर्गत परिधि के भीतर ही रहकर व्यापार करता है। इस काम के पोषण तथा नियंत्रण के लिए अर्थ और धर्म की प्राप्ति वांछनीय समझी जाती है। इस प्रकार काम धर्म, अर्थ तथा काम के रूप में—त्रिवृत् हो जाता है और भक्ति, योग तथा मोक्ष के समन्वय से मोक्ष भी इसी प्रकार एक दूसरे त्रिवृत् में आ जाता है।

१. शांकरमत के यशस्वी प्रतिपादक विद्यारण्य स्वामी ने अपनी 'पंचदशी' में आनंद के कई वर्ग ब्रह्मानंद, निजानंद, विद्यानंद, विषयानंद, वासनानंद आदि किए हैं। आनंद का यह वर्ग-प्रपंच वस्तुतः कोई सार वस्तु नहीं है। उनकी दृष्टि में भी इसका विभाजन केवल तर्क के प्रयोजन केलिए ही है। उन्होंने लिखा है:—

तथा च विषयानंदो वासनानंद इत्यम्।
आनंदौ जनयन्नास्ते ब्रह्मानंद स्वयंप्रभः॥

—पंचदशी, ११,८८

स्वयं-प्रकाश ब्रह्मानंद ही विषयानंद तथा वासनानंद को उत्पन्न करता है। तैत्तिरीयोपनिषद् (२, ५) के भाष्य में शंकराचार्य ने—'आनंद इति परंब्रह्म। तद्धि शुभकर्मणा प्रत्युपस्थाप्यमाने पुत्रमित्रादि विषय विशेषोयाधावन्तः करण वृत्ति विशेषे तमसा प्रच्छाद्यमाने प्रसन्नेऽभिव्यं-जते। तद्विषय सुममिति प्रसिद्धं लोके।' आनंद परब्रह्म का ही वाचक है। वही शुभ कर्म द्वारा प्रस्तुत किए हुए पुत्र-मित्रादि विशेष विषय ही जिसकी उपाधि है उस प्रसन्न अंतःकरण के वृत्ति-विशेष में, जब कि वह तमोगुण से आच्छादित नहीं होता, अभिव्यक्त होता है। वह लोक में विषय-सुख के नाम से प्रसिद्ध है—लिखकर विषयानंद की लौकिक प्रधानता स्वीकृत की है।

मनुष्य की भोग-लालसा अपने जीवन-पर्यंत ही सीमित नहीं रहती। वह अपनी लालसा का विकास-सूत्र अपने पुत्र-पौत्रादि तक बढ़ाना चाहता है। स्थूल भोग के बाद सूक्ष्म भोग से ही मनुष्य की परितृप्ति होती है। चिरकाल तक शाश्वत कीर्त्ति को प्राप्त करने केलिए कभी-कभी मनुष्य अपने जीवन का मोह भी छोड़ देने केलिए तत्पर हो जाता है, किंतु ऐसी स्थिति में भी वस्तुतः जीवन का मोह छोड़ा नहीं जाता। स्थूल जीवन के बाद विश्व में अपने सूक्ष्म जीवन का अस्तित्व कीर्त्ति के रूप में वह चाहता ही है। ऋग्वेद-जैसे प्राचीन ग्रंथ में भी ऋषियों ने शाश्वत जीवन को प्राप्त करने की प्रार्थना की है—हे इंद्र, तू हमें अक्षितश्रव अर्थात् अक्षय कीर्त्ति या धन दे (ऋ० १, ९, ७), हे सोम, तू मुझे वैवश्वत (यम) लोक में अमर कर दे (ऋ० ९, ११३, ८)। चिरकालिक भोग की यह कामना मनुष्य की स्वाभाविकता है। हमारी लोक-कल्याणकारी प्रवृत्ति के मूल में भी यही भोग-लालसा छिपी हुई है। मनुष्य सत्कर्म के नाम पर अनेक कष्टों का सहन करता है, जन-कल्याण के नाम पर जीवनोत्सर्ग तक कर देता है और ऐसे उत्सर्ग का, कभी-कभी, किसी महत्तर उद्देश्य से ही ढोल भी पिटवाया नहीं जाता, किंतु इसके भीतर बहुत छानबीन करने पर, अत्यंत प्रच्छन्न और क्षीण रूप से ही, एक भावना रहती है जो अपने कष्ट, उत्सर्ग आदि का अनुमोदन चाहती है। यदि यह अनुमोदन या स्वीकृति न मिले तो उत्सर्ग का कोई अर्थ भी नहीं समझा जाता। यदि मनुष्य अपने को प्यार नहीं करे तो ज़ीवन में उसे कोई सौंदर्य नहीं मालूम होगा। उससे

भोग-लालसा और उसके स्थूल तथा सूक्ष्म रूप

कुछ भी लोकोपकारी कार्य नहीं हो सकेगा। "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति"—अपने लिए ही पति, पत्नी, पुत्र, वेद, धन, लोक आदि सब प्रिय मालूम पड़ते हैं १। जगत् के किसी भी प्राणी या पदार्थ में जबतक अपनी सत्ता का कोई चिह्न न मालूम हो तबतक उसको प्राप्त करने, उसके संरक्षण या उसके संबंध में किसी प्रकार का भी भाव हृदय में उत्पन्न नहीं होता।

स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ

स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ तीनों की भिन्न-भिन्न विशेषताएँ हैं। स्वार्थ के बिना व्यक्ति का जीवन-धारण असंभव है, परार्थ के बिना समाज-विधान अनिश्चित है और परमार्थ के अभाव में लोक-कल्याण की भावना का विकास ही नहीं हो सकता। जीवन के पोषण, वर्द्धन तथा विकास के सभी तत्त्व हृदय की वृत्तियों के रूप में वर्तमान हैं। स्वार्थ व्यक्तिवाद का उत्पादक है और

१. वृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद में इस तथ्य का बड़ा रमणीय प्रतिपादन किया गया है—

'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवंत्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवंति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवंत्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवंति। न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवंत्यात्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवंति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'

—बृह० उप०, ४, ५, ६।

परार्थ समाजवाद की स्थापना करता है। इन दोनों से बढ़कर परमार्थ है जो हमारी दृष्टि की परिधि को विस्तृत कर विश्वबंधुत्व की सीमा पर पहुँचा देता है। मूल रूप में मनुष्य स्वार्थी है, इसी कारण परार्थ और परमार्थ के अंतर्गत कहीं-न-कहीं स्वार्थ अवश्य छिपा बैठा पाया जाता है। जबतक स्वार्थ की प्रेरणा न हो तबतक जीवन में कोई क्रिया, कोई द्वंद्व लक्षित नहीं होता। महत् प्रेरणा-शक्ति पाने के लिए महापुरुष भी स्वार्थ मान कर ही परार्थ का संपादन करते हैं १। मनुष्य की यह उत्कोच-प्रियता स्वाभाविक है, चाहे वह स्थूल रूप में हो या सूक्ष्म में। भूमि, द्रव्य, वस्तु आदि की प्राप्ति स्थूल स्वार्थ है और यश, प्रशंसा, कीर्त्ति आदि सूक्ष्म स्वार्थ हैं। स्थूल से सूक्ष्म सदा तीव्र तथा व्यापक होता है। भारतीय भावना के अनुसार यशोकांक्षी महत् माना जाता है, क्योंकि उससे लोक-कल्याण की संभावना बहुत बनी रहती है। जो यश का इच्छुक है उसके व्यापार भी वैसे ही होंगे जिनसे लोक की सुख-समृद्धि बढ़े। यश-लिप्सा में आसक्ति कुछ बढ़ी रहती है, किंतु इसका अतिरेक न किया जाय तो घबड़ाने की आवश्यकता नहीं। घबड़ाने और चिंता करने की बात तब हो जाती है जब जीवन की सुविधाएँ प्राप्त करने केलिए यश तथा प्रशंसा के व्यापार चलाये जावे हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्तिगत स्वार्थ तो प्रधान लक्ष्य रहता है, किंतु अपने जीवन की सुगमता को ठगकर लेने केलिए लोक-कल्याण का आवरण ओढ़ लिया जाता है। स्वार्थ की यह असाधु प्रकृति है।

१ स्वार्थोहि यस्य परार्थः स एव अग्रणी पुमान्।

—भर्तृहरि

सद्प्रवृत्ति की भी एक मर्यादा मानी गई है। यदि परार्थ या परमार्थ को ही जीवन-लक्ष्य मान लिया जाय तो गति आगे नहीं बढ़ सकती। परार्थ या परमार्थ के साधन केलिए अपने अस्तित्व की रक्षा स्वार्थ पर ही टिकती है—'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'—सब धर्मों का साधन शरीर ही है। किंतु प्रश्न है पूँजी के उपयोग का। अपनी पूँजी की रक्षा करते हुए लोक-कल्याण में प्रवृत्त होना धर्म-संगत है और प्रकृति-संगत भी। किसी भी बात की अति न हो, इसको बचाने के लिए मध्यम मार्ग पकड़ना चाहिए। जिस बात, जिस उपाय से अधिकांश लोक का अधिकतम हित हो वही सत्य है १। इस भारतीय भावना की पश्चिमी प्रतिध्वनि मिल के उपयोगितावाद २ के रूप में हुई। व्यक्ति-भेद की दृष्टि से पूर्व और पश्चिम के जातीय संस्कार भिन्न-भिन्न ही बने रहे। भारतीय मनुष्यत्व त्रिमूर्त्यात्मक है। उसमें पति, पत्नी तथा संतान तीनों के समन्वित अवयव की भावना समाज का विधान करती है, परंतु पश्चिमी समाज-शास्त्री व्यक्तिगत सत्ता को ही समाज का आरंभक अणु मानते हैं। भारतीय जीवन की यह विशेषता उसकी संस्कृति, सभ्यता, ज्ञान, वैराग्य, मित्रता, शत्रुता आदि सब में पाई जाती है। पूर्व और पश्चिम के मूल में जो अंतर है वह दोनों की विस्तार-

स्वार्थ—जीवन का प्रेरक और समाज-शास्त्र

१. आश्रयेन् मध्यमां वृत्तिमति सर्वत्र वर्जयेत्।
यल्लोकहितमत्यंतं तत्सत्यमिति न श्रुतम्॥
—महाभारत, शांति०

2. Mill—Utilitarianism.

परिधियों में भी स्पष्ट है। ऋषि-कल्प भारतीय सामाजिकता समस्त मानवता को अंगीभूत कर लेती है, लेकिन पश्चिमी सामाजिक भावना राष्ट्र के क्षितिज के बाहर न जा सकी हैं।

सेंद्रिय जीव की आवश्यकताएँ—प्रसव तथा पोषण

समस्त सेंद्रिय जीव को दो आवश्यकताएँ सदा रहती हैं—प्रसव और पोषण। प्रसव के लिए एक दूसरे का सहयोग अपेक्षित होता है और पोषण के लिए जीवन में द्वंद्व करना पड़ता है, एक दूसरे का संहार होता है। जीवन की सारी विविधताएँ इन दोनों तत्त्वों पर केंद्रित हो जाती हैं। इनके अतिरिक्त जीवन में जो भावनाएँ, जो आकांक्षाएँ होती हैं और मानी जाती हैं वे भी प्रसव तथा पोषण के नाना रूपांतर ही मानी जा सकती हैं। अस्तित्व की रक्षा और विकास की दृष्टि से जीवन में अगणित पाप-पुण्य का सृजन-विसर्जन करना पड़ता है। अस्तित्व का निश्चय होते ही उसकी वृद्धि तथा विकास की चिंता होती है। अपने पाँवों पर अच्छी तरह खड़ा होने के पहले ही बालक चलने की चेष्टा करने लगता है। आत्म-विस्तार की यह भावना मनुष्य के प्रत्येक विचार, प्रत्येक कर्म में रहती है। व्यापक रूप से जो अपना आत्म-विस्तार करता है वह चराचर में एक आत्मरूप देखता है। समस्त मानव-समाज को विश्व-बंधुत्व की भावना से देखना यही दृष्टिकोण है। जिसमें हृदय की इतनी विशालता नहीं होती, वह एक छोटी-सी मानव-परिधि के भीतर ही क्षमा, दया, स्नेह, कृपा, त्याग, उपकार आदि के द्वारा अपने अस्तित्व की सत्ता को दूसरों पर प्रत्यक्ष कर अपनी वृद्धि और व्यापकता बढ़ाता है।

काव्य में मनुष्य अपने आत्म-विस्तार के द्वारा समस्त मानवता को एक सामान्य कोटि के भीतर लाता है। "अविभक्तं विभक्तेषु"—अनेकता में एकता देखना काव्य की अपनी दृष्टि है। साधारणीकरण का यही काव्यगत तात्पर्य है। एक जीवन में जो भावनाएँ, कल्पनाएँ, संकल्प, विकल्प हैं वे दूसरों में भी प्रायः उसी प्रकार क्रियाशील रहते हैं। जितने नैसर्गिक भाव हैं वे आत्म-विस्तार की भावना से ही उत्थित होते हैं और जितने बुरे भाव हैं वे आत्म-संकोच करते हैं। पाप एक अनुभव है, किंतु पुण्य एक शक्ति है। क्रोध और लोभ के ही तात्त्विक स्वरूप के विश्लेषण से इसका पता चल सकता है। अपने दुख के किसी सजीव कारण को जान कर उसके प्रति मन में जो विकार पैदा होता है उसे क्रोध कहते हैं। अपने दुख से, अपनी हानि के कारण, हम दूसरों पर उबल पड़ते हैं और इस प्रकार क्रोध से हम अपने अस्तित्व को यथावत् रखने की चेष्टा करते हैं। क्रोध का एक और स्वरूप है जो अधिक विस्तृत तथा व्यापक होता है। अपनी व्यक्तिगत कुछ हानि न होने पर भी लोक-कल्याण की दृष्टि से दुष्टों पर क्रोध किया जाता है। ऐसा क्रोध दैवी सम्पद् है, किंतु वहाँ भी लोक-कल्याण के साथ आत्म-संबंध लगा हुआ है। यदि लोक में अपना आत्म-विस्तार न किया जाय तो उसके कल्याण की भावना ही कैसे उठ सकती है! क्रोध का यह सात्विक रूप जगत् में दुर्लभ रहता है। लोभ अपने जीवन की रक्षा तथा पोषण के लिए किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा है। ऐसी इच्छा

अनेकता में एकता—काव्यदृष्टि

प्रत्येक भाव के दो पक्ष

संकुचित समझी जाती है, पर होती है बड़ी वेगवती। जगत् के कल्याण के लिए भी किसी वस्तु को प्राप्त करने का लोभ होता है, पर ऐसा लोभ तो विशेषतः दुर्लभ है। क्रोध और लोभ के आलंबन में चेतन और जड़ का भेद आवश्यक है। जड़ पर क्रोध व्यंजित करना जड़त्व का सूचक है और चेतन पर लोभ करना प्रेम का परिचायक। इस प्रकार क्रोध और लोभ के विश्लेषण से उनके दोनों पक्ष दिखाई पड़ते हैं। जितने भी बुरे भाव हैं और जो शास्त्रीय पद्धति से षड्रिपु के नाम से पुकारे जाते हैं उनका उपयोग भी देश-काल-पात्र के अनुसार मंगलमय किया जा सकता है और अच्छे भावों का भी दुरुपयोग तदनुकूल हो सकता है। काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मत्सर के राग और द्वेष की दृष्टि से दो विभाग हो जाते हैं। काम, लोभ तथा मोह राग-पक्ष के और क्रोध, मद तथा मत्सर द्वेष-पक्ष के अंतर्गत लिए जाते हैं। प्रकृति में आकर्षण और विकर्षण का जो नियम है वही जीवन में राग और द्वेष के नाम से माना जाता है।

प्रत्येक मानव हृदय की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह अधिकतर अपनी व्यापकता बढ़ावे और उसके साथ ही दूसरे के प्रभाव से अपने व्यक्तित्व की एकनिष्ठा बचाने की चेष्टा भी करता रहे। विस्तारण और संकोचन, आकर्षण और विकर्षण के मध्य में मनुष्य का जीवन प्रतिक्षण अतिवाहित होता है। अपने भाव, अपने विचार से दूसरों को व्याप्त कर अपनी मर्यादा के विकास की लालसा जितनी तीव्र रहती है, बाह्य प्रभाव से अपनी रक्षा की चिंता भी उससे कम नहीं होती। दूसरे के ऊपर अपना

जीवन की व्यापकता और बाह्य प्रभाव से अपनी रक्षा

प्रभाव स्थापित करना अपने अस्तित्व की विजय समझी जाती है। जो दूसरों का आकर्षण करता है वह अपनी प्रतिष्ठा को भी निश्चित रखना चाहता है। जीवन का यह द्वंद्व बहुत क्षमताशील है। जो निर्बल है, अक्षम है वह अपने अस्तित्व की रक्षा, अपनी विशेषता की प्रतिष्ठा नहीं कर सकता। महापुरुष के व्यक्तित्व के आकर्षण से खिंचकर साधारण मनुष्य अपने भाव-विचार को समर्पित कर देता है और इस प्रकार जीवन की सारी कर्मण्यता को ही वह उसी आदर्श की ओर उन्मुख कर देता है। आत्म-विस्तार का यह आध्यात्मिक रूप है। जाति और देश की बढ़ी-चढ़ी शिक्षा, सभ्यता, संस्कार, शक्ति के कारण दूसरी जाति तथा देश अपने विशेषत्व का निर्वाह नहीं कर सकते और अंत में इच्छा या अनिच्छा से उन्हें आत्म-समर्पण करने को वाध्य होना पड़ता है। महत्त्वाकांक्षा की प्रवृत्ति रहने पर भी सब में वैसी मनीषिता नहीं होती।

साधारण जीवन और नियम-विधान

साधारण जन अपने जीवन की गति-विधि के लिए ऐसा कुछ बना-बनाया नियम चाहता है जो उसे दिशाच्युत होकर इधर-उधर भटकने न दे। सब के पास न गवेषणा की शक्ति रहती है और न नियम-विधान की प्रर्याप्त बुद्धि। नियम भी स्वतः पूर्ण नहीं होता। उसे भी अपनी स्थिति के लिये पिछले अनुभवों का आधार लेना पड़ता है। ऐसी दशा में यह आशा ही कैसे की जा सकती है कि प्रत्येक मनुष्य अपने वर्त्तने केलिए कुछ-न-कुछ नियम बना लेगा। यदि ऐसा संभव होता तो जातीय जीवन में अभी जो एकरूपता देखने में आती है वह नहीं दिखाई

देती। जातीय जीवन की रक्षा के लिए मनुष्य की यह कृपा नहीं, उसकी असमर्थता है। उसे अपने अस्तित्व के लिए दूसरों का आधार लेना ही पड़ता है। आकांक्षा, चिंता, वासना आदि से प्रताड़ित जीवन में मनुष्य सदैव अपनी विचार-शक्ति को स्थिर नहीं रख सकता। वह अतीत जीवन का कोई ऐसा सूत्र चाहता है जो उसका मार्ग-प्रदर्शन करने में समर्थ हो सके। इस प्रकार मार्ग-प्रदर्शन के कठिन कर्म से अपनी शक्ति और ओज को बचाकर वह अपने जीवन तथा जगत् के द्वंद्व में लगता है। उसकी एक स्वाभाविक निर्बलता यह भी होती है कि वह अपने तर्क, निर्णय, विचार को सर्वांशतः पुष्ट तथा निर्विवाद नहीं समझता। इसी कारण बहुधा वह अपने निर्णय को आर्ष वचन के अनुकूल या किसी परंपरा से समर्थित समझाने की चेष्टा करता है। मनुष्य अपनी दुर्बलता को भी किसी सिद्धांत पर या किसी महापुरुष के चरित्र-दोष की ओट दे देता है। जीवन की इसी असमर्थता से परंपरा चलती है और जातीय जीवन में एकरूपता आती है।

मनीषी और क्षमताशील पुरुष को अपने आत्म-विस्तार में ही यथार्थ सुख मालूम पड़ता है। हमारी भावनाएँ जब दूसरे हृदय में पहुँच कर स्थान पाती हैं, रमण करती हैं, तब हमें आनंद प्राप्त होता है। इसी प्रकार अपनी सत्ता को व्यापक बनाकर जगत् के अणु-परमाणु के साथ तादात्म्य कर देने से 'भूमा' सुख मिलता है। जीवन की यह परमावधि और अंतिम लक्ष्य है। सृष्टि के साथ अपनी सत्ता के एकात्म्य का अनुभव ही सत्य है और उसी स्थिति

आत्म-विस्तार का प्रयत्न

में जगत् तथा मानवता के लिए आत्मोत्सर्ग करना सरल हो जाता है, क्योंकि उस समय व्यक्तित्व संकुचित नहीं, निस्सीम रहता है। मरण से भीत होने का कारण जीवन का मोह है, उसके अंत की अनिच्छा है, किंतु जब इस मोह का संकुचित आवरण हट जाता है तब न वह मोह रहता है और न वह अनिच्छा ही बनी रह पाती है। अनंत सत्ता के साथ अपने व्यक्तित्व को मिला देने में जीवन का अंत नहीं होता, प्रत्युत् वह भी अनंत ही हो जाता है। मृत्यु सीमा की होती है, असीम तथा अनंत की नहीं। जीवन का परम उद्देश्य ही अभिव्यक्ति करना है। व्यक्ति से यही तात्पर्य है। अपनी भौतिक सीमा को असीम के साथ मिलाना है। भौतिकता के पोषण को ही लक्ष्य बनाना भाषा को केवल व्याकरण-विधान मानना है। व्याकरण की सार्थकता भाषा को गति देने में है, उसे अवरुद्ध करने में नहीं। भौतिक जीवन भी एक साधन है जो सृष्टि में अपनी गति का प्रयत्न करता है।

अंतःकरण और उसके कार्य

मनुष्य के अंतःकरण का स्वरूप जैसा होता है उसकी भावनाएँ भी तदनुरूप ही होती हैं। "अनंत वै मनः। अनंतः विश्वेदेवाः"। मन की अनंत वृत्तियाँ होने के कारण इस जगत् में भी अनंत शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। उन अनंत मानसिक वृत्तियों के आधार पर ही मनुष्य[१] अपनी कलात्मक अभिरुचि का परिचय

१. मनुष्य-संज्ञा के लिए यास्क ने अपने निरुक्त में जो व्युत्पत्त्यार्थ दिया है वह इस प्रकार है—'मनुष्यः कस्मान्मत्वा कर्माणि सीव्यंति, मनस्य मानेन सृष्टाः' (निरुक्त ३।७।१) मनुष्य क्यों नाम पड़ा ? परिणामादि का विचार कर कर्मारंभ करने के कारण मनुष्य-संज्ञा प्रसिद्ध हुई।

सृष्टि रूप में देता रहता है। यह एक सत्य है कि स्थूल से सूक्ष्म अधिक व्यापक तथा अधिक चिरंतन होता है। काव्य की प्रेरणा एक सूक्ष्म अंतर्वृत्ति है। भाव सूक्ष्म है, कल्पना सूक्ष्म है, इसी कारण उसका प्रभाव भी शाश्वत और अंतर्व्यापी होता है। स्थूल भी जब हृदय पर प्रभाव-संपन्न होता है तब सूक्ष्म भावना के बल पर, सूक्ष्म कल्पना के रूप में ही गतिशील रहता है। काव्य का यही सारतत्त्व है। अनादि से अनंत जीवन का सबंध-सूत्र इसी सूक्ष्म तंतु पर अवलंबित रहता आया है। बुद्धि सहजानुभूति से गौण है, सिद्धांत अनुभव से और बाह्य अभिव्यक्ति अंतर्वृत्ति से। काव्य जीवन-प्रकृति का अंतर्दर्शन है, उसकी अनुभूति है। यह अनुभूति कोई भावुकता-जन्य स्फूर्त्ति नहीं, न कोई आध्यात्मिक कल्पना है, बल्कि अखंड मानव-जीवन के व्यक्तित्व की अनुभूति है। इसी कारण काव्य किसी देश, जाति या वर्ग-विशेष कर प्रतिनिधित्व नहीं करता। समस्त मानव जीवन की अनुभूति होने के कारण ही वह इतना व्यापक तथा रस-ग्राह्य होता है।

अंतःकरण और चित्त

जीवन की गहन अंतर्वृत्ति के मूल में जो द्वंद्व छिपा है उसके विवेचन से ही जगत् के नाना व्यापार की प्रेरणा है। बुद्धि मनोवृत्तियों का नयन है, प्रेरक नहीं। मनुष्य का कोई भी काम बुद्धि की शुद्धता के अभाव में पवित्र नहीं हो सकता। मन और बुद्धि के अतिरिक्त अंतःकरण और चित्त शब्द भी ऐसे हैं जिनसे जगत् के विधायकत्व का परिचय मिलता है। अंतःकरण का अर्थ भीतर की ओर है, अतः उसमें सामान्यतः मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार

आदि का समावेश हो जाता है, पर जब मन बाह्य विषयों का ग्रहण या चिंतन करने लगता है तब वह चित्त हो जाता है१। अहंकार बुद्धि का ही एक भाग है। मानव अहंकार का सूक्ष्म यंत्र रचा ही इसलिए गया है कि मनुष्य इस विलक्षण पार्थक्य और वैशिष्ठ्य को दृढ़ तथा केंद्रीभूत करे। मनुष्य में जो कुछ है, अंतःकरण और उसके धर्म, शरीर और उसके धर्म, सब उसकी प्रकृति से ही विहित है। व्यवसायात्मक बुद्धि तथा वासनात्मक बुद्धि दोनों में एक गुण-समीक्षा करती है और दूसरी कर्म की इच्छा उत्पन्न करती है।

मूल प्रकृति और इंद्रियाँ

व्यवसायात्मक बुद्धि और अहंकार दोनों व्यक्तगुण जब मूल साम्यावस्था की प्रकृति में उत्पन्न हो जाते हैं तब प्रकृति की एकता बनी नहीं रह पाती और अनेक पदार्थों की उत्पत्ति होने लगती है। जब इस प्रकार मूल और अवयव-रहित एक ही प्रकृति में उन गुणों का आविर्भाव होने लगता है तब विविध और अवयव-सहित

१. पातंजल योगदर्शन के अनुसार चित्त का अवस्थान इस प्रकार बताया गया है—नाभि के ऊपर दश अंगुल परिमित देश में अष्टदल रक्त वर्णवाला एक पंच छिद्र-युक्त कमल है। इसी का नाम हृदय-पद्म है। इस कमल का मुख नीचे की ओर तथा उसकी मृणालिका ऊपर की ओर है। इस अधोमुख पद्म को प्रथम रेचक प्राणायाम के अभ्यास से ऊर्द्ध्वमुख तथा प्रफुल्लित किया जाता है। इस ऊर्द्ध्वमुख पद्म के मध्य में सूर्य-मंडल 'अ' कार तथा जाग्रत स्थान है; उसके ऊपर चंद्र-मंडल 'उ' कार तथा स्वप्न स्थान है, उसके ऊपर वह्नि-मंडल, 'म' कार तथा सुषुप्ति स्थान है। उसके भी ऊपर आकाश-स्वरूप ब्रह्मनाद तथा अर्द्धमात्र तुरीय स्थान हैं। हृदय-कमल के बीजकोश में ऊर्द्ध्वमुखी एक ब्रह्मनाड़ी है जिसे सुषुम्ना कहते हैं। यही चित्त का निवास-स्थान है।

द्रव्यात्मक व्यक्तरूप प्राप्त हो जाता है। मूल प्रकृति के अहंकार के कारण दो शक्तियाँ जाग्रत् होती हैं जिनमें सेंद्रिय प्राणी की सृष्टि तथा निरिंद्रिय पदार्थ बनते हैं। इस प्रकार अहंकार अपनी शक्ति से जब भिन्न-भिन्न पदार्थ उत्पन्न करने लगता है तब सत्त्वगुण के उत्कर्ष से पाँच ज्ञानेंद्रियाँ, पाँच कर्मेंद्रियाँ, एक मन कुल ग्यारह और तमोगुण के उत्कर्ष से निरिंद्रिय सृष्टि के पाँच तन्मात्राद्रव्य उत्पन्न होते हैं। यदि बुद्धि और अहंकार को निश्चेष्ट रहने दिया जाय तो जगत् के विविध व्यापार की प्रेरणा भी निश्चेष्ट-सी पड़ी रहेगी। सूक्ष्म विश्लेषण से यह पता चलता है कि भाव भी बुद्धि की प्रतिक्रिया-मात्र है। ज्ञान ही हमारी सीमा है। मस्तिष्क में जबतक बाह्य जगत् का कुछ विकार उत्पन्न नहीं होता तबतक मन में भी उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। इस प्रकार मानसिक विकार सदा एक प्रतिक्रिया के रूप में ही उत्पन्न होता है १। जगत् और जीवन के व्यापार मुख्यतः मनुष्य की बाह्य परिस्थितियों पर अवलंबित हैं।

व्यक्तिगत जीवन की तात्त्विक विवेचना करने पर बहुधा यह पता चलता है कि प्रिय-से-प्रिय मित्र के हृदय में भी कुछ ऐसी

१ बुद्धिरात्मा मनुष्यस्य बुद्धिरेवात्मनोगतिः।
यदा विकुरुते भावं तदा भवति सामनः॥

[म० भा० शांति० २९४]

बुद्धि ही आत्मा है। आत्मा की गति, आत्मा का स्फुरण, आत्मा की ज्योति का ही नाम बुद्धि है। बुद्धि ही जब किसी विशेष भाव को पकड़ती है तब मन हो जाती है।

भावनाएँ स्थित हैं जो जान लेने पर हमें उससे घृणा करने को बाध्य कर सकती हैं और परम-से-परम शत्रु के हृदय में भी कुछ ऐसी भावनाएँ रहती हैं जिनका पता यदि लग जाय तो हम उसे प्यार करने से अपने को रोक नहीं सकते। द्रव्य और भावना से निर्मित जीवन में समान तत्त्व की स्थिति से ही हमें भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व में भी मूल प्रकृति की एकरसता मालूम होती है।

व्यक्तिगत जीवन और प्रच्छन्न भाव

हमारे हृदय में जब कोई मनोविकार उत्पन्न होता है और उसका प्रभाव किसी दूसरे हृदय पर पड़ता है तभी कोई प्रतिविकार उत्पन्न होता है। व्यक्तिगत जीवन के विकास में जिसकी इच्छा जितनी ही तीव्र होती है वह व्यक्ति उसके अनुरूप ही उतना विशेष बनता है। महत् व्यक्तित्व और कुछ नहीं, महदिच्छा है। मनुष्य-जीवन के उत्थान-पतन का रहस्य उसके मन में ही है। जीवन में सुख-दुख का जो इतना संश्रय दिखाई पड़ता है वह जीवन के साथ जब अपना संबंध-विच्छेद कर लेता है तब उस सुख-दुख को निराश्रित हो जाना पड़ता है। अपने अस्तित्व को उससे पृथक् समझ लेने पर न दुख रहता है, न सुख। किंतु सामान्य जीवन में ऐसी विदेह-वृत्ति संभव नहीं होती। स्वप्न में हमें जो सुख-दुख भोगना पड़ता है वह जाग्रदवस्था में नहीं होता, क्योंकि स्वप्न का जो अहम् है वह जगने पर बदल जाता है। इसी कारण स्वप्न की सारी भावनाएँ जाग्रदवस्था की भावनाओं के साथ स्पष्ट संबंध नहीं रखतीं। हम जो कुछ करते हैं वह किसी कारण से और जबतक उस कारण से हम मुक्त नहीं होते तबतक उस कर्म के कारण से भी हमारा पिंड नहीं छूट सकता।

मनुष्य के हृदय में जितनी भावनाएँ उठती हैं उनकी परिणति प्रत्यक्ष जीवन में एक दूसरे ही ढंग से हुआ करती है। मनुष्य की बहुत-सी उदार भावनाएँ अपनी कल्पनात्मक सत्ता को छोड़कर बहुधा क्रियात्मक रूप प्राप्त नहीं कर सकतीं। संसार में ऐसे बहुत मनुष्य हैं जो हृदय के उदार कहे जाते हैं, किंतु उनकी उदारता सर्वत्र और सर्वांशतः जीवन के कठोर सत्य को ग्रहण नहीं कर सकती। जिसके हृदय में अगाध करुणा है, अपरिमित ममता है वह भी अपनी करुणा और ममता को जगत् के कल्याण-साधन में प्रवृत्त नहीं कर पाता। उसके सामने ऐसी बहुत-सी बाधाएँ आ खड़ी होती हैं जिनके कारण वह अपनी भावनाओं को क्रिया-तत्पर नहीं कर सकता। बहुत कवि ऐसे हैं जिनकी रचनाओं को पढ़ने से देश तथा जाति के प्रति अतुल भक्ति झलकती है, किंतु प्रत्यक्ष जीवन-संग्राम में वे कुछ नहीं कर पाते। उनकी रचनाएँ देश-भक्ति, जाति-प्रेम के नाम पर बड़े सम्मान के साथ जनता की जिह्वा पर विराजती हैं, किंतु बाँसुरी बजानेवाला कवि लाठी लेकर खेतों की मेंढ़ पर नहीं जाता। अपनी वाणी के द्वारा जो कुछ भाव प्रकाशित किया गया रहता है उसके अतिरिक्त कुछ करने की प्रेरणा उन्हें नहीं होती। इस प्रकृति के कुछ अपवाद भी हैं जैसे कुछ और नियमों के हुआ करते हैं। भावों की जो विशिष्टता है वह क्रिया की विशेषता से अलग है। मनुष्य चाहे कितना ही बुद्धिमान् क्यों न हो, अपने देश, जाति की दुर्दशा का चाहे कितना भी ज्ञान उसे क्यों न हो, किंतु जबतक उसकी क्रियात्मक मनोवृत्तियाँ जाग्रत् नहीं होतीं

कल्पनात्मक तथा क्रियात्मक भाव

तबतक वह कुछ करने में समर्थ नहीं हो सकता। कल्पनात्मक भावना से हम दूसरों को प्रेरित कर सकते हैं, परंतु रचनात्मक मनोवृत्ति के अभाव में हम स्वयं प्रेरित नहीं हो सकते।

भावाधिक्य के समय मनुष्य वाणी और क्रिया दोनों रूप से अपने को प्रकट करने की चेष्टा करता है। यदि प्रवृत्ति में तीव्रता नहीं रही तो साधारणतः वह वाणी या क्रिया दोनों में से एक के द्वारा ही अपने मनोभाव को प्रकट करता है। लेकिन तीव्र मनोभाव को इससे परितोष नहीं होता, वह अपने को प्रकट करने केलिए जितने भी साधन संभव हो सकते हैं उनका उपयोग करता है। प्यार या घृणा करना यदि साधारण स्थिति में है तो वाणी के रूप में या अनुभाव के द्वारा दिखलाया जा सकता है, किंतु उसमें थोड़ी-सी भी उष्णता रहने पर चेष्टा बदल जाती है। अनुकूल क्रिया के साथ-साथ जब वाणी के रूप में "मैं तुम्हें प्यार करता हूँ या मैं तुमसे घृणा करता हूँ" के उद्गार निकल पड़ें तब समझना चाहिए कि भाव साधारण स्थिति में नहीं है, उसमें क्रिया-तत्पर होने केलिए पर्याप्त शक्ति आ गई है। क्रोध की साधारण स्थिति में मनुष्य या तो केवल गालियाँ बकता है या मारपीट कर बैठता है, लेकिन क्रोधावेश में वह दोनों ही करता है। उस समय ऐसा मालूम होता है जैसे उसने आसमान का ही अपने सर पर उठा लिया हो।

भावाधिक्य में वाणी और क्रिया का योग

भाव को जब संचरण का क्षेत्र नहीं मिलता तब वह लौट कर हृदय में प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। जीवन में घृणा से प्रेम

और प्रेम से घृणा के व्यापार देखे गए हैं। प्रिय में जब भावुकता को विकास का क्षेत्र नहीं मिलता, उसका वहाँ सत्कार नहीं होता तब तिरस्कृत भावुकता हृदय में वापस आकर विद्रोह करती है। घृणा का भाव घृणास्पद् में पहुँच कर जब अपना अनुकूल वातावरण नहीं बना सकता तब वह भी मन में प्रतिविकार उत्पन्न करता है कि उसका उपयोग समुचित तथा यथा-स्थान नहीं हुआ। एक सीमा तक यदि प्रवृत्ति को अपने विकास केलिए क्षेत्र नहीं मिला तो शरीर और मन पर उसका बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है और उस प्रवृत्ति का संस्कार मलिन होने लगता है। भारतीय शास्त्रों ने इसी कारण धर्म का भी एक प्रवृत्ति-प्रधान रूप माना और जीवन में उसके क्षेत्र की व्यवस्था कर दी है १। जहाँ भाव को क्रिया के रूप में गति नहीं मिलती वहाँ वह आशा, आकांक्षा, उत्सुकता बनकर बौद्धिक चेतना की परिधि के भीतर शक्ति-संचय करता है और इस प्रकार धीरे-धीरे जीवन को निष्क्रिय तथा कल्पनाशील बना देता है। आधुनिक मानव जीवन में यह बात अधिकतर देखी जाती है। काल्पनिक भावुकता का यही मूल है। जीवन के बहुत-से सुख-दुख का अस्तित्व केवल काल्पनिक आधार पर ही टिका रहता है। एक मामूली-सी बात, एक छोटी-सी घटना जो थोड़े-

भावों की प्रतिक्रिया और उसका परिणाम

१. India has known for centuries what Freud is popularising in Europe that repressed desires are more corrupting in their effects than those exercised openly and freely.

Sir S. Radhakrihnan ;—The Hindu View of Life. p. 83.

से धैर्य, तनिक-सी शांति के अवलंबन से मिटाई जा सकती है एक बवंडर की तरह फैल जाती है और केवल व्यक्तिगत जीवन को ही नहीं, समस्त देश, जाति, समाज को भी उद्वेगशील बना देती है।

जीवन में कल्पनात्मक तथा क्रियात्मक भावों की विवेचनात्मक समीक्षा करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि काव्य में हमारा भाव निष्क्रिय तथा आपद्-रहित रहता है, परंतु क्रियात्मक जीवन में वह सक्रिय और आपद्-संभावित हो जाता है। काव्य के किसी करुणापूर्ण अंश को पढ़कर या सुनकर बैठे-बैठे ही हम अपनी विभूति बिखेर दे सकते हैं, लेकिन प्रत्यक्ष जीवन में बिना सक्रियता के यह संभव नहीं। अपनी करुणा की मर्यादा-रक्षा के लिए हमें हाथ-पैर हिलाना पड़ता है, धन-संपत्ति का त्याग भी संभावित रहता है। इसी कारण अपने स्वत्व का त्याग प्रत्येक दिशा तथा प्रत्येक दशा में मनुष्य नहीं दिखा सकता। यों तो संसार में ऐसे लोग भी मौजूद हैं जो कल्पनात्मक करुणा के आधार पर भी किसी दुखी-विपन्न के साथ मौखिक सहानुभूति नहीं दिखा सकते। यह मनुष्य की सामान्यता नहीं। इसका एक दूसरा पहलू भी है। जब भाव का ज्वार आता है और क्रिया-तत्पर होने की प्रेरणा होती है तब मनुष्य अपने को अपनी सीमा के भीतर रखने में समर्थ नहीं हो पाता और वह अपने भाव के अनुसारी परिणाम को भोगने केलिए, अपने स्वत्व का परित्याग करने केलिए प्रस्तुत हो जाता है। कल्पनात्मक भावों से जिसे संतोष नहीं होता वह क्रियात्मक

प्रत्यक्ष जीवन और काव्य में भावों की परिणति

पक्ष के लिए भी तैयार हो जाता है। जिसकी करुणा काव्य में ही सीमित नहीं रह सकती वह बाहर में भी अपना वैभव दिखलाता है। जो अपनी निष्ठुरता को कल्पना-जगत् में ही बँधा नहीं रख सकता वह समर्थ रहने पर प्रत्यक्ष जगत् में भी उसका प्रदर्शन करता है। मनुष्य के हृदय में कुछ भाव विलास के रूप में अलंकृत रहते हैं और कुछ क्रिया की विशेषता के साथ प्रकट होते हैं। जगत् के जितने व्यापार हैं उनमें से एक भी भावना-शून्य नहीं १। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रत्येक व्यापार के साथ इच्छा का संबंध है। काव्य में हम भावों के उत्थान-पतन के द्वारा अपनी काल्पनिक विलास-वृत्ति को परितुष्ट करते हैं और जगत् के विविध व्यापार के रूप में हम अपने भावों की क्रियात्मक सत्ता दिखाते हैं।

स्वपीड़न और परपीड़न

मनुष्य में कुछ ऐसी मनोवृत्तियाँ भी पायी जाती हैं जो बाह्यतः विचित्र-सी लगती हैं। एक मनोदशा वह है जब मनुष्य दूसरे को दुख देने में, निष्ठुरता-पूर्वक आघात करने में प्रसन्न होता है और दूसरी प्रवृत्ति वह है जब मनुष्य अपने ऊपर ही पीड़ा का भार लेने में आनंद का अनुभव करता है। काम-वासना के क्षेत्र में ऐसी मनोवृत्तियाँ प्रत्यक्ष रहती हैं। महदुद्देश्य को लेकर परोपकार की भावना से कष्ट सहना, यहाँ तक कि प्राणोत्सर्ग

१. Reason, in other words, cannot accomplish anything by itself; it must be prompted by a preceeding desire before it begins to operate; it is engine of the ego and desire is the steam which makes it go.

—C. E. M. Joad:—The Mind And Its Workings. p. 63.

करना, एक भिन्न बात है, किंतु सामान्य जीवन में, साधारण उद्देश्य को लेकर भी, ऐसी मनोदशा पाई जाती है। मनुष्य जब अपने को अधम समझता है, उसका विवेक प्रताड़ित करता है तब ग्लानि से अभिभूत होकर अपने को अपराधी जान दंडित होने में आत्म-संतोष प्राप्त करता है। अपनी संतान के सुख केलिए माता-पिता कष्ट सहने को तैयार रहते हैं। आग्रह या हठ के रूप में अपने किसी प्रेमी के सामने जो उसके कष्ट के साथ गंभीर सहानुभूति रखता है, प्रिय अपना शिर फोड़ने की चेष्टा करता है और इस प्रकार की लीला के कारण वह अपना हठ रखने में समर्थ भी हो जाता है। छोटे-छोटे बच्चों के हाथों से कपोलों पर थपकियाँ लगवाना, बाल नोंचवाना आनंद की वासना से खाली नहीं। ऐसी मनोवृत्तियाँ जो प्रत्यक्षतः अपने ऊपर कष्ट लेने की-सी मालूम होती हैं वस्तुतः आनंद की ही एक प्रवृत्ति है। छोटे बच्चे को गोद में उठाकर उसे स्नेह से चूमने का जो अत्याचार किया जाता है उसे वह बच्चा ही जानता है, किंतु चूमनेवाला उसे अपने प्यार की अभिव्यक्ति समझता है। डाढ़ी के बाल, नाक, मुँह सब के आघात से शिशु कष्ट पाता है, प्रताड़ित होता है, परंतु चूमनेवाला अपने सुख-संतोष केलिये उससे भिड़ा रहता है। पर-पीड़न या स्वपीड़न, दोनों अपने आनंद की कामना से ही किए जाते हैं। यदि आनंद-भाव की प्रेरणा कर्म के मूल में न रहे तो इस दृश्य जगत् में अभी जो उल्लास दिखाई पड़ता है वह नहीं रहेगा। मनुष्य का श्वास-प्रश्वास भी इसी आनंद-कामना से है। काव्य के रस का आनंद भी इससे पृथक् नहीं।

जो कुछ है वह काम की प्रेरणा ही है। वात्स्यायन ने भी अपने काम-सूत्र में इस विषय का उल्लेख किया है कि जीवन का कोई कर्म काम-रहित नहीं है। पाँचों इंद्रियाँ—कान, आँख, जिह्वा, नासिका, त्वचा— अपने-अपने काम मन की प्रेरणा के अनुसार काम की प्रवृत्ति से ही करती हैं १। किसी विशेष कर्म में उच्चतर आनंद की प्राप्ति केलिए जो चेष्टा होती है वह भी काम की प्रधानता के कारण ही २। सृष्टि-विधान के अनुसार उत्पादन की प्रेरणा से जाग्रत् होकर मैदानों में हरी-हरी घासें, खेतों में हरे-हरे पौधे दिखाई पड़ते हैं। पुष्प अपनी सुगंध और सौंदर्य को प्रकट करते हैं। पक्षिगण मधुर-से-मधुर गीत गाते हैं। झिल्ली की झनकार, कोयल की कूक अपने प्रेमियों के आह्वान के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वनों की निस्तब्धता को भङ्ग करनेवाले नाना प्रकार के पक्षियों के जो कलरव सुनाई पड़ते हैं वे सब काम के ही असंख्य गीत हैं। मनुष्य की वर्ण-प्रियता, उसका कला और संगीत के सौंदर्य तथा माधुर्य पर प्रेम, काव्य में लालित्य के प्रति अनुराग, रमणीय चित्रों का भला लगना, ये सब काम की प्रेरणा से ही संभव हैं। स्त्री-पुरुष जिस शक्ति के कारण आनंदमय विवाह-

जीवन में काम-प्रेरणा की प्रधानता

१ श्रोत्रत्वक् चक्षु जिह्वा घ्राणानामात्म संयुक्तेन मनसाऽधिष्ठिताम् स्वेषु-स्वेषु विषये स्वानुकूल्यातः प्रवृत्तिः कामः। स्पर्श-विशेष विषये त्वस्याभिमानिक सुखानुविद्धा फलवत्यर्थ प्रतीतिः प्राधान्यात कामः ॥

—वात्स्यायन कामसूत्र, १, २

२ Eros-kam, in this large sense, is truly the parent of all the gods, and the presiding deity of all Sahitya and literature, which is all only the record of his play.

Dr. Bhagwan Das—The Science of the Emotions. p. 397.

बंधन में आवद्ध होते हैं वह उन मधुर प्रभावों की सत्ता और उद्गम का कारण है जिनसे पवित्र-से-पवित्र और उच्च-से-उच्च वासनाओं तथा कर्मों को बल तथा स्थिति प्राप्त होती है। इन मधुर प्रभावों के द्वारा समस्त प्रकृति में सुधार तथा उच्चता संपादित होती है। जिस मानवता का संबंध प्रत्येक उच्च तथा पवित्र प्रेरणा से है वह इसी प्रेरक शक्ति से जुड़ी रहती है। तन्मयता, मृदुलता, स्वार्थ-निलय, संग्राहकत्व आदि सृष्टि-रक्षा के जितने दिव्यतम भाव हो सकते हैं सब इसी परम शक्ति के प्रेरणा-स्वरूप हैं। सब की उत्पत्ति काम से होती है और काम में ही उनका अध्यवसान हो जाता है। त्रिदेव वस्तुतः काम का ही स्वरूप है, यह सुषुप्ति और जागृति दोनों में वर्त्तमान रहता है। दिव्य और स्वर्गीय आनंद जिसे ब्रह्म और परमात्मा के नाम से पुकारते हैं वह भी काम का ही विकार है। यह शक्तित्रय ज्ञान, इच्छा और क्रिया है। यह संकल्प, इच्छा और कल्पना है जिससे यह सृष्टि उत्पन्न हुई और जिसके बिना कोई भी स्पंदन असंभव है १।

१ सर्व भूतात्म भूतस्था त्रिलिंगा विश्वरूपिणी।
कामस्यैषा हि सा मूर्तिर्ब्रह्म विष्ण्वीश्वरात्मिका॥
भूता वा वर्त्तमानावा जनिष्याश्चापि सर्वशः।
कामात् सर्वे प्रवर्त्तंते लीयंत वृद्धिमागताः॥
कामः सर्वमयः पुंसां स्वसंकल्प समुद्भवः।
वक्तुं न शक्यते यश्च परं चानु परं च यत्॥
आनंदममृतं दिव्यं परंब्रह्म तदुच्यते।
परमात्मेति चाप्युक्तं विकाराः काम संज्ञिताः॥
सुप्तानां जाग्रतां वाथ सर्वेषां यो हृदिस्थितः।
नाना विधानि कर्माणि कुरुते ब्रह्म तन्महत्॥
त्रिवृद् ब्रह्म ततोविश्वं कामश्चेच्छा त्रयं कृतम्।
स्पंदोऽपशक्यो यं मुक्त्वा कामः संकल्प एवाह॥

[शिवपुराण, धर्म संहिता, अ० ८]

जीवन में विशुद्ध या आध्यात्मिक प्रेम प्रायः कुछ नहीं है, ऐसा कहने पर शायद कुछ लोग, जो अपने को विशुद्धतावादी कहते हैं, नाक-भौंह सिकोड़ेंगे, किंतु जीवन की जो वास्तविकता है उसकी समीक्षा से यही पता चलता है कि संसार के सारे व्यापार अपनी कामना के स्वरूप ही हैं। जिसके साथ हमारा कोई संबंध है या संबंध की इच्छा है वही हमें प्रिय लगता है। रागात्मक संबंध के अभाव में दुनिया की कोई भी बात हमें अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकती। राग और द्वेष इन्हीं दो तत्वों के कारण जगत् के व्यापार चलते हैं। 'इंद्रियस्येंद्रिय स्वार्थे राग-द्वेषौ व्यवस्थितौ' प्रत्येक इंद्रिय के प्रत्येक विषय के साथ राग-द्वेष संबद्ध है। सारा जगत् ही इसी प्रकार द्वंद्वमय है। विद्युत् के ऋण-धन की तरह ये दोनों तत्त्व समस्त विश्व में परिव्याप्त हैं। जबतक यह द्वंद्व न हो तबतक कोई कर्म भी नहीं हो सकता। वैराग्य प्रत्यक्षतः अनुराग का ही दिशा-भेद है। जो राग लोक के साथ संबद्ध रहता आता है वह उससे पराङ्मुख होकर दूसरी ओर आबद्ध हो जाता है। उन्मुख राग विमुख हो जाता है। काम-मनोविज्ञान के आचार्यों ने यह प्रमाणित किया है कि संसार के सारे व्यापार काम-वासना के संकेत पर ही संचालित होते हैं। काम-मनोविज्ञान के अतिरिक्त शास्त्रीय विवेचन में भी यह बात पाई जाती है १। यदि मनुष्य में काम-

काम-वासना और उसका प्रयत्न-विस्तार

१ अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय तथा आनंदमय पंचकोषों के उपन्यास में जीवन-विधान का सार है। इन पाँचों की अपनी अलग-अलग स्थिति तथा व्यापार हैं, किंतु आनंदमय कोष मुख्यतः प्रेरणा-स्वरूप है।

वासना न रहे तो जगत् का कोई भी काम वह नहीं कर सकता। पश्चिमी मनोविश्लेषक अल्बर्ट फ्रायड ने जब से इस तथ्य का प्रतिपादन किया तब से इस विषय पर कई तरह के मत-मतांतर प्रकाशित होते रहे; किंतु भारतीय शास्त्र में इसका प्रतिपादन कोई नई बात नहीं। प्रकृति और पुरुष के समन्वय के परिणाम-स्वरूप सृष्टि-विधान को मान लेने पर जगत् के व्यापार के मूल में काम-प्रकृति को भुलाया नहीं जा सकता। जब-तक यह सृष्टि प्रकृति-पुरुष समन्वित है तबतक जगत् में उसकी सत्ता को अस्वीकृत भी नहीं किया जा सकता।

काममय जीवन

वेदोपनिषद् के सारमय शब्दों में इस सृष्टि का मूल कारण यही कहा जाता है— 'एकाकी नारमत आत्मानं द्वेधा व्यभजत्, पतिश्च पत्नी चाभवत्'— एक में वह नहीं रमा, पति और पत्नी के रूप में उसने अपने दो भेद किए। इसके बाद भी आत्म-विस्तार के लिए—'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय, तत्सृष्ट्वा तदेवानु-प्रविशत्'—उसने बहुत-सी प्रजा की सृष्टि की और उनमें प्रविष्ट हुआ। मूलरूप में जो पिता है वही पुत्र है। वैद्यक शास्त्र में भी इस बात का विवेचन किया गया है कि माता-पिता के कौन

'रसो वै सः। रसः ह्येवायं लब्ध्वानंदी भवति एष ह्येवानंदयाति।' (तैत्ति० २, ७, १,) वह रस ही है। रस को प्राप्त कर ही पुरुष आनंदित होता है। यह रस ही सब को आनंदित करता है। 'एतस्यैवानंदस्या-न्यानि भूतानि मात्रामुपजीवंति' (बृह०,४,३,३२,)—इस आनंद के अंशमात्र के आश्रय से ही सब प्राणी जीवित रहते हैं। इस प्रकार रसोद्भूत आनंद ही जगत् और जीवन की प्रतिष्ठा का कारण है। लोक में इसी आनंद का रूप वासना-प्रधान हो जाता है।

कौन अवयव संतान में वर्तमान रहते हैं १। जाया-रूप स्त्री में शुक्र-ब्रह्म का अवस्थान कर पुरुष ही उभयलिंग में पुनर्जात होता है। वेदों ने भी उद्घोषित किया—'कामस्तदग्रे समवर्वताधि' २ सृष्टि की उत्पत्ति काम से हुई। काम-प्रवृत्ति इतनी व्यापक और तीव्र है कि संसार के सामान्य व्यापार के साथ भी उसका संबंध छोड़ा नहीं जा सकता। जगत् में जो कुछ है वह काम की चेष्टा का ही परिणाम है, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं ३। साधारण प्रेमानुराग के मूल में भी यही प्रवृत्ति पाई जाती है। पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहन के स्नेह-अनुराग में इसी प्रवृत्ति के रूपांतर

१ सुश्रुत के शारीरस्थान में माता-पिता के भेद से मनुष्य में रक्त, माँस, मेद, हृदय, प्लीहा, अंत्र, यकृत् आदि माता के अंग और मज्जातंतु, अस्थि, धमनी, लोम आदि पिता के अंग बताये गए हैं।

२ कामस्तदग्रे समवर्वताधि मनोरेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बंधुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥
(ऋ० १०, २९, ४)

इसके (ब्रह्म) मन का जो रेत अर्थात् बीज प्रथमतः निकला वही आरंभ में काम (सृष्टि-निर्माण करने की प्रवृत्ति या शक्ति) हुआ। ज्ञाताओं ने अंतःकरण में विचार-बुद्धि से निश्चय किया कि यही असत् में सत् का पहला संबंध है।

३ अकामस्य क्रिया क्वाचिद् दृश्यते नेहकाहिचित्।
यद् यद्धि कुरुते किंचित् तत् तद् कामस्य चेष्टितम्॥
—मनुः

All thoughts, all passions, all delights,
Whatever stirs this mortal frame,
All are but ministers of love,
And feed his sacred flame.
—Coleridge: Ode to Love.

की छाया पाई जाती है। ईश्वर की भक्ति भी काम-प्रवृत्ति से खाली नहीं। मनुष्य-मात्र काममय है, उसकी सारी चेष्टाएँ काम-प्रेरित हैं। वैदिक द्रष्टा ने भी—'काममय एवायं पुरुषः'—कहकर मनुष्य-मात्र में काम का संबंध बताया है। ब्रह्म के सदृश ही आत्मा चितिरूप है। स्थिति के अनुरूप आत्मा के कितने अवांतर भेद हो जाते हैं। बुद्धि से निश्चय करती हुई वह विज्ञानमय, मन से संकल्प करते समय मनोमय, प्राण से जीवन-रक्षा कर प्राणमय, आँख से देखती हुई चक्षुर्मय, कान से सुनती हुई श्रोतमय अर्थात् प्राण तथा इंद्रियों के कार्य में वह तद्रूप प्रतीत होती है। इसी प्रकार हृदय के भावों की अवस्थिति भी उसके काममय रूप के विना संभव नहीं है।

यौन-संबंध एक प्राकृतिक व्यापार है, किंतु प्रकृति की मर्यादा रखने केलिए समाज-धर्म के अंतर्गत लाकर उसको आध्यात्मिक विकास के मार्ग पर ला खड़ा कर दिया गया है। ऐषणात्रय—पुत्र, धन, लोक—के विवेचन से स्पष्ट है कि जगत् में आध्यात्मिक प्रेम से सृष्टि-विधान संभव नहीं। प्रेम वासना के रूप में परिवर्त्तित होकर ही सृष्टि में प्रवृत्त होता है। ऐषणात्रय के प्रतिशोध में ऋणत्रय – पितृ, गुरु, देव—है। जीवन की संगति केलिए तप, भोग और यज्ञ का भी अपना विशेष महत्त्व है। विश्व-प्रकृति में इस प्रकार लेन-देन का सवाल भी कुछ कम नहीं रहता। बीज अपने अस्तित्व को मिटा कर जब फूल के रूप में खिलता है तब फूल को भी अपने अस्तित्व को नष्ट कर बीज बन जाना पड़ता है। तप के द्वारा मनुष्य जो कुछ प्राप्त करता है उसका वह भोग

यौन-संबंध और जीवन-ध्येय

कर लेता है, पर भोग के बाद यज्ञ के द्वारा भोग-जनित क्षति की पूर्ति कर देना मनुष्य का एक धर्म माना जाता है। इस प्रकार मनुष्य जिस वस्तु को जिस स्थान पर से उठावे उस वस्तु को उसी स्थान पर रखने का विधान भी उसे बताया गया है।

शुक्रब्रह्म और ज्ञानब्रह्म

मानव जीवन में शुक्रब्रह्म और ज्ञानब्रह्म का अत्यधिक महत्त्व है। शरीर-विज्ञान के अनुसार आहार के परिपाक से क्रमशः सात धातुओं का निर्माण शरीर में होता है—रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र। इसी सातवीं धातु में नवीन प्राणी शरीर आरंभ करने की शक्ति है। उसका उपयोग प्रजनन में नहीं होने पर, उसके निरोध पर, परिपाक से सूक्ष्म शरीर में अष्टम परिणाम ओज, बल, तेज की अधिकतर प्राप्ति होती है जिससे संसार के नाना व्यापार चलते हैं, काव्य-कला की सृष्टि होती है। यही शुक्रब्रह्म ज्ञानब्रह्म का उत्पादक है। अन्न से ही शुक्र बनता है। मनुष्य जिस अन्न का सेवन करता है उसमें सूक्ष्म तेज, सूक्ष्म आप, सूक्ष्म अन्न, ये तीन तत्त्व रहते हैं। इन तीन तत्त्वों से बना अन्न जब शरीर में पहुँचता है तब तेज तत्त्व के कारण स्थूल, मध्यम और सूक्ष्म परिणाम—क्रमशः अस्थि, मज्जा, वाणी—उत्पन्न होते हैं। जल तत्त्व से मूत्र, रक्त तथा प्राण, अन्न तत्त्व से पुरीष, मांस और मन, ये तीन द्रव्य निर्मित होते हैं। काव्य के प्रयोजन के लिए इन तत्त्वों में प्रमुख वाणी, प्राण तथा मन की रचना मिलती है। उपनिषद् के अनुसार अन्न से ही पुरुष की उत्पत्ति मानी जाती है—पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। (तै० २, १) अन्न के रस का जो सारतम अंश

है वह सूक्ष्म रूप सनातन ब्रह्म है १। इसी कारण भारतीय शास्त्रों में भोजन की प्रकृति से मनुष्य की प्रकृति का संबंध बताया गया है २। शुक्रब्रह्म की अवस्थिति से यह तो बताया ही गया है कि यदि उसका उपयोग स्थूल शरीर के निर्माण में न किया जाय तो ओज और तेज के परिणाम से वह संसार के अन्यान्य कर्मों का प्रेरक होता है। काम तथा वासना का केवल संकुचित अर्थ लेने से काम नहीं चलता। काम और वासना के व्यापक अर्थ में जीवन और जगत् की सारी सत्ता परिव्याप्त हो जाती है ३। तत्त्वान्वेषी पुरुषों ने भी यही निष्कर्ष निकाला है कि संसार

१ एक ऋषि ने कहा है—'पाकेरसस्तु द्विविधिः प्रोच्यतेऽन्न रसात्मकः। रस सारमयो भागः शुक्रं ब्रह्म सनातनम्'।

२ 'आहार शुद्धौ सत्त्व शुद्धिः' (छांदोग्य, ७, २६, २) सात्त्विक आहार से मन और बुद्धि भी सात्त्विक हो जाती है।

३ चित्त की वासना अनादि मानी जाती है, किंतु वही वासना अभिव्यक्त होती है जो कर्मफल से उन्मुख रहती है। आत्मा के 'अणु' या 'विभु' मानने के संबंध में वेदांतिकों में बड़ा मतभेद है। वासना के आश्रय-स्वरूप चित्त को महत्परिमाण के कारण मीमांसक विभु मानते हैं, अणु परिमाण के कारण नैयायिक अणु मानते हैं और मध्य परिमाण के कारण सांख्यवादी अणु तथा विभु दोनों से विलक्षण मानते हैं। 'प्राण-स्पंदन' और 'वासना' दोनों चित्त के समान धर्म हैं। योगवाशिष्ठ के अनुसार भी—'द्वे बीजे चित्त-वृक्षस्य प्राण-स्पंदन वासने, एकस्मिश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः'—चित्त-रूप वृक्ष के दो बीज हैं, एक प्राण-स्पंदन और दूसरी वासना। इन दोनों में से किसी एक का नाश होने पर दूसरा भी स्वतः नष्ट हो जाता है। इंद्रियों के साथ भी जबतक चित्त का संबंध न हो तो तबतक विषय-बोध नहीं हो सकता। इंद्रियां ज्ञाता नहीं होतीं। केवल अपनी

के सारे व्यापार का मूलभूत जो यह सृष्टि-कर्म है वह ब्रह्म की ही कोई-न-कोई अतर्क्य लीला है, स्वतंत्र वस्तु नहीं १। जो निष्काम है वह निष्क्रिय है, केवल इतना कह देने से शायद गीता के कर्म-योगवादी सहमत न हों, क्योंकि वहाँ फलासक्ति-रहित होकर कर्म करने का आदेश बराबर दिया गया है। जो आदर्श है वह यथार्थ नहीं होता। आदर्श प्राप्त होकर ही यथार्थ बनता है। साधारणतः जीवन में उसी कर्म की कामना होती है जिसके परिणाम का भोग प्राप्त हो सके। काम-रहित जीव कोई भी कर्म नहीं कर सकता, किंतु इतना होने पर भी यह तो कहा ही जायगा कि काम में आपादमस्तक लीन होना श्रेयस्कर नहीं। जिस अग्नि से भोजन पकता है उससे मनुष्य भस्मसात् भी हो सकता है। यही कारण

काम-चेष्टा पर धर्म का नियंत्रण

शक्ति से ही उन्हें किसी विषय का ज्ञान नहीं होता। आँखें और कान खुले रहने पर भी हम न तो कुछ देख सकते या सुन सकते हैं जबतक कि नेत्रें-द्रिय या कर्णेंद्रिय का संपर्क चित्त के साथ न बना रहे। चित्त की व्यवस्था से ही प्रत्येक इंद्रिय का विषय-विनियोग किया जा सकता है। जीवन की प्राण-शक्ति ही इंद्रियों को क्रियातत्पर करती है। ध्यान से देखना, ध्यान से सुनना, इन सब में बुद्धि के साथ प्राण सन्निहित हैं। ध्यान शब्द ही धी=बुद्धि+आन=प्राण से बना है। बोधव्य विषय के साथ प्राण को तन्मय करना ही ध्यान है। एकाग्र और एकचित्त होकर किसी वस्तु को देखने या उसमें तन्मय होने पर श्वास-प्रश्वास की क्रिया प्रायः निश्चेष्ट-सी हो जाती है। चित्त और प्राण की यही विशेषता है।

१. What belongs to mere appearance is necessarily sub-ordinated by veasih to the nature of the thing in itself.'

[Kant's Metaphysic of morals, Abbot's Translation, in Kant's Theory of Ethics, Page 81]

है कि काम-चेष्टा के नियंत्रण केलिए धर्म का निरूपण कर दिया गया है। इस प्रकार मनुष्य को प्रवृत्ति और निवृत्ति के दो विंदुओं के बीच में द्वंद्व करना पड़ता है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के औचित्य का निर्णय लोक-कल्याण की अपेक्षा रख कर ही किया जाता है। गीता में भगवान् ने कहा है—'धर्माविरुद्धो भूतानां कामोस्मि भरतर्षभः'—हे अर्जुन! धर्म के अविरुद्ध काम मैं ही हूँ। काम और धर्म दोनों की सत्ता से कला-कौशल की वृद्धि होती है। एक की प्रेरणा होती है और दूसरा उसके स्थायित्व का विधान करता है १। प्रवृत्ति का जो मार्ग है उसे रोकना सरल नहीं है। प्राणिमात्र अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार ही चलते हैं। निग्रह से उसे कोई विशेष वाधा नहीं होती २। अपनी उत्थित शक्ति का व्यय उसे किसी-न-किसी दिशा तथा कर्म में करना ही पड़ता है।

१. 'Incidently it may be noted that all the finest products of the fine arts, and some also of the useful arts, poetry, drama, dancing, music, painting, sculpture, archetecture, clothing, metal work, town-planning, gardening, tree-planting, road-making etc., have found their greatest patron in, and drawn their most splendid inspiration from religion in all ages and in all countries.

.........Religion has thus secured some of the purest joy to humanity, even in the life of the senses.'

Dr. Bhagwan Das; The Unity of all Religions. p. 465.

२ 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति' [गीता ३, ३३]

प्रेरणा की दृष्टि से कवियों की प्रवृत्तियाँ भी भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं। जीवन की प्रत्येक मनोदशा या स्थिति में काव्य-रचना नहीं हो सकती। कोई ऐसे आशुकवि हों भी जो हर समय काव्य-रचना का दंभ रखते हों तो उनकी रचनाएँ किसी महत्त्व की नहीं हो सकतीं। प्रत्येक कलाकार, काव्य, चित्र, शिल्प आदि जो कुछ भी विषय हो, अपनी मनोदशा को कला-प्रवृत्त बनाने केलिए किसी-न-किसी विधि का अवलंबन करता पाया जाता है। किसी को सौंदर्योपासना से काव्य-प्रवृत्ति होती है तो किसी को संगीत की मीठी स्वर-लहरी से। किसी को विजया की तरंग से, तो किसी को शराब की बोतलों से। किसी को प्रकृति के हरे-भरे दृश्य, जंगल, पहाड़, झरने को देखने से नई सूझ होती है तो किसी को एकांत में ही गति मिलती है। शायद ही ऐसा कोई कलाकार होगा जो किसी-न-किसी प्रकार के वैध, अवैध, पूत, अपूत कारण से अपनी कला-प्रवृत्ति का संबंध न रखता हो। ऐसे अनेक कवि हैं जिनको स्त्री-दर्शन के अभाव में काव्य-दर्शन होता ही नहीं। पश्चिमी कलाकारों में अधिकांश ऐसे हैं जिन्होंने अपनी कलाभिमुख प्रवृत्ति की रक्षा अवैध प्रेम तथा मदिरा के बल पर की। प्रकृति के रमणीय दृश्य, संगीत की स्वर-लहरी से काव्य के मनोभाव जगते हैं, किंतु उन सब में अनुराग ही प्रधान तत्त्व है। प्रेम के संयोग तथा वियोग, दोनों अवस्थाओं में, काव्य-प्रेरणा होती है, लेकिन वियोग-काल में जितनी मार्मिक कविताएँ लिखी गईं उतनी संयोग-काल में नहीं। प्रेम-दशा भाव-योग की दशा है, इसीलिए अपने प्रेम को व्यक्त करने या उसके

काव्य-प्रेरणा के भिन्न-भिन्न रूप

आधार पर जगत् के प्रति अपने जीवन के अनुराग को प्रदर्शित करने में हृदय को जो उल्लास मिलता है वह दूसरी स्थिति में नहीं। अपनी घृणा को व्यक्त करने केलिए काव्य की रचना नहीं हो सकती। प्रेम ने जितने कवि उत्पन्न किए उतने किसी अन्य भाव ने नहीं। यही कारण है कि प्रेम काव्य की प्रेरणा का एक मौलिक आधार है।

अवस्था-भेद से काव्य-प्रेरणा

काव्य-रचना केलिए जीवन में अनुकूल परिस्थिति तो चाहिए ही, अवस्था-भेद का प्रभाव भी उस पर पड़ता है। काव्य की प्रेरणा किस अवस्था में होती है, इस पर भी विचार किया जा सकता है। प्रतिभा के उदित होने केलिए न कोई निश्चित परिस्थिति अनुकूल होती है और न कोई खास अवस्था ही उपयुक्त होती है। प्रतिभा किसी भी अवस्था में उत्पन्न हो सकती है। जो बाल्यावस्था में मंद रहा वह युवावस्था में तेज हो गया है और जो बचपन में प्रतिभासंपन्न रहा वह जवानी में शिथिल पड़ा है। बहुतों की बुद्धि वृद्धावस्था में तीव्र होते पाई गई है। बुद्धि की सीमा को पारकर ही प्रतिभा का उदय होता है। इस प्रकार उसकी उद्भावना का कोई निश्चित समय नहीं बताया जा सकता। ऐसे भी कुछ कलाकार पैदा हो गए हैं जिनकी प्रतिभा आरंभ से अंत तक एकरस बनी रही है। किंतु इतनी सत्यता रहने पर भी, काव्य-रचना के संबंध में साधारण ढंग से, अवस्था-भेद के अनुसार, प्रेरणा-शक्ति का विश्लेषण नहीं किया जा सकता। केटेलेट ने अवस्था-क्रम के अनुसार काव्य-रचना की शक्ति की एक तालिका बनाई है। नाटक के संबंध में उन्होंने लिखा है कि इक्कीस वर्ष की अवस्था

से नाटक लिखने की प्रवृत्ति होती है और पच्चीस से तीस वर्ष की अवस्था तक वह पूरे जोर पर रहती है। पचास या पचपन वर्ष की उम्र तक उसका सिलसिला बना रहता है। उसके बाद इस प्रवृत्ति का प्रायः अंत हो जाता है। संयोगांत की अपेक्षा वियोगांत नाटक लिखने की प्रेरणा विशेष होती है। केटेलेट ने स्वभावतः अपनी तालिका बनाते समय पाश्चात्य लेखकों पर ही दृष्टि रखी है। इसमें संदेह नहीं कि केटेलेट के अनुसंधान में जितना सत्य है उतना उसका अपवाद भी है। आरंभ में जीवन और जगत् में जो उल्लास दिखाई पड़ता है वह बाद की अवस्था में उसी रूप में नहीं रहता। साधारणतः किशोर, युवा तथा वृद्धावस्था में क्रमशः भावना, क्रिया तथा स्मृति की प्रबलता रहती है। किंतु इसके अनुक्रम की कोई तालिका नहीं बनाई जा सकती। देश, काल, पात्र के अनुसार एक ही तथ्य का बहुधा रूपांतर हो जाता है। युवावस्था में अनुभूति-मूलक प्रेमोच्छ्वास को व्यक्त करने की जैसी प्रवृत्ति होती है वैसी बाद में सदैव नहीं रहती, किंतु ऐसी प्रवृत्ति किसी नियम के अंतर्गत नहीं लाई जा सकती। रीतिकाल के बूढ़े हिंदी कवियों ने अपनी वृद्धावस्था में भी यौवन के रस-प्रसंग को न भुलाया और जबतक प्राण रहे, प्रणय ने भी पिंड न छोड़ा।

वासना और उसके उपयोग

चित्त की वासना अनादि है। वासना केवल बुरे कर्मों की ही नहीं होती, सत्कार्य की प्रेरणा भी वासना से मिलती है। यदि चित्त में अच्छे या बुरे कर्म की वासना न हो तो उसके लिए प्रयत्न ही नहीं किया जा सके। नैतिक दृष्टि से हमारा जीवन विधि और निषेध के प्रतिबंध के अंतर्गत रहता आया है, किंतु मनःशास्त्र की दृष्टि से हम

इस संबंध में भूल भी बराबर करते आ रहे हैं। चित्त में जब वासना जगती है तब अपनी प्रकृति के अनुसार वह भाव तथा कर्म के रूप में प्रवृत्त होना चाहती है। सत्कर्म-संबंधी वासना को हम विधि का मार्ग बता देते हैं, किंतु कुवासना का निषेधमात्र करते हैं। 'यह मत करो' मात्र से ही वासना की शक्ति क्षीण नहीं हो जाती। 'यह मत करो' के बाद 'यह करो' बताये बिना उत्तेजित वासना चित्त को अव्यवस्थित कर देती है और उसके परिणाम-स्वरूप जीवन के प्रत्येक क्षेत्र, साहित्य, समाज, राजनीति आदि में बवंडर उठा करते हैं। वासना को उत्तेजित करने तथा उसके दमन से मन तथा शरीर, दोनों पर बुरा प्रभाव पड़ता है १। इससे कई तरह के मस्तिष्क-संबंधी रोग उत्पन्न हो जाते हैं। साधारणतः होता तो यह है कि हम अपनी वासनाओं को किसी प्रकार दबा नहीं सकते। किसी-न-किसी रूप से, भाव से उसकी अभिव्यक्ति हो ही जाती है। हम कहते हैं, हमारे चित्त में बुरी वासना नहीं है, किंतु जिसके चित्त में वैसी कुवासना है उसकी निंदा कर, उपेक्षा कर हम अपनी अंतर्हित कुवासना को व्यक्त कर ही देते हैं। कुवासना-प्रेरित कलाकार की कृतियों पर अपना रोष और क्षोभ प्रकट कर हम सद्वासना का दंभ करते हैं, किंतु यथार्थ में हम अपनी अंतर्हित कुवासना को ही सद्वासना के रूप में दिखाया चाहते हैं। वासना या उसके ओज का आधिक्य यदि एक दिशा में खर्च नहीं हो जाता तो दूसरी दिशा में उसकी

उत्तेजित वासना और उसके दमन का परिणाम

१ 'नोदीर्णान् धारयेत् वेगान् नानुदीर्णानुदीरयेत्'

—चरक

गति रोकी नहीं जा सकती १। सबल मनुष्य के प्रति उत्थित क्रोध को जब उस लक्ष्य के प्रति अभिव्यक्ति का द्वारा नहीं मिलता तब निर्बल पर ही सारा क्रोध उतार लिया जाता है। यदि परिस्थिति उतनी भी अनुकूल न रही तो वह मानसिक ज्वर बनकर अपने ही मन-प्राण को संतप्त कर देता है। इस प्रकार हम अपने चित्त की वासना की अभिव्यक्ति केलिए कोई-न-कोई द्वार ढूँढ़ ही लेते हैं।

काव्य प्रेरणा के मूल में वासना

काव्य-रचना भी अपनी वासना की प्रकृति के अनुकूल ही होती है। कोई सत्काव्य लिखता है तो कोई असत् काव्य, पर रचना करने की प्रवृत्ति रखनेवाले को रोका नहीं जा सकता। लोक, समाज, राजनैतिकता पर दृष्टि रखकर जहाँतक संभव हो सकता है, मनुष्य अपनी वासना को नग्न रूप में प्रकाशित करने का साहस नहीं करता। और कुछ नहीं तो सुधार के नाम पर ही ऐसी बहुत-सी रचनाएँ साहित्य में होती रही हैं और होती रहेंगी।

काव्य की प्रेरणा के मूल में संस्कृत के प्राचीन साहित्याचार्यों के मतानुसार कई कारण पाये जाते हैं। यश, द्रव्य, व्यवहार-ज्ञान

प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों के मत से काव्य-प्रेरणा

दुःखनाश २ आदि कई ऐसी बातें काव्य-रचना के मूल में पाई जाती हैं जिनका विवरण उन्होंने दिया है। सब कारणों का एक ही मूल है और वह है सुख। यश, कीर्त्ति, प्रशंसा के आवरण के नीचे मनुष्य की

१ It is well known that when energy is aroused in a certain direction, surpluses flow in to other direction.
—Dr. Bhagwan Das; The Science of the Emotions. p. 296.

२ काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेत रक्षतये,
सद्यः पर निर्वृतये कांतासम्मित तयोपदेश युजे।
—मम्मटः काव्य-प्रकाश

सुख-लिप्सा ही छिपी हुई है। यथार्थ की अतिव्याप्ति ही प्रशंसा है। अपनी प्रशंसा से कवियों को जो प्रेरणा मिलती है वह आत्म-विस्तार के परितोष से खाली नहीं रहती। दूसरों द्वारा निर्व्याज रूप से अपनी वाणी के अवतरण तथा अनुश्रवण की अपेक्षा कवियों को कोई अन्य भाव अधिक सुख नहीं पहुँचा सकता। दूसरों के कंठ में वाणी के व्याज से अपनी भावात्मक सत्ता की प्रतिष्ठा करना एक बड़ी साधना है। द्रव्य-लाभ की प्रेरणा में भी सुख-लाभ ही अंतर्हित है। काव्य-रचना कर जो धन प्राप्त करने की कामना होती है वह धन के वस्तुगत सौंदर्य से प्रेरित होकर नहीं, प्रत्युत् उस धन की क्रयःशक्ति में जीवन की जो सुख-सुविधा लगी हुई है वही भावना काव्य-रचना की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है। द्रव्य-लाभ की प्रेरणा से जो काव्य-रचना की जाती है उसमें कवि की अनन्यता विशेष मात्रा में नहीं रहती। इसी कारण ऐसी रचनाएँ कवि को द्रव्य-लाभ का सुख जिस मात्रा में दे सकती हैं उस मात्रा में यश का सुख नहीं। किसी भी स्थिति में, अपने सुख की कामना के अतिरिक्त मनुष्य को आत्म-विस्तार का कोई लक्ष्य दृष्टिगत नहीं होता। कुछ लोग 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' की पुकार उठा कर काव्य-साहित्य के उद्देश्य को निश्चित करना चाहते हैं। ऐसे प्रश्न के उत्तर में कोई 'स्वांतः सुखाय' कोई 'जन-हिताय' और कोई कुछ कहते हैं। काव्य की रचना अपने अंतः-करण के सुख-संतोष केलिए की जाय या जन-समाज के हित-विचार से, दोनों ही अपनी-अपनी स्थिति में सत्य हैं। मानव ज्ञान इतना सीमित है कि वह अपनी सारी संवेदनाओं को शायद

काव्य-प्रेरणा का प्रधान कारण—आत्म-सुख

ही जान सके । प्रकट रूप में हम प्रत्येक कर्म का कोई-न-कोई हेतु, उसकी प्रेरणा बतला दिया करते हैं, किंतु प्रत्येक स्थिति में वह यथार्थ ही होता हो, यह कहना भ्रम से खाली नहीं है। हमारी चेतना में जो हेतु प्रत्यक्ष रहता है उसका उल्लेख कर देते हैं, पर उस प्रत्यक्ष हेतु को उपस्थित करनेवाला कौन-सा अप्रत्यक्ष कारण है, इस संबंध में हमारा मौन ही उत्तर है। अपने हित को

स्वांतः सुखाय और जनहिताय

जनता के हित से भिन्न देखने की दृष्टि कवि को नहीं होती। संसार में जितने काम होते हैं, प्रायः सब स्वांतः सुखाय ही किए जाते हैं। कर्म-प्रयत्न में इच्छा का योग एक आवश्यक प्रतिबंध है। यदि भीतरी प्रवृत्ति न हो तो बाहर की पुकार पर दौड़नेवाला शायद ही कोई मिले। अपने अंतःकरण की किसी प्रेरणा के परितोष के लिए भी काव्य-रचना करना वस्तुतः जीवन और जगत् से निरपेक्ष होकर नहीं होता। गोस्वामी तुलसीदास ने 'स्वांतः सुखाय' ही रघुनाथ-गाथा लिखी, यह सच है, पर दो-तीन दर्जन पंक्तियों में देव, ऋषि यहाँ तक कि 'बंदौं संत असंतन चरणा' की गुहार करने की क्या आवश्यकता पड़ गई? वस्तुस्थिति यह है कि जीवन और जगत् से निरपेक्ष रहना मनुष्य केलिए एक कठिन व्यापार है, कवि के लिए असंभव। तुलसी के हृदय में लोक-कल्याण की भावना थी, यही उनकी प्रेरणा है। अपने आत्म-प्रकाश को प्रत्यक्ष करने का रामायण एक प्रयत्नमात्र है। हम दूसरों पर दया करते हैं, करुणा करते हैं, उपकार करते हैं, दूसरों के दुख के साथ अपनी सहानुभूति रखते हैं, यह सब स्वांतः सुखाय ही होता है। दूसरों के दुख को देखकर जबतक हृदय में संवेदना उत्पन्न

नहीं होती तबतक कोई दया, करुणा, उपकार कर ही नहीं सकता। वस्तुतः हम अपनी संवेदना के ही कष्ट से मुक्ति पाने के लिए, दूसरों का उपकार आदि करते हैं। अपने अंतःकरण को जबतक परितोष न हो तबतक जन-हिताय भी कुछ नहीं किया जा सकता। स्वांतः सुखाय और जनहिताय दोनों तत्त्वतः एक ही हैं। प्रत्यक्ष में नहीं तो कल्पना में भी यदि लोक-समुदाय का ग्राहक रूप उपस्थित न रहे तो कवि को तदनुरूप काव्य-रचना की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। मनोभाव का यह तथ्य केवल दार्शनिक ही नहीं, ऐतिहासिक भी है। प्रत्येक भाव का बाह्य अभिनंदन उसकी प्रकृति तथा विकास पर निर्भर करता है। कोयल की स्वांतः सुखाय कूक पर हम आनंदमत्त हो जाते हैं, पर कौवे के स्वांतः सुखाय काँव-काँव-टाँय पर फिदा होनेवाले कितने मिलेंगे! केवल स्वांतः सुखाय होने से ही किसी का कोई कर्म अभिनंदनीय नहीं माना जा सकता, उससे लोक-रंजन या लोक-कल्याण किस सीमा तक हो सकता है, यह भी उसका एक मापदंड है।

दोनों का मूल वस्तुतः एक ही है

सातवाँ अध्याय

लय और छन्द

लय और छंद का संबंध इतना घनिष्ठ है कि हम बहुधा एक से दूसरे का बोध कर लेते हैं। यहाँ वस्तुतः इसका तत्त्वान्वेषण करना चाहिए कि दोनों के संबंध का क्या रहस्य है। इस पर विचार करने के पहले हम यह अच्छा समझते हैं कि छंद के विषय में कुछ भ्रमात्मक धारणाओं का अंत हो जाय। कुछ लोग समझते हैं कि काव्य में छंद एक बाह्य संस्कार है जो ऊपर से उस पर आरोपित कर दिया

लय और छंद का संबंध

जाता है। छंद का स्वतः कोई स्वरूप नहीं होता। वह किसी अभिव्यक्ति के साथ ही प्रकट होती है, न आगे, न पीछे। कुछ लोग छंद को साँचा समझते हैं और इन साँचों के रूप में ही अभिव्यक्तियाँ मानते हैं। यदि हम काव्य को कवि की सहजानुभूति की अभिव्यक्ति मानते हैं तो किसी निश्चित साँचे से काम नहीं चल सकता। एक कवि के अंतर्जगत् की अनुभूति ठीक दूसरे की तरह नहीं होती या हो सकती। ऐसी दशा में एक कवि की अभिव्यक्ति का साँचा दूसरे केलिए उपयुक्त नहीं हो सकता। पर, ऐसा हम नहीं मानते। हमने देखा है कि एक ही तरह के छंद में भिन्न-भिन्न कवियों ने रचनाएँ की हैं। फिर इसमें तथ्य क्या है ? वाणी की अभिव्यक्ति का आधार भाषा है। भाषा की उत्पत्ति के विषय में तरह-तरह के मत-मतांतरों पर ध्यान रखकर भी यह कहना अनुपयुक्त नहीं है कि भाषा एक स्वाभाविक शक्ति है। सभ्यता के साथ-साथ भले ही उसका व्यावहारिक विकास होता गया हो, उसमें तरह-तरह के नियम-अपवाद बनाये गए हों, परंतु तथ्य-रूप में वह प्राकृतिक है। छंद भी कवि के अंतर्जगत् की वह अभिव्यक्ति है जिस पर नियम का बंधन डाल दिया गया है। भिन्न-भिन्न स्वाभाविक अभिव्यक्तियों केलिए कोई आदर्श साँचा तैयार नहीं किया जा सकता।

छंद का स्वरूप

जितने प्रकार की अभिव्यक्तियाँ लय के सामंजस्य के साथ हो सकती थीं उनका विधान छंद-शास्त्र में कर दिया गया है। पर, इसका तात्पर्य यह नहीं कि भावों को प्रकाशित करने केलिए जो विधान छंद-शास्त्र में कर दिया गया है उससे अधिक केलिए अब गुंजाइश नहीं। छंदों की संख्या बढ़ायी जा सकती है, किंतु इस

धारणा से नहीं कि पुराने छंद आधुनिक जीवन के उल्लास-विषाद को व्यक्त करने में अनुपयुक्त हो गए हैं। यदि छंदों का नया-पुराना होना संभव हो तो पुरानी वर्णमाला को भी हटाकर नयी ध्वनियाँ निश्चित कर लेनी चाहिए। इस दृष्टि से मनुष्य के मनोविज्ञान में भी कुछ मूल व्यतिक्रम होना चाहिए। किंतु, मनुष्य यहाँ अपना पराजय समझता है। वर्ण के चिह्न में हम भले ही कतरव्योंत करते रहें, लेकिन उच्चारण की ध्वनियाँ कुछ ऐसी निश्चित-जैसी हैं जो सम्मेलनों के प्रस्तावों से तनिक भी प्रभावित नहीं हो सकतीं। मनोविज्ञान के विषय में भी यही बात है। यदि काव्य-रचना केलिए नये छंद-विधान की अनिवार्यता प्रमाणित करने की चेष्टा की जाय तो उससे पहले इसी प्रश्न का उत्तर मिलना चाहिए—क्या पुराने छंद-विधान में आबद्ध कालिदास, भवभूति, सूर, तुलसी, देव, बिहारी को हम भूल सकते हैं ? क्या हम शाकुंतल, उत्तर रामचरित, रामायण, सूरसागर, प्रियप्रवास, साकेत, यशोधरा, कामायिनी में वर्णित जीवन-वृत्त की उपेक्षा कर सकते हैं ? यदि नहीं तो फिर काव्य में न छंद पुराना है, और न जीवन का उल्लास-विषाद। सच्ची बात यह है कि प्रत्येक छंद, जिसकी कुछ मर्यादा निश्चित कर दी गई है, विषय तथा कवि के व्यक्तित्व के साथ एकांत रूप से बदल जाता है। भाषा की अर्जित शक्ति के साथ कवि के व्यक्तित्व की शक्ति मिल जाने से छंदगत अभिव्यक्ति का सौंदर्य बढ़ जाता है। प्राचीन और नवीन का भेद, काव्य की सौंदर्य-वृद्धि की आवश्यकता से अधिक, कवि की अपनी क्षमता को व्यक्त करने से ही संबंध रखता है।

नया और पुराना छंद

प्रत्येक जाति, अन्यान्य धारणाओं के साथ, लय की भी एक धारणा रखती है और यह धारणा जातिगत, देशगत संस्कार से उत्पन्न होती है। स्वर के आरोह और अवरोह, दो गतियों से ही उसके अगणित भेद हो गए हैं जो धारणा और संस्कार की दृष्टि से भिन्न-भिन्न रूप में बदल गये हैं। भारतवर्ष को यूरोप का गाना जितना विचित्र लगता है उतना ही चीन को भारतवर्ष का। इस प्रकार प्रत्येक देश और जाति की अपनी संस्कृति है, अपनी धारणा है, जिसके आधार पर वहाँ स्वर का विकास हुआ है। यह विकास ही प्रत्येक देश और जाति की धारणागत लय के मूल तत्त्व को काल-क्रम से अग्रसर करता रहता है जिससे लय का गत्यात्मक सौंदर्य उद्भासित होता है। मूलतत्त्व को यही विकासोन्मुख नवीनता लय में जीवन और सौंदर्य देती है। लय की विशेषता जीवन के साथ उसका लगा रहना है।

लय का स्वरूप और जातीय संस्कृति

प्रकृति के विशाल क्षेत्र में—स्थावर-जंगम सब में, जहाँ जीवन है वहाँ लय अवश्य है। नदी में, निर्झरिणी में, पेड़-पौधे में, लता-गुल्मों में, सर्वत्र लय-ही-लय है। मनुष्य की धमनियों में भी लय है। जीवन-शक्ति का सारतत्त्व ही लय है। इसी कारण मनुष्य के उत्कट विषाद और हर्ष में भी जो उच्छ्वास निकलते हैं उनमें गुरुत्व तथा लघुत्व के कारण लय की तरंगें खेलती हैं। गान के स्वर और लय को सुनकर अंतर की रागिनी इतनी तन्मय हो जाती है, भावनाएँ इतनी घनीभूत हो जाती हैं कि वर्त्तमान के केंद्र में ही हमारी सारी सत्ता रमण करने लगती है, अगले पद की उत्सुकता जाग-रित नहीं होती। गूंजते स्वर की पृष्ठभूमि पर नई-नई सुकुमार

लय की प्रकृति

भावनाएँ उठ-उठ कर एक रमणीय विश्व बनाने लगती हैं। काव्य में इसके दृष्टांत बहुत मिलते हैं, क्योंकि वहां जीवन का ही प्रधान व्यवसाय है।

स्पंदन, कंपन या गति का नाम ध्वनि या शब्द है। आकृतियाँ भी इसी ध्वनि या शब्द की गतियों से उत्पन्न हुआ करती हैं।

ध्वनि और उसकी विशेषता

अव्यक्त जगत् में प्रत्येक ध्वनि की एक विशिष्ट आकृति होती है और टेढ़ी-मेढ़ी, सीधी रेखाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्रों का निर्माण करती हैं। वैज्ञानिकों ने अनुसंधान से यह प्रमाणित किया है कि विशिष्ट संगीत-मंत्रों से ऐसी ध्वनियाँ निकलती हैं जिनके आघात-मात्र से आकृतियाँ बन जाती हैं। जोर से शब्दोच्चारण न करने पर भी उसकी कल्पना-मात्र से ही स्वर-यंत्र तदनुकूल स्पंदित हो जाते हैं। संगीत में लय की यही विभूति है। हिंदू-संगीत-शास्त्र में राग-रागिनी का विधान इसी प्रकार जीवन के जीवित तत्त्वों के आधार पर हुआ है। अव्यक्त जगत् की ये आकृतियाँ कोई कल्पना नहीं, प्रत्युत् एक प्रामाणिक तथ्य है १।

१ कुमारी वाट्स ह्युग्स (Miss Watts Hughes) ने अपनी 'ध्वनिरूप' (Voice figures) पुस्तक में अपने यांत्रिक प्रयोगों से इस तथ्य का प्रतिपादन किया है। यंत्र का नाम ईडोफोन (Eidophone) है जिसमें एक ध्वनि-ग्राहिणी नली (Receiver) लगी हुई है। नीचे की ओर एक प्रसारण तथा संकुचनशील लचीली झिल्ली है। जिस समय ईडोफोन यंत्र पर जो राग या रागिनी छेड़ी जाती है उस समय उस राग या रागिनी की एक विशिष्ट आकृति, ध्वनि-विशेष के अनुरूप, यंत्र पर अंकित हो जाती है।

तन्मात्राओं की दृष्टि से भी इसका विवेचन किया जाय तो यह सिद्ध है कि अन्तःकरण प्रकृति के सूक्ष्म द्रव्य मूलतत्त्वरूप तन्मात्राओं से बना है। मन वायु तन्मात्रा से बना है, अतः वह वायु की तरह ही शून्य में घूमनेवाला अत्यंत चंचल है। बुद्धि अग्नि तन्मात्रा से, चित्त जल तन्मात्रा से और अहंकार पृथ्वी तन्मात्रा से बना है। जो मूलतत्त्व जितना ही सूक्ष्म रहता है वह उतना ही प्रबल होता है। जल अधिक सूक्ष्म होने के कारण पृथ्वी तत्त्व से अधिक तीक्ष्ण है और वह पृथ्वी को बहा ले जाता है। अग्नि जल से अधिक सूक्ष्म होने के कारण उसे सुखा देता है। वायु अग्नि से अधिक प्रबल होने के कारण उसे उड़ा देती है। आकाश उससे भी अधिक सूक्ष्म होने के कारण वायु को अपने में स्थित कर लेता है, क्योंकि आकाश ही वायु का अधिष्ठान है। आकाश का गुण-रूप कार्य ध्वनि या शब्द ही है। लय-पूर्वक सुमधुर ध्वनि से सभी तत्वों पर अधिकार किया जा सकता है और इस प्रकार मन की चंचल वृत्तियों का निरोध कर इच्छित प्रभाव की प्रतिष्ठा की भी जा सकती है।

अन्तःकरण और पंच तन्मात्राएँ

हमारे यहाँ के छंद 'घुनाक्षर न्याय' के अनुसार अटकल पर ही नहीं बनाए गए। उनके भीतर कुछ तथ्य है, और वह तथ्य जीवन के रक्षणात्मक और मनोरंजनात्मक तत्त्वों के साथ संबंध रखता है। प्रचलित छंदों का विधान नाद-सौंदर्य की विशेषता पर अवलंबित है [१]। उनके भीतर लय की जो स्थिति है वह कोई बाहरी चीज

छंद का विधान

१ छंद का अर्थ बंधन या नियमबद्धता माना जाता है। उपनिषद् में छंद का अर्थ और प्रयोजन एक दूसरे ही रूप में माना गया है।

नहीं, प्रत्युत् जीवन के ही तत्त्वों के अनुसार निर्माण किया हुआ भाषा का बंधन है। लय-सौंदर्य के अनुरूप ही ये बंधन बनाए गए हैं और इनसे काव्य को दीर्घायु प्राप्त होता है। चलते हुए झरने का जो स्वर है उससे, आधारभूमि को एक व्यवस्थित क्रम से, उच्च, निम्न तथा समतल और विस्तृत तथा संकुचित, बनाकर कई प्रकार के स्वर निकाले जा सकते हैं। प्रत्येक भाषा का भी एक स्वाभाविक स्वर है और इससे, कई प्रतिबंधों से, भिन्न-भिन्न स्वर उत्पन्न किये जा सकते हैं। भाषा-प्रयोग के ये प्रतिबंध वस्तुतः बंधन नहीं, प्रत्युत् धनुष की चढ़ी हुई प्रत्यंचा की तरह उसकी शक्ति को बढ़ानेवाले हैं। नदी की स्वाभाविक धारा से जो काम न चल पाता वह उसकी गति के क्षेत्रों को कमकर, बांधकर, अधिक तेज बनाकर किया जाता है और इस प्रकार शक्ति पैदा करने का वह एक अद्भुत साधन बन जाती है। साधारण वाक्य में जो प्रवाह और क्षमता लक्षित नहीं होती वह छंद-व्यवस्था से पैदा कर ली जाती है। परस्पर की बातचीत में विना पूछे ही 'दाल-भात में मूसरचंद बनना' और उपदेश दे बैठना कितनी अशिष्टता है, पर छंदों की ओट में यह कहना—'विन पूछे ही कहत हैं सज्जन हित के बैन'—दोष का कितना परिहार कर देता है।

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशꣳस्ते छंदोभिरच्छादयन्यदेभिरच्छादयꣳस्तच्छंदसां छंदस्त्वम्। (छांदोग्य, १।४।२)

मृत्यु से भय मानते हुए देवताओं ने त्रयीविद्या (वेद) में प्रवेश किया और अपने को छंदों से आच्छादित कर लिया। इसी कारण मंत्रों का नाम छंद है।

काव्य और छंद में जो संबंध है वह अविच्छिन्न और अनिवार्य नहीं है। काव्य का साधारण अर्थ उसके पद्यात्मक रूप से माना जाता है, किंतु काव्यत्व इसी रूप में आवद्ध नहीं, वह गद्यात्मक भी हो सकता है। गद्य और पद्य का मौलिक भेद बुद्धि और हृदय की क्रिया का है किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि दोनों एक दूसरे के प्रभाव से सर्वथा अलग रहकर ही क्रिया-तत्पर होते हैं। गद्य बुद्धि-प्रधान होता है और पद्य हृदय-प्रधान। यहाँ काव्यत्व की सीमा को हम ने विवेचन की सुविधा केलिए, पद्य में ही सीमित कर दिया है। गद्य-रचना केलिए छंद का कोई प्रतिबंध नहीं, बल्कि छंद से भिन्न रहकर ही उसकी रचना होती है। पद्य की रचना केलिए छंद एक आवश्यक प्रतिबंध है, अनिवार्य भी हम कह सकते हैं यदि दो एक वर्त्तमान क्रांतिकारी कवि को इसमें विशेष आपत्ति न हो। काव्यत्व का क्षेत्र गद्य और पद्य दोनों है, किंतु पद्य की तरह सर्वांगतः काव्यत्व की पहुँच गद्य में नहीं होती, क्योंकि उसमें अनेक ऐसे विषयों का विवेचन या वर्णन तर्क-संयुत रहता है जो बुद्धि की प्रधानता से ही संभव है। भारतीय काव्य, जिसका श्रीगणेश ही छंद-बद्ध रचना से, अनायास या सप्रयास, हुआ है, गद्य को काव्यत्व की मर्यादा नहीं दे सका। उस समय गद्य का व्यवहार भी शुद्ध काव्य-कृति के नाम पर, नाटक की कुछ गद्यात्मक पंक्तियों के अतिरिक्त, नहीं होता था। आज से प्रायः सवा हजार वर्ष पहले महाकवि बाणभट्ट ने अपनी कादंबरी की रचना कर इस प्रचलित आस्था पर आघात किया और उनकी गद्यात्मक रचना के सौंदर्य पर

काव्य और छंद का संबंध

काव्यत्व की प्रतिष्ठा

विमुग्ध होकर आचार्यों ने गद्य में भी काव्यत्व को स्वीकार किया। उस समय से ही काव्यत्व का क्षेत्र गद्य और पद्य दोनों माना जाता है; किंतु लय और छंद का संबंध पद्यात्मक काव्य के ही साथ है और इस अध्याय में हम इसी विषय का विवेचन करेंगे।

हमें मनुष्य की उन स्वाभाविक वृत्तियों का विवेचन करना है जिनसे लय की उत्पत्ति होती है। जीवन में सुख-दुख का प्रभाव भिन्न-भिन्न रूप से पड़ता है और उससे भिन्न-भिन्न प्रकार की गतियाँ उत्पन्न होती हैं। हर्ष के समय नसों में रक्त-संचालन तीव्र हो जाता है और विषाद में वह शिथिल पड़ जाता है। मनुष्य हर्षोत्फुल्ल होकर जो उछल-कूद मचाता है उसकी प्रेरणा नाड़ियों की गति देती है। अपने उल्लास की व्यंजना मनुष्य अपनी उन शारीरिक क्रियाओं से करता है जिसे नृत्त कहते हैं। नृत्त के इसी ताल का आरोप वाद्य पर किया गया है जो अपने सहयोग से मनुष्य की उमंगों को अधिकतर तीव्र कर देता है। नृत्त का यही क्रियात्मक लक्षण वाद्य में ताल की ध्वनि पर उतरा है१। अनंतर वाद्य की इसी लय का आरोप भाषा पर किया गया है जिसका नियमन छंद के द्वारा होता है। इतना तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि वाद्य की लय का पूरा सामंजस्य भाषा के साथ नहीं हो सका है। इसके संबंध में दो बातें हैं, एक

(हाशिये पर: लय की उत्पति और उसके कारण)

(हाशिये पर: लय का आरोप भाषा पर)

१ नृत्त और नृत्य में भेद है। 'भवेद्भावाश्रयं नृत्तं, नृत्यं ताललयाश्रयम्' जिसमें भाव मुख्य हो वह नृत्त और जिसमें ताल तथा लय का आश्रय हो उसे नृत्य कहते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से नृत्य के १०८ भेद माने गए हैं, किंतु यहाँ उन भेदों के विवेचन का कुछ प्रयोजन नहीं है।

तो भाषा की अपनी स्वाभाविक लय-शक्ति है जो किसी भी प्रकार के बाह्य प्रभाव से यथासंभव अपने को मुक्त रखने में समर्थ रही, और दूसरी कोई भी बाहरी शक्ति दूसरे पदार्थ पर पूरी तरह व्याप्त भी नहीं हो सकती। संस्कृत काव्य में श्लोकों की श्रुति-मधुरता बहुत-कुछ भाषा की निजी संपत्ति है। हिंदी के आरंभिक छंदों में भी जो ढंग है वह छंद-विधान से अलग रहकर भी अपनी शक्ति का परिचय देता आया है। डिंगल भाषा के काव्य में यह शक्ति बहुत स्पष्ट है १।

लय के संबंध में पश्चिमी समीक्षकों का जो विचार है वह भारतीय दृष्टि से भी उपेक्षणीय नहीं २। कला के उच्छ्वास भिन्न-

१ डा० रामकुमार वर्मा ने अपने 'हिंदी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास' में डिंगल के संबंध में लिखा है कि डिंगल काव्य पिंगल से अपेक्षाकृत प्राचीन है। जब व्रजभाषा की उत्पत्ति हुई और उसमें काव्य-रचना होने लगी तब दोनों में अंतर बतलाने केलिए दोनों में नामकरण हुए। इतना तो निश्चित है कि व्रजभाषा में काव्य-रचना होने के पूर्व से ही राजस्थान में काव्य-रचना होने लगी थी। अतएव पिंगल के आधार पर डिंगल नाम होने की अपेक्षा, उनकी समझ से, यही उचित ज्ञात होता है कि डिंगल के आधार पर ही पिंगल शब्द का उपयोग किया गया होगा। किंतु छंद-शास्त्र के प्रणेता ऋषि का नाम भी पिंगल ही माना जाता है, अतः डा० वर्मा के इस पूर्वापर नामकरण की युक्ति संदेह से खाली नहीं है। नागरी प्रचारिणी पत्रिका (भाग १४, अंक २, पृष्ठ २२४) के अनुसार एक मत यह भी है कि डिंगल शब्द की उत्पत्ति डिम् (डम्) गल से हुई है। डिम् (डम्) का तात्पर्य डमरू ध्वनि से है और गल का तात्पर्य गले से है; गले से डमरू की ध्वनि के समान गुंजित होनेवाली।

२ अंग्रेजी का Ballad (ग्रामगीत) शब्द Ballate, to dance (नाचना) से बना है। विश्व-साहित्य में ग्रामगीत की जो प्रवृत्ति है उससे भी इस तथ्य का प्रतिपादन हो जाता है।

भिन्न प्रकार से अभिव्यक्त होते हैं। आनंद की सत्ता नृत्त से, वाद्य से, गान से, लय के रूप में प्रकट होती है। नृत्तं वाद्यं गानं त्रयं संगीतमुच्यते—नाचना, बजाना, गाना तीनों को संगीत कहते हैं। नाचना मनुष्य की कला-प्रियता का पहला विकास है। पद्य में यही तत्त्व पीछे विकसित होकर आ मिला है। पद्य या काव्य का संबंध गान से कुछ बातों में अपेक्षाकृत अधिक निकट मालूम पड़ता है। किंतु, लय की उत्पत्ति गान से नहीं है। लय गान से पहले की अवस्था है। बिना पद की सहायता से भी लय की गति व्यक्त की जा सकती है। बिना अर्थ जाने हुए ही संस्कृत के श्लोकों को गुन-गुनाते हुए मैंने बहुतों को देखा है। बाँसुरी की तान या वीणा की झंकार में पद तो अव्यक्त रहता है, किंतु उसकी लय की गतियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। ताल पर नाचने की क्रिया से भी यह प्रकट है कि लय अपनी अभिव्यक्ति केलिए पद को कोई अनिवार्य साधन नहीं समझती।

लय और संगीत

पद और लय

मनुष्य की यही लयात्मक प्रवृत्ति स्वरैक्य तथा समरूपता को पद पर आरोपित कर देती है और इस प्रकार पदावली अधिक भावुकतापूर्ण तथा स्मरणीय हो जाती है। इसके साथ यह भी याद रखने की बात है कि भाषा का जो अपना बोधात्मक पक्ष है वह स्वतः लय-संपन्न रहता है। मनुष्य की लयात्मक प्रवृत्ति उसको अधिकतर श्रुति-मधुर तथा प्रभविष्णुतापूर्ण बनाने की इच्छा से ताल के ढंग पर पद-विन्यास करती है और उससे इच्छित स्वर-साधन कर छंद की मुहर बैठा देती है। इस प्रकार छंद एक स्वाभाविक प्रवृत्ति का कृत्रिम बंधन है। यह कृत्रिमता स्वाभाविक लय के स्वरैक्य तथा

समरूपता की रक्षा के प्रयत्नस्वरूप होती है। भाषा की जो स्वाभाविक लय-प्रवणता है, वह कभी-कभी छंदों का बंधन ढीला पाकर स्वतः गतिमय हो जाती है। जैसे—

कहीं पै स्वर्गीय कोई बाला सुमंत्र वीणा बजा रही है।
सुरों के संगीत की सी कैसी सुरीली गुंजार आ रही है॥
हरेक स्वर में नवीनता है, हरेक पद में प्रवीनता है।
निराली लय है औ लीनता है अलाप अद्भुत मिला रही है॥

—श्रीधर पाठक

इस प्रकार एक दूसरा उदाहरण भी है, जहाँ भाषा की स्वाभाविक लय-शक्ति छंद में आवद्ध होकर उसकी लय के साथ-साथ गतियाँ उत्पन्न करती है—

ब्रज नव तरुनि कदंब मकुट-मनि स्यामा आजु बनी।
नख - सिख लौं अँग-अंग माधुरी मोहे स्याम धनी॥
यों राजति कबरी गुथित कच कनक-कंज-बदनी।
चिकुर चंद्रिकन बीच अधर बिधु मानौ ग्रसित फनी॥
सौभग रस सिर स्त्रवत पनारी प्रिय सीमंत ठनी।
भ्रुकुटि काम-कोदंड नैन - सर कज्जल रेख - अनी॥
भाल तिलक तार्टक गंड पर नासा जलज मनो।
दसन कुंद सरसाधर पल्लव पीतम - मन - समनी॥
हित हरिवंश प्रसंसित स्यामा कीरति बिसद घनी।
गावत स्त्रवननि सुनत सुखाकर विस्व-दुरति-दवनी॥

—हित हरिवंश

भारतीय साहित्य में पद्यबद्ध काव्य का मूल आदिकवि बाल्मीकि को उस करुणा-प्रेरित अभिव्यक्ति से माना जाता है जो उन्होंने तमसा नदी के किनारे काम-प्रमत्त क्रौंच-दंपति में से एक

नर क्रौंच का बध व्याघ-द्वारा होते देख तथा वियुक्त क्रौंची के विदग्ध विलाप को सुनकर निकाली थी।

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौंच मिथुनादेकमबधीः काममोहितम्"॥

यह कह चुकनेपर इसका अर्थ मन ही मन विचारने के बाद ऋषि बाल्मीकि को बड़ी चिंता हुई और तब उन्होंने अपने समीपस्थ शिष्य भरद्वाज से कहा—

"पादबद्धोऽक्षरामस्तंत्रीलय समन्वितः।
शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतुन्यान्यथा"॥

देखो, यह श्लोक मैंने शोकार्त्त हो उच्चरित किया है। इसमें चार पद हैं, प्रत्येक पाद में समान अक्षर हैं और यह वीणा पर भी गाया जा सकता है। अतः यह मेरा यशोरूप हो।

लय और छंद-विधान

अनुष्टुप् छंद में प्रतिष्ठित यह वाणी वीणा पर भी गेय है। इससे यह सिद्ध होता है कि वीणा की लय छंद-विधान से पहले ही निश्चित हो चुकी थी १। सारी रामायण ही लव-कुश ने वीणा पर गाई है। कवि की वाणी ने स्वयं अपना लक्षण साधारण रूप से बता दिया है और 'तंत्री-लय-समन्वित' कर श्लोक की रागात्मक विभूति बढ़ा

१ अंग्रेजी में लीरिक कविता (Lyrics) का छंद-विधान Lyre (वीणा) शब्द से ही प्रतिपादित होता है जिससे प्रमाणित हो जाता है कि उक्त ढंग की रचना वीणा का स्वर निश्चित हो जाने के बाद ही हुई। हिंदी में ऐसी कविताएँ मुक्तक कही जाती हैं। रस-पद्धति के अनुसार नामकरण बहुत उपयुक्त है, किंतु लय की दृष्टि से अंग्रेजी लीरिक कविता की तरह इन्हें वैणिक कहना भी अनुपयुक्त न माना जायगा।

दी है। छंद-शास्त्र के अनुसार श्लोक अनुष्टुप् के चारों चरणों में पाँचवाँ वर्ण लघु तथा छठा दीर्घ होता है। समपदों में सातवाँ भी लघु रहता है। अन्य वर्णों केलिए अपवाद रखकर इसमें विशेष नियम-विधान नहीं किया गया है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी वंदना के रूप में इस श्लोक अनुष्टुप् का उपयोग किया है—

"वर्णानामर्थ संघानां रसानां छंदसामपि।
मंगलानां च कर्त्तारौ वंदे वाणीविनायकौ"॥

छंदों का विधान दो पद्धतियों के अनुसार किया गया है, एक वर्णिक दूसरा मात्रिक। वर्णिक छंद में वर्णों का, लघु-गुरु के अनुसार क्रम और संख्या, आदि से अंत तक, समरूप है। मात्रिक छंद में केवल मात्राओं की संख्या, यति-नियम के साथ, निश्चित रहती है, अक्षर न्यूनाधिक हों तो हानि नहीं। इसमें एक-एक निश्चित स्थान पर लय की गति मुड़ती है, किंतु वर्णिक का प्रत्येक चरण, आदि से अंत तक, स्वरैक्य होकर चलता है। यति और गण के नियमों से छंदों में लय की तरंगों का तारतम्य रखा जाता है। ये नियम मनुष्य की श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक प्रक्रिया को ध्यान में रखकर बनाए गए हैं। ऐसे लंबे पद या चरण नहीं खींचे जाते जिनसे श्वास-क्रिया की सुगमता में कोई बाधा हो और पद का क्रम भी अनायास भंग हो जाय। इसी दृष्टि से वर्णिक में २६ तथा मात्रिक में ३२ से अधिक वर्णों या मात्राओं के छंद दंडक कहलाते हैं। दंडक का तात्पर्य श्वास-क्रिया को दंड देने या आघात पहुँचाने से ही है।

वर्णिक छंदों में द्रुतविलंबित, शार्दूलविक्रीडित, मंदाक्रांता,

वंशस्थ आदि तथा मात्रिक में हरिगीतिका, सार, वीर, सरसी आदि ज्यादा उपयोग में लाए जाते हैं। अब कुछ उदाहरण केलिए लय के अनुरूप छंदों की सूक्ष्म परीक्षा कर देखना चाहिए—

वर्णिक छंद का लय-विन्यास

भावों भरा मुरलिका स्वर मुग्धकारी,
आदौ हुआ मरुत साथ दिगंतव्यापी।
पीछे पड़ा श्रवण में बहु भावुकों के,
पीयूष के प्रमुदवर्द्धक विंदुओं सा।
—हरिऔध

यह वसंततिलका छंद है और गण-विचार से 'त भ ज ग ग' का समन्वय माना जाता है। ध्वनि-विश्लेषण करने पर लघु-गुरु के अनुसार इसकी लय-तरंग इस प्रकार चलती है—

SSI—SII—ISI—ISI—S—S

विशेष स्पष्टीकरण केलिए वर्णों के साथ गुरु-लघु का तारतम्य इस प्रकार देखा जा सकता है—

भावों भरा मुरलिका स्वर मुग्धकारी।
SS IS IIIS II SISS
आदौ हुआ मरुत साथ दिगंत व्यापी।
SS IS III SI ISI SS

इस प्रकार लय की तरंग एक निश्चित नियम के अनुसार एक-रूप होकर चलती है और ध्वनि के पारस्परिक सामंजस्य के कारण जो लय निस्सृत होती है उसका नाम वसंततिलका रखा गया है।

सूखा जाता कमलमुख था होंठ नीला हुआ था।
दोनों आँखें विपुल जल में डूबती जा रही थीं।
शंकाएँ थीं विकल करतीं काँपता था कलेजा।
खिन्ना दीना परम मलिना उन्मना राधिका थी॥
—हरिऔध

यह मंदाक्रांता नाम का वर्णिक छंद है और गण-विचार से 'म भ न त त ग ग' का समन्वय है। इसका ध्वनि-विश्लेषण इस प्रकार है—

SSS—SII—III—SSI—SSI—SS

ध्वनि-सामंजस्य के साथ पद-योजना इस प्रकार की जाती है—

सूखा जाता कमलमुख था होंठ नीला हुआ था।
SS SS IIIII S SI SS IS S
दोनों आँखें विपुल जल में डूबती जा रही थीं।
SS SS III II S SIS S IS S

एक और वृत्त का उदाहरण ले लीजिए—

विमुग्धकारी मधु मंजु मास था
वसुंधरा थी कमनीयतामयी
विचित्रता साथ विराजिता रही
वसंत वासंतिकता वनांत में
नवीनभूता वन की विभूति में
विनोदिता वेलि विहंग वृंद में
अपूर्वता व्यापित थी वसंत की
निकुंज में कूजित कुंज-पुंज में

—हरिऔध

यह वंशस्थ नाम का वर्णिक छंद है। गण-विचार से यह 'ज त ज र' का समन्वय है। इसका ध्वनि-विश्लेषण इस प्रकार किया जाता है—

ISI—SSI—ISI—SIS

लघु-गुरु के अनुसार पदावली के वर्ण इस प्रकार खपते हैं—

विमुग्धकारी मधु मंजु मास था।
IIS SS II SI SI S

वसुंधरा थी कमनीयता:मयी।
ISI S S IISIS IS

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो गया है कि वर्णवृत्त लय की एक निश्चित प्रणाली पर बँधे हुए चलते हैं। एक पंक्ति के साथ दूसरी पंक्ति का लयात्मक संबंध रहता है। नदी के वक्षःस्थल पर हवा के झोंके से जो कभी हल्की तरंगें और कभी उत्ताल तरंगें उठती हैं वे एक-दूसरे से अपनी समानता रखती हैं। यदि तरंगों में किसी प्रकार की एकता न रहे तो वे न तो अपनी सत्ता प्रकट कर सकतीं और न मनोमुग्धकर बन सकती हैं। पद-योजनाएँ भी लघु-गुरु के अनुसार अगणित रूप से की जा सकती हैं और उनके अनेक नामकरण किए जा सकते हैं, किंतु छंद-शास्त्र में कुछ सर्वमान्य निश्चित योजनाएँ ही रखी गई हैं। लयात्मक वृत्ति के आधार पर पद-विधान का भविष्य खुला हुआ है। कृतविध कवि, जिन्हें मनुष्य की उन वृत्तियों की पहचान है जो आकर्षण के तत्त्व पर केंद्रित होती हैं, किसी प्रकार की प्रणाली को निश्चित कर वर्णिक छंद की प्रतिष्ठा कर सकते हैं।

लय का विवेचन

मात्रिक छंद का विधान भी मूल-रूप से लघु-गुरु वर्ण या मात्रा के ऊपर निर्भर करता है, परंतु वर्णिक की तरह इसमें एक पंक्ति के साथ दूसरी पंक्ति का क्रमागत लयात्मक संबंध नहीं रहता। इसमें भी ध्वनि की मात्राएँ निश्चित रहती हैं, किंतु एक-एक ध्वनि-समूह का बाह्य खंड मानकर लघु या गुरु मात्रा को अनिवार्य कर प्रत्येक पंक्ति की लयात्मक समानता प्रतिभासित कराई जाती है। प्रत्येक चरण में निश्चित स्थल पर, निश्चित मात्रा, लघु या गुरु, रखी जाती

मात्रिक छंद का लय-विन्यास

है। ऐसे दो निश्चित स्थलों के मध्य की ध्वनि का व्यतिक्रम इसमें उल्लेखनीय नहीं माना जाता। निश्चित क्रम के अनुसार पद में लघु-गुरु का सन्निवेश स्वतः एक ऐसा लयात्मक स्वर उत्पन्न कर देता है जो अपने आवरण में कुछ ध्वनियों की अनियमितता को छिपा लेती है।

क्षत्राणियों के अर्थ भी सब से बड़ा गौरव यही—
सज्जित करें पति-पुत्र को रण के लिये जो आप ही।
जो वीर पति के कीर्त्तिपथ में विघ्न-बाधा डालती—
होकर सती भी वह कहाँ कर्त्तव्य अपना पालती।

—मैथिलीशरण गुप्त

यह मात्रिक छंद हरिगीतिका है। इसमें कुल अट्ठाइस मात्राएँ होती हैं, किंतु सोलह और बारह मात्राओं पर विराम पड़ते हैं। प्रत्येक चरण में लय के संचरण केलिए पाँचवीं, बारहवीं, उन्नीसवीं तथा छब्बीसवीं मात्राएँ लघु रहती हैं। अंतिम दो मात्राओं में पहली लघु और दूसरी दीर्घ होती है। इस प्रकार इस छंद का लयात्मक रूप ऐसा होता है—

क्षत्रा णि यों के अ र्थ भी सब, से बड़ा गौरव य ही।
सज्जि त करें पति पु त्र को रण, के लिए जो आ प ही
जो वी र पति के कीर्त्ति - पथ में, विघ्न बाधा डाल ती
होकर सती भी वह कहाँ क, र्त्त व्य अपना पाल ती

ऊपर के विश्लेषण से यह प्रकट है कि अट्ठाइस मात्राएँ होने से ही हरिगीतिका छंद का सारा काम नहीं चल जाता, प्रत्युत् निश्चित स्थान पर लघु-दीर्घ तथा विराम के अवस्थान अनिवार्य

हैं। मात्रिक छंद में केवल मात्राओं की संख्या ही निश्चित कर देना काफी नहीं है, लय-विधान केलिए उसमें स्वर के कुछ नियमों का पालन भी आवश्यक है। इसको अधिकतर स्पष्ट करने के विचार से अट्ठाइस मात्राओं का ही एक दूसरा मात्रिक सार छंद देखिए—

काँटों के पथ में भी कैसा है आलोक निराला,
जिससे क्लेश न पाता है वह दौड़ लगानेवाला,
है कोई जो जरा दयाकर मुझको यह बतला दे,
कैसे अमर बनाता उसको विष का तीता प्याला।
क्या देखा उसने जो जग की ममता को बिसराया,
निकल पड़ा लू की लपटों में तजकर शीतल छाया।
जग की मोहकता ने उसको चाहा खूब रिझाना,
रोक न सके मिले सब जाकर अपना और पराया।
—'कैरव'

सार छंद में भी हरिगीतिका की तरह अट्ठाइस मात्राएँ होती हैं और उसी प्रकार सोलह और बारह मात्राओं पर विराम होते हैं, किंतु चरण के अंत में दो दीर्घ वर्णों के अतिरिक्त हरिगीतिका जैसा मध्यवर्ती लघुत्व के निश्चित नियम नहीं हैं। ये नियम लय पर कितना आधिपत्य रखते हैं, यह बात दोनों छंदों को मिलाकर पढ़ने या सुनने से स्पष्ट हो जाती है। हरिगीतिका में अट्ठाइस मात्राओं के आदि-अंत दो बिंदुओं के बीच कई लयात्मक तरंगें उठती हैं जो स्वर की मध्यरेखा के ऊपर-नीचे जाकर लचक उत्पन्न करती हैं, परंतु सार छंद में स्वर की मध्यरेखा लगभग एक तरह से ही विराम पर कुछ रुकती हुई चली जाती है। अंतिम विराम के स्थान पर दो दीर्घ वर्णों के उच्चारण से, श्वास-संपत्ति का, जो

मध्यवर्त्ती क्षणिक विराम से थोड़ी शक्ति संचित कर लेती है, ह्रास हो जाता है। लय-विज्ञान की यही विशेषता समान मात्राओं के छंदों में भी भिन्न स्वर उत्पन्न कर देती है। अब एक तीसरा मात्रिक वीर छंद का उदाहरण लीजिए—

कभी लोभ-सी लंबी होकर कभी तृप्ति-सी होकर पीन,
क्या संसृति की अचिर-भूति तुम सजनि नापती हो स्थिति हीन।
अमित, तृषित अवलोक पथिक को रहती हो यों दीन-मलीन,
ऐ विटपों की व्याकुल प्रेयसि विश्व-वेदना में तल्लीन।

*　　*　　*　　*

गाओ-गाओ विहग-बालिके तरुवर से मिल मंगल-गान
मैं छाया में बैठ तुम्हारे कोमल स्वर में कर लूं स्नान।
हाँ, सखि आओ, बाँह खोल हम लगकर गले जुड़ावें प्राण
फिर तुम तम में मैं प्रियतम में हो जावें द्रुत अंतर्धान।

—सुमित्रानंदन पंत

यह इकत्तीस मात्राओं का वीर छंद है। इसमें आठ-आठ तथा पंद्रह मात्राओं पर विराम और अंत में गुरु तथा लघु मात्राएँ होती हैं। इसमें भी स्वर की मध्यरेखा लय की दो-तीन तरंगें ऊपर-नीचे देती हुई अंतिम विराम पर उच्छ्वसित हो उठती है। ढोल की गंभीर चोट पर फड़कता हुआ अल्हैतों का यह गीत कितना वीरदर्पपूर्ण है—

बारह बरिस लै कूकर जीएँ और तेरह लै जिएँ सियार।
बरिस अठारह छत्री जीएँ, आगे जीवन के धिक्कार॥

वर्णिक तथा मात्रिक के अतिरिक्त एक प्रकार का और छंद है जिसे पूर्वापर विरोध के रूप में मुक्त छंद कहा जाता है। यह एक

पद्य-हीन व्यवस्था है। एक क्रांतिकारी योजना के रूप में हिंदी में यह प्रविष्ट कराया गया है। शुरू-शुरू हिंदी में जयशंकर प्रसाद ने मुक्तवृत्त के अनुसार रचना की थी, किंतु अब निराला इसके मुख्य पुरोहित माने जाते हैं। यह पश्चिमी बीज का पूर्वी अंकुर है। अमेरिकन कवि वाल्ट व्हिटमैन (Walt Whitman) ने छंद-बद्धता की प्रतिक्रिया से छंदहीन कविता का श्रीगणेश अंग्रेजी में किया और अपनी आरंभिक कविताओं का एक संग्रह 'घास की पत्तियाँ' (Leaves of grass) के नाम से प्रकाशित कराया। 'घास की पत्तियाँ' जैसे सब बराबर नहीं होतीं, कोई बड़ी और कोई छोटी, वैसे ही ऐसी कविताओं की पंक्तियाँ सब समान नहीं होतीं, कोई बड़ी और कोई छोटी होती हैं। इस संग्रह के प्रकाशन के बाद भी उनकी काव्य-रचना अपने ढंग पर चलती रही। स्वेज-नहर खुल जाने पर उन्होंने 'भारत का पथ' १ शीर्षक एक लंबी पद्य-हीन कविता रची। अंग्रेजी साहित्य के संपर्क से इस स्वच्छंदता

मुक्त छंद का श्रीगणेश

१. Passage to India एक लंबी रचना है। उदाहरण केलिये उसकी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत कर दी जाती हैं।

Passage to India !
Struggles of many a captain, tales of many a sailor dead,
Over my mood steating and spreading they come,
Like clouds and cloudlets in the unreacted sky.
* * * * *
O we can wait no longer,
We too take ship, O Soul,
Joyous we too launch out on trackless seas,
Fearless for unknown shores on waves of ecstasy to sail.
* * * * *

की हवा बंगला को लगी और फिर उसकी पड़ोसिन हिंदी भी प्रभावित हुई।

जीवन में प्रतिक्षण क्रांति होती रहती है। काव्य का क्षेत्र भी इससे भिन्न नहीं। मनुष्य में साधारणतः दो तरह की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। कुछ लोग भले-बुरे से निरपेक्ष रहकर प्राचीनतावादी होते हैं और किसी भी प्रकार के परिवर्त्तन का विरोध करते हैं, क्योंकि उनकी समझ से परिवर्त्तन अतीत का अपमान है। दूसरे ढंग के लोग नवीनता के नाम पर विवेक-शून्य होकर सर्वग्राही बनते हैं। इनकी समझ में नवीनता ही जीवन है। इन दोनों से भिन्न एक तीसरी प्रवृत्ति के लोग भी हैं जो हिताहित के विचार से ही प्राचीनता तथा नवीनता का स्वागत करते हैं। हमारे जीवन में कुछ क्रांतियाँ ऐसी होती हैं जो धीरे-धीरे परिवर्त्तन करती जाती हैं और हम उनका तीव्र विरोध नहीं करते, कुछ कर भी नहीं सकते। इच्छा या अनिच्छा से अपने सामने वैसा ही वातावरण देखकर उसमें प्रवाहित हो जाते हैं। वैज्ञानिक सभ्यता ने हमारी रहन-सहन, वेष-भूषा, खान-पान यहाँ तक कि कुछ अंशों में भाव-विचार की वाह्य-अभिव्यक्ति में भी इतनी क्रांति कर

छंद-विधान में क्रांति की सापेक्षयता

Passage to more than India,
Are they wings pluned indeed for such far fights ?
O Soul, voyagest thou indeed on voyages like those ?
Disportest thou on waters such as those
Soundest below the Sanskrit and the Vedas
Then have thy bent unleash'd.

—Walt Whitman.

दी है कि परंपरागत प्राचीन मानव के साथ जब हम अपने आधुनिक जीवन की तुलना करते हैं तब अंतर स्पष्ट हो जाता है। परंपरा या परिपाटी को अधिक दिनों तक यथासंभव एकरस चलाने केलिए यह आवश्यक है कि उसके नियमों का विधान कर उसपर धार्मिकता का आवरण चढ़ा दिया जाय १। धर्म की स्थिति सत्य पर है, और सत्य चिरंतन है, अतः धार्मिकता जिस परंपरा या नियम के साथ लिपटेगी उसे अपनी शक्ति से बहुत दूर तक वह खींचती चली जायगी।

छंद-विधान में धार्मिकता

पिंगल ने छंद-शास्त्र का विधान किया और उस पर धर्म की मुहर लगाकर कवि-समाज के सामने रख दिया। जिस वस्तु में कुछ तथ्य रहता है उसी को धर्म अपनी शक्ति के साथ खींचकर बढ़ा सकता है, किंतु, तथ्यहीन वस्तु को धर्म रूढ़ि बनाकर भले ही खींचता चला जाय, उसमें जीवन की प्रांजलता नहीं झलकेगी। छंद में जहाँतक लय-तत्त्व का संबंध है वहाँतक वह रूढ़िग्रस्त नहीं माना जा सकता। वह जीवन की चिरंतन उद्भावना है। क्रांति वही सफल होती है और समझी जाती है जो जीर्ण रूढ़ि के स्थान में नवीन जीवन अनुप्राणित करने में समर्थ हो। मनुष्य की कृति में परिवर्त्तन करना संभव है और समयानुसार उसमें संशोधन, परिवर्द्धन या परिवर्त्तन करना भी

१ It is essential to every religion that its heritage should be treated as sacred. A society which puts a halo of sanctity round its tradition gains an inestimable advantage of power and permanance. The Vadic tradition became surrounded with sanctity and so helped to transmit culture and ensure the continuity of civilisation.

Sir S. Radhakrishnan: The Hindu View of Life, p. 18.

आवश्यक हो जाता है, किंतु इसी अभ्यास के अनुसार यदि प्रकृति के क्षेत्र में भी क्रांति का शंख फूँका जाय तो, प्रकृति की विभूति को भस्म करने की क्षमता के अभाव में, मानव-प्रयत्न ही नष्ट हो जायगा। जीवन में जो तत्त्व प्राकृतिक है उसे कोई क्रांतिकारी आंदोलन हिला नहीं सकता, लेकिन जो बाह्य और प्रक्षिप्त है उसमें क्रांति सफल हो सकती है। इसी दृष्टिकोण से हम मुक्त छंद की समीक्षा आवश्यक मानते हैं।

मुक्त छंद और लय

छंद से लय की स्वाभाविकता को हम हटा नहीं सकते, क्योंकि छंद में प्राण-प्रतिष्ठा करनेवाला यही तत्त्व है। बंधी हुई योजना को तोड़कर, लय के अवस्थान को विस्तृत तथा संकुचितकर, नया विधान बनाया जा सकता है, निश्चित प्रणाली के रूप में लय के आधार पर नये-नये छंद बनाये जा सकते हैं, लेकिन छंद के मूल तत्त्व—लय—के बहिष्कार से स्वयं प्रकृति—मानव प्रकृति—विद्रोह कर उठेगी! मुक्त छंद की पंक्ति में मात्रा या वर्णों का न्यूनाधिक्य कोई खास बात नहीं है। पर उसके उच्चारण या अभिव्यक्ति की कोई ऐसी मर्यादा अवश्य रहनी चाहिए जो जन-साधारण, कम-से-कम संस्कृत रुचिवाले को भी, रमा सके। केवल अनोखा या विस्मयकारक पदार्थ हृदय को प्रलुब्ध नहीं कर सकता। इससे उस वस्तु का महत्त्व भी बढ़ता नहीं। जब हमारा विस्मय या जिज्ञासा दूर हो जाती है तब हमारे लिए उसमें कोई आकर्षण शेष नहीं रह जाता। गाँव में ऊँट आया ऊँट! चलकर देखा, उसके डील-डौल, उसकी वृत्तियाँ, बस इसके साथ ही उस अद्भुत जीव का सारा अनोखापन जाता रहा। जीवन की इसी प्रवृत्ति के परितोष से काव्य का काम नहीं चल सकता।

उसे कुछ ऐसी वस्तु चाहिए जो रमणीय हो, जिसमें चेतनता प्रवाहित हो सके और जो प्रत्येक क्षण नवीनता का संदेश सुना सके।

मुक्त छंद का विवेचन

कीर्त्ति-शेष आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार 'पद्य-व्यवस्था से मुक्त काव्य-रचना वास्तव में पाश्चात्य ढंग के गीत-काव्यों के अनुकरण का परिणाम है। हमारे यहाँ के संगीत में बँधी हुई राग-रागिनियाँ हैं, पर योरोप में संगीत के बड़े-बड़े उस्ताद अपनी अलग-अलग नाद-योजना या स्वरमैत्री चलाया करते है। उस ढंग का अनुकरण पहले बंगाल में हुआ। वहाँ की देखा-देखी हिंदी में भी चलाया गया' १। मुक्त छंद, भिन्न तुकांत या अतुकांत कविताओं की रचना प्रत्येक कवि ने अपने ढंग से की है। एक की रचना के साथ दूसरे की समानता नहीं है। इसका कारण यही है कि किसी निश्चित विधान के अभाव में प्रत्येक कवि ने अपनी इच्छा के अनुकूल रचना-विधान माना है। मुक्त छंद के स्वच्छंद उन्नायक निराला के अनुसार 'जहाँ मुक्ति रहती है वहाँ बंधन नहीं रहते, न मनुष्यों में, न कविता में। मुक्ति का अर्थ ही है बंधनों से छुटकारा पाना। यदि किसी प्रकार की शृंखलाबद्ध नियम कविता में मिलता गया तो वह कविता उस शृंखला से जकड़ी हुई ही होती है, अतएव उसे हम मुक्ति के लक्षणों में नहीं ला सकते, न उस काव्य को मुक्त काव्य कह सकते हैं' २। किंतु यह तो कहने की बात है। वस्तुतः मनुष्य की कोई भी रचना शृंखला से खाली नहीं होती। अपने भाव, विचार, क्रिया सब में एक तारतम्य है, सामंजस्य है। एक

१ शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास—पृष्ठ ७७४।

२ निराला—परिमल, भूमिका, पृष्ठ २१।

व्यक्ति के साथ दूसरे का सामंजस्य स्पष्ट रूप में भले ही दिखलाया न जा सके, पर व्यक्तिगत ढंग से प्रत्येक का कर्म शृंखलाबद्ध ही होता है। विराट् प्रकृति के भी निश्चित नियम हैं, फिर क्षुद्र मनुष्य उससे पृथक् कैसे हो सकता है! अपनी भावना की अभिव्यक्ति के लिए यदि किसी नियम या शृँखला का आश्रय न लिया जाय तो वर्ण, पद या वाक्य के द्वारा हुए अपने को व्यक्त ही नहीं कर सकते और यदि करें भी तो दूसरों के निकट उस विशृंखल अभिव्यक्ति का अर्थ ही क्या होगा। नियम ही अर्थ है। कविता केलिए तो प्रकृत अर्थ के अतिरिक्त स्वर और लय का विशेष अर्थ भी आवश्यक है। निराला भी सामंजस्य की आवश्यकता को मानते हुए कहते हैं कि 'जिस तरह वेदों के बाद मुक्त भाषा व्याकरण में बँधती गई और अनेकानेक रूपों से वेदों से भावजन्य सामंजस्य रखती गई है उसी प्रकार संगीत संस्कृत में आकर, छंद-ताल-वाद्य आदि में बँध गया है और इस तरह संगीत के अर्थ से समवेत सभ्यजनों के पवित्र आनंद का साधक हो गया है' १।

कृत्रिमता और परंपरा

कृत्रिमता तथा परंपरा के बंधन के नाम पर छंद के त्याग की बात चलती है। जिनमें प्राकृतिकता न हो, यदि ऐसी सभी वस्तुओं के बहिष्कार का आंदोलन चल निकले तो, कुछ नग्नतावादियों के अतिरिक्त, कृत्रिम परिधान के नाम पर वस्त्राभूषण का संहार करनेवाले कितने शुद्ध प्रकृतिस्थ मिलेंगे, यह कल्पना की बात है। इस कृत्रिमता का संबंध अब सभ्यता के नाम पर मनुष्य की स्वाभाविक मनोवृत्ति के साथ हो गया है। सतत नियम-भंग केलिए भी किसी नियम-

१ निराला—गीतिका: भूमिका, पृष्ठ २।

विधान की आवश्यकता पड़ जाती है। मुक्त छंद को यदि निर्बंध छोड़ दिया जाय, तो वह काव्य के प्रयोजन का नहीं रह सकेगा, क्योंकि किसी निश्चित प्रणाली के अभाव में प्रत्येक कवि अपनी-अपनी रुचि के अनुसार ही उसकी रूप-रेखा बनावेगा। उसका ऐसा कोई सर्वमान्य या बहुमान्य रूप नहीं रह जायगा जो उसे काव्य के द्वार तक पहुँचा सके। काव्य का परिधान सर्वमान्यत्व से रँगा होना चाहिए। गद्य छंद-व्यवस्था से मुक्त है, किंतु सभी प्रकार की व्यवस्थाओं से वह मुक्त नहीं हो सकता।

मुक्त छंद का विधान

उसमें बंधुत्व नहीं है, यह ठीक है, पर निबंधत्व के बिना भी उसकी कोई रूप-रेखा नहीं बन सकती। समीक्षा केलिए कुछ उदाहरण देखिए—

दिवावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुंदरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे
तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर मधुर हैं दोनों उसके अधर—
किंतु जरा गंभीर नहीं है उनमें हास-विलास,
हँसता है तो केवल तारा एक,
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले बालों से,
हृदय-राज की रानी का वह करता है अभिषेक।

—निराला

इसमें संध्या का वर्णन एक नारी के रूप में किया गया है, परंतु हमें यहाँ वर्णन की समीक्षा न कर वर्णन करने की प्रणाली की समीक्षा करना है। इसमें न वर्णवृत्त है और न मात्रा-बंधन, है केवल दोनों प्रणालियों का मूलोच्छेद!

इस प्रकार का एक और उदाहरण लें—

सोती थी
जाने कहां कैसे प्रिय आगमन वह ?
नायक ने चूमे कपोल,
डोल उठी बल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल।
इस पर भी जागी नहीं, चूक क्षमा माँगी नहीं,
निद्रालस बंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही,
अथवा मतवाली थी
यौवन की मदिरा पिये कौन कहे ?
निर्दय उस नायक ने निपट निठुराई की
कि झोंकों की झड़ियों से
सुंदर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपोल गोल
चौंक पड़ी युवती—
चकित चितवन निज चारों ओर फेर
हेर प्यारे को सेज पास
नम्रमुखी हँसी—खिली
खेल रंग प्यारे संग।

—निराला

ऐसी पद्य-व्यवस्था-हीन कविताओं में छंद-बंधन के त्याग का साहस तो है, किंतु रीतिकाल की परंपरागत प्रवृत्ति से पुष्ट विभावत्व ज्यों-के-त्यों हैं। कवि का यह दावा है कि ऐसी पद्यहीन रचना में भी लयात्मक संबंध रहता है और रखा जा सकता है। प्रायः दस-बारह वर्ष हुए काशी में कवि के मुख से गाया जाकर मुझे इसे सुनने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ था। उस समय की धारणा अब ताजा

मुक्त छंद की लयात्मक प्रवृत्ति

नहीं है, परंतु कवि की प्रतिभा में कोई संशय नहीं। तीन-चार पंक्तियों के खंड में भी विचारपूर्वक यदि स्वर-मैत्री रखी जाय तो लयात्मक प्रवृत्ति की बहुत-कुछ रक्षा संभव हो सकती है, अन्यथा अभी जो कुछ है वह कवि को परितोष भले ही दे, लेकिन समरूपता के अभाव में काव्य-जगत् में इसका व्यवस्थित प्रसार संदिग्ध ही बना रहेगा। ध्यान से विचार करने पर उपर्युक्त रचना में भी कहीं-कहीं छंदबद्धता का सौंदर्य देखा जा सकता है। जहाँ कवि के हृदय में भावना निगूढ़ हो गई है वहाँ स्वाभाविक रूप से मित्राक्षर आ गए हैं और एक लय उत्पन्न हो गई है। कहीं अनावश्यक स्वरपात देकर, रुक-रुक कर पढ़ना पड़ता है और कहीं एक ही साँस में पंक्ति पूरी हो जाती है। यदि पद-व्यवस्था के समय हिंदी उच्चारण की वैज्ञानिक विशेषता को ध्यान में रखकर स्वर का गति-भंग न होने दिया तो मुक्त छंद की लोक-प्रियता बढ़ सकती है।

सुमित्रानंदन पंत भी मुक्त छंद के उन्नायकों में गिने जाते हैं। राग या स्वर की गति को पहचानने का विवेक निराला से पंत में ज्यादा है। उनके अनुसार 'अन्य छंदों की तरह मुक्त छंद भी हिंदी में ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक-संगीत की लय पर ही सफल हो सकता है। छंद का राग भाषा के राग पर निर्भर रहता है, दोनों में स्वरैक्य रहना चाहिए। जिस प्रकार गवैया तानपूरा के स्वरों से कंठ-स्वर मिलाकर गाता और स्वतंत्रता-पूर्वक तान तथा आलाप लेने पर भी उसके कंठ का तंबूरे के स्वरों के साथ सामंजस्य बना ही रहता तथा ऐक्य-भंग होते ही बेसुरा हो जाता, उसी प्रकार छंद का राग भी भाषा के तारों पर झूलता और

पंत का विचार

जहाँ दोनों में मैत्री नहीं रहती वहाँ छंद अपना स्वर खो बैठता है' १। यदि लय के साथ इतनी सहृदयता दिखाई जाय तो वस्तुतः मुक्त छंद से घबड़ाने की कोई बात नहीं, प्रत्युत् हिंदी कविता को एक नई और रमणीय भूमिका मिलेगी जिसपर उसके नवजीवन का विकास उद्भासित हो सकेगा।

पाठक और श्रोता के बीच स्वर का व्यवधान

किसी पुस्तक को पढ़कर सुनाने की अपेक्षा हमें मौखिक भाषण ही अच्छा लगता है। इसका प्रधान कारण यह है कि पढ़ कर कुछ बोलने में लय या स्वर की स्वाभाविक गति में बाधा पड़ जाती है, उसका प्रकृत माधुर्य उद्भासित नहीं हो पाता। पुस्तक की मध्यस्थता के कारण पाठक और श्रोता के बीच स्पष्ट संबंध नहीं रहता। जब पाठक एक पाठक के रूप में नहीं, प्रत्युत् एक वक्ता के रूप में उपस्थित होता है तब उसकी वाणी का स्वाभाविक स्वर श्रोता तक पहुंचता है और उससे श्रोता को विषय-बोध के अतिरिक्त स्वर का आनंद भी मिलता है। यह वाणी के स्वर का ही माहात्म्य है कि बहुत से मनुष्य संस्कृत के श्रुति-मधुर श्लोकों को, बिना उनका अर्थ समझे भी, गुनगुनाया करते हैं। 'सद्यः प्रीतिकरो रागः'— राग से सहज ही प्रीति उत्पन्न होती है। यही उसकी विशेषता है।

छंद-विधान में संवदेनावाद

यूरोप साहित्यिक वाद-प्रवादों का अखाड़ा है। काव्य के जितने भी मनोवैज्ञानिक पहलू हो सकते हैं, सब को अलग-अलग खींच कर प्रवादी बना दिया गया है। इसी प्रकार फ्रांस के एक साहित्यिक उत्थान का संवेदनावाद (Impressionism) है। फ्लिंट (F.S. Flint)

१ सुमित्रानंदन पंत—पल्लव : भूमिका, पृष्ठ ४५-४६।

के मूर्त्तविधानवाद (Imagism) के साथ ग्रंथि-बंधनकर कमिंग्ज (E. E. Cummings) ने काव्य को एक नई विलक्षण भूमिका दी है। संवेदनावाद का प्रयत्न काव्य को लय के अधिकतर निकट लाना है, पर शब्द की नाद-शक्ति का अवलंबन कर उससे बलात् अर्थ-व्यक्ति का काम लिया गया है। नादानुकृत शब्दों में जो ध्वनि है उससे हृदय में तदनुकूल संवेदना उत्पन्न होती है, यही उनकी काव्य-प्रणाली का मूल माना जाता है।

उसकी विशेषता

इस प्रणाली के अनुसार छंद के चरण-विन्यास का कोई निश्चित क्रम नहीं रहता। एक अक्षर का भी एक पूरा चरण माना जाता है। अक्षर-विन्यास, पद-भंग, पद-लोप आदि इसकी विशेषताएँ हैं। पाठकों केलिए सब से कठिन प्रश्न दूरारूढ़ अर्थ-यात्रा है, अर्थाक्षेप है। भाववाचक संज्ञा तथा यदि, किंतु, परंतु, और, फिर आदि अनेक अर्थ-व्यंजक उपसर्ग, अव्यय आदि का कोई महत्त्व नहीं रखा गया। समापिका क्रिया तथा कृदंत का मूल्य कुछ है। हिंदी के पुराने अमृत-ध्वनि-छंद के साथ इसकी समानता केवल शब्द-विन्यास के रूप में, और वह भी बहुत थोड़ी, मानी जा सकती है। विशेषण-विशेष्य के बीच विभक्तियों का समानाधिकरण अपभ्रंश-काल में कृदंत विशेषणों से ऊपर जा चुका था, किंतु प्राकृत की काव्य-प्रणाली में कृदंत विशेषण को एक निश्चित स्थान था। संवेदनावाद की प्रकांड विशेषता तो उसका चरण-विन्यास है। आधुनिक हिंदी कविता में भी अब इस विशेषता को बड़े सम्मान के साथ स्थान मिलने लगा है। कीर्त्ति-शेष आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने संवेदनावाद की एक

अंग्रेजी कविता १ का जो हिंदी-रूपांतर किया है वह उदाहरण केलिए दिया जाता है २। किसी भाषा की लाक्षणिकता तथा विलक्षणता दूसरी भाषा में ठीक-ठीक उतारी नहीं जा सकती। अधिक-से-अधिक एक भाषा का जो प्रभाव दूसरी पर पड़ सकता है उसके अनुसार ही काम लिया जा सकता है। आवश्यक परिवर्त्तन के साथ इसका भारतीयकरण कर दिया गया है।

सूर्यास्त

सं—दंश
स्वर्ण 'गुन' जाल

१ Sunset.

Stinging
Gold swarms
upon the spiros
Silver
Chants the litanies the
great bells are ringing with rose
the lewd fat bells
and a lull
wind
is dragging
the
sea
with
dream
—s.

२ चौबीसवें हिंदी साहित्य-सम्मेलन, इंदौर (संवत् १९९२) की साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष-पद से दिया गया आचार्य रामचंद्र शुक्ल का अभिभाषण—पृष्ठ ९८-१०२।

शिखर पर
रजत
        पाठ करता है
बड़े-बड़े घंटे बजते हैं गेरू से
मोटे निठल्ले नगाड़े
                        और एक उत्तुंग
पवन
खींचता है
सागर
को
स्वप्न
से

समुद्र के किनारे सूर्यास्त का यह वर्णन है। समुद्र की खारी हवा काटती-सी है। डूबते सूर्य की किरणें ऊँची उठी तरंग की श्वेत फेनिल चोटी पर पड़कर पीली मधुमक्खियों के फैले हुए झुंड-सी लगती हैं। वह ऊपर उठी लहर देव-मंदिर के मंडप-सी जान पड़ती है जिस के भीतर पाठ होता है, बड़े-बड़े घंटे बजते हैं, गेरू-से पुते दरवाजे होते हैं, नगाड़े बजते हैं, बड़ी तोंदवाले मोटे निठल्ले पुजारी बैठे रहते हैं। हवा समुद्र के जल को वैसे ही खींचती-सी जान पड़ती है जैसे मछुवा। सूर्यास्त हो जाता है। फिर अंधकार होता है। लोग सो जाते हैं, स्वप्न देखते हैं। इस प्रकार द्राविड़ी प्राणायाम-जैसी अर्थ-यात्रा संवेदनावाद में कैसे की जाती है, इसका विवरण यह है कि 'सं' से सनसनाहट अर्थात् हवा चलने की और 'दंश' से चमड़ा फटने, पानी की ठंढ़क और मधुमक्खी के डंक मारने

संवेदनावाद की अर्थ-यात्रा

की संवेदना उत्पन्न की गई है। 'स्वर्ण' से सूर्य की किरणों और मधुमक्खियों के पीले रंग का आभास दिया गया है। 'गुन्' से गुनगुनाहट और गुंजार का संकेत किया गया है जो 'दंश' के साथ मिलकर मधुमक्खियों की भावना उत्पन्न करता है। 'जाल' झुंड का द्योतक है। 'पाठ' 'घंटे' और 'नगाड़े' को मिलाकर मंदिरों में होनेवाले शब्द तथा समुद्र के गर्जन और छींटों की कल-कल का आभास दिया गया है। लटके हुए 'घंटे' की मूर्त्त भावना में लहरों के नीचे-ऊपर झूलने का भी संकेत है। 'गेरू' में संध्या की ललाई झलकाई गई है। 'नगाड़े' में निकली हुई 'तोंद' का भी संकेत है। रचना के प्रथम खंड में 'सूर्य' और 'समुद्र' शब्द नहीं रखे गए हैं, किंतु 'स्वर्ण' में तपे सोने के ताप और दमक की भावना रखकर सूर्य का और 'रजत' में शीतलता और स्वच्छता की भावना रखकर जल-राशि या समुद्र का संकेत कर दिया गया है। इसमें 'स' के अनुप्रास से भी सहायता ली गई है। यह अनुप्रास पहले खंड में 'स' अक्षर से आरंभ होनेवाले सूर्य और समुद्र शब्दों की ओर भी संकेत करता है।

संवेदनावाद का यह स्वरूप संकेतवाद या तथाकथित मूर्त्त विधानवाद के ऊपर टिका हुआ है। संवेदना में जो प्रतीति होती है उसका कोई चिह्न इसमें नहीं, प्रत्युत सादृश्य या उसके सूक्ष्म सूत्र को पकड़कर कल्पना कितनी दूर भिड़ाई जा सकती है, यह स्पष्ट है। हिंदी कविता पर इसके मर्म का प्रभाव बहुत ही कम पड़ा है, किंतु पद-भंगी चरण-विन्यास ने वस्तुतः अपना चरण-प्रसार कर दिया है।

संवेदनावाद का प्रभाव

वाल्ट ह्विटमैन ने परंपरागत काव्य-पद्धति में क्रांति का जो संदेश दिया वह प्रोफेसर मैरिनिटी (Prof. Marinetti) के भविष्यद्वाद की अपेक्षा बहुत कुछ सौम्य तथा सरल कहा जा सकता है। इटली के प्रोफेसर ने काव्य-पद्धति का जो नया संप्रदाय भविष्यद्वाद के नाम पर चलाया उसमें छंद का संपूर्णतः मूलोच्छेद ही कर दिया गया है। कोई रूप नहीं, कोई विधान नहीं। इस काव्य-संप्रदाय के संचालन केलिए उसके उद्देश्यों का एक लंबा घोषणा-पत्र भी, नियमावली के साथ, प्रकाशित कराया गया है १। मैरिनिटी का यह प्रयत्न रोमन (Italian) काव्य-प्रणाली की उस रूढ़ि-प्रियता के प्रतिक्रिया-स्वरूप है जो एकबार यूरोपीय साहित्य में रोमांस (स्वच्छंदता या वैचित्र्यवाद) के नाम पर उच्छ्वसित हो चुका है। यह प्रयत्न यांत्रिक सभ्यता से प्रेरित हुआ कहा जाता है।

भविष्यद्वाद

भविष्यद्वाद का आधार, मैरिनिटो के अनुसार, हमारी उस इंद्रियगम्यता पर है जो वैज्ञानिक सभ्यता से उत्पन्न है। जो टेलिग्राफ, टेलिफोन, ग्रामोफोन, रेल, मोटर, हवाई जहाज, सिनेमा तथा बड़े-बड़े दैनिक पत्रों का व्यवहार करते हैं वे नहीं जानते कि उनके मनोविज्ञान पर ये कितना प्रभाव रखते हैं। साधारण आदमी भी इन यंत्रों की सहायता से क्या-से-क्या कर डालता है। इनसे हमारे चित्त में ये विकार उठते हैं—जीवन में शीघ्रता, प्राचीन तथा ज्ञात के प्रति भय और नवीन तथा अज्ञात के प्रति प्रेम, शांत

भविष्यद्वाद का आधार और कारण

१ Futurist consciousness and manifesto (vers'-libristes) Epitomised from the translation by Mr. Harold Munro, in Peotry and Drama,

जीवन से घृणा, परोक्ष के भाव का विनाश तथा वैयक्तिकता की वृद्धि, मनुष्य की इच्छाओं तथा महत्त्वाकांक्षाओं की अलक्ष्यता, अननुभव्य तथा अप्राप्तव्य का सच्चा ज्ञान, स्त्री और पुरुष का समानाधिकार, प्रेम का दुर्भाव, व्यवसाय में वासना, कला तथा आदर्श का योग, आर्थिक चेतनता, कूप-मंडूकता तथा दूरता का ह्रास, विश्व-भाव की वृद्धि, वक्र तथा चक्र के प्रति घृणा, सरल तथा अंत्यरेखा से प्रेम, विवरण की मंद गति, प्रपंचित विश्लेषण तथा व्याख्या से भय, गति, संक्षेप, सार तथा आध्यात्मिक क्रिया में गंभीर अंतर्दृष्टि का अनुराग। प्रोफेसर मैरिनिटी ने उदाहरण-स्वरूप बताया है, यदि आपका कोई घनिष्ट मित्र, जिसके पास वाणी की शक्ति है, किसी क्रांति, युद्ध, नौका-दुर्घटना, या भूकंप में जीवन के प्राण-संशयमय क्षणों को बिता चुका हो और दौड़ता हुआ आपके पास आवे तो वह अपने अनुभवों को बताने तथा प्रभावशाली बनाने केलिए वाक्य-विन्यास पर ध्यान नहीं देगा, विशेषण तथा विरामों को छोड़ देगा। वह शैली की किसी रीति को नहीं मानेगा, ज्यों-त्यों क्रमहीन तथा संमिलित संवेदनाओं से आपके मस्तिष्क को हिला देना चाहेगा, अपनी भावना के अनियमित तथा अनियंत्रित आवेग के कारण वह कुछ इने-गिने महत्त्वपूर्ण शब्दों का ही उपयोग करेगा। उसका प्रधान लक्ष्य यही रहेगा कि वह अपने सारे संघातों और विकारों को आप पर उतार दे।

मैरिनिटी का विचार है कि तथ्य की प्रधानता केलिए चुने हुए मुख्य-मुख्य शब्दों का व्यवहार, जिनमें अधिकांश नादानुकृत ही हों, कल्पना की एकसूत्रता रखे बिना किया जाय। शब्द नये

नये गढ़े जायँ। स्वर-व्यंजन की कतरव्योंत आवश्यकतानुसार की जाय। गणितिक चिह्नों का उपयोग भी, विषय को स्पष्टता केलिए, यथासंभव किया जाय। इस प्रकार मैरिनिटी का काव्य पागल के प्रलाप से बढ़कर कुछ न होगा, किंतु, उनकी समझ से आधुनिक काल के उपयुक्त ऐसा ही काव्य हो सकता है।

भविष्यद्वाद की प्रकृति और उसका एक उदाहरण

वर्त्तमान में भविष्यद्वाद का काव्य-संप्रदाय चलाने का तात्पर्य वह इतना ही समझते हैं। उदाहरण केलिए हिंदी के एक यशस्वी कवि की रचना १ यदि वे भविष्यद्वादी होते तो ऐसी होती—

१ अंतर्दाह से—

अयि अमर शांति की जननि जलन !
अक्षय तेरा शृंगार रहे
जीवनधन - स्मृति - सा अमिट,
निरंतर तेरा मेरा प्यार रहे।

धधकें लपटें अंतरतर में,
तेरे चरणों पर शीश झुके,
तूफान उठें अंगारों के
उर-प्रलय-सृष्टि का स्रोत रुके।

हाँ, खूब जला दे, रह न जाय
अस्तित्व; और जब 'वे' आवें—
चरणों पर दौड़ लिपट जानेवाली
मेरी विभूति (ही) पावें—

—'द्विज'

अमरता+शांति जननी जलन, शृंगार
अक्षय जीवनधन+स्मृति = अमिटता
प्यार मैं तुम निरंतर धधक लपट
अंतर=चरण+शीश झुकना, अंगार+
तूफान उठना, उर प्रलय सृष्टि स्रोत
रुकना, जल+जल=अनस्तित्व, आना
चरण लिपटना=पाना विभूति ।

मुझसे जहाँतक संभव हो सका है और जहाँतक भविष्य-द्वादी घोषणा-पत्र के उद्देश्यों को समझ पाया, मैंने तथाकथित पद-व्यवस्था का एक निर्व्याज प्रयत्न किया है।

दूसरा उदाहरण

इटैलियन भाषा की सांस्कृतिक अनभिज्ञता मेरी कठिनाइयाँ बढ़ाती हैं सही, परंतु यह अनुकरण एक शुद्ध प्रयत्न के रूप में ही है। मूल कविता से पूर्व परिचित रहने के कारण, संभव है, पाठकों को इसमें कुछ कल्पनात्मक सूत्र भी लक्षित हो। यदि किसी मौलिक वर्णन का पद-निर्देश भविष्यद्वादी पद्धति से किया जाय तो पाठकों को उसमें ग्राहक कल्पना का आक्षेप यत्नतः करना पड़ेगा। किसी भूकंप-पीड़ित नगर का वर्णन भविष्यद्वादी कविता में कुछ ऐसा हो सकता है।

भूकंप, गड़गड़ाहट, हड़हड़ाहट=ध्वंस, प्रलय,
चीत्कार, महानाश, महाक्रांति, महाभीषणता,
स्त्रीपुरुष+बालवृद्ध, कंपन, तूफान, ओला,
आग, पानी, महल; अट्टालिका=ईंट पत्थर,
खँड़हर, संपत्ति विलास हास्य=रुदन सर्वनाश।

ऐसा मालूम हो रहा है जैसे मैं पाठकों के धैर्य के साथ खिलवाड़ कर रहा हूँ। किंतु, विवशता यही है कि हिंदी साहित्य में भी भविष्यद्वादी काव्य-प्रणाली का प्रवेश होने लगा है। गद्य में इस प्रणाली का अनुगमन यत्र-तत्र होता रहता है और वह प्रसंगानुसार बहुत-कुछ अर्थबोधक भी रहता है, किंतु पद्य के नाम पर यह चेष्टा बड़ी शोचनीय है। ऐसी काव्य-प्रणाली, जो समस्त मानव-जीवन को आवेग और उद्वेग में ही केंद्रित कर चलनेवाली हो, कितनी निस्सार है, यह कहना ही व्यर्थ है। भविष्यद्वादी कवि अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने का जो उपाय सरल समझे हुए हैं, वह वक्र ही नहीं, प्रत्युत् चक्र है। कवि की विधायक कल्पना का एकांत अभाव हो जाने के कारण जो इसकी अभिव्यक्ति के लक्ष्य को रूप देती है, गति देती है, पाठक या श्रोता की ग्राहक कल्पना विमूढ़ हो जाती है। उसे कोई मार्ग स्पष्ट नहीं मालूम होता जिस पर उसकी कल्पना अग्रसर हो सके। इसके विपरीत उसकी कल्पना निश्चित संकेत न पाकर 'यह हो सकता है, वह हो सकता है' के चक्र में पड़कर रुद्ध-गति हो जाती है। सरस्वती की मूर्त्ति के उद्देश्य से पत्थर के टुकड़े के बदले संगमरमर या सोने के ही टुकड़े को सामने रखकर वर्णन के सार रूप में मैरिनिटी साहब चिल्लाकर 'वीणा' 'पुस्तक' 'हंस' कहते रहें, किंतु ऐसे पाठकों के चित्त पर, जिन्हें भारतीय संस्कृति से कुछ संबंध नहीं, कोई बिंब नहीं स्पष्ट हो सकेगा। उनकी ग्राहक कल्पना भटकी ही रहेगी। कवि का कौशल केवल द्रव्य या तथ्य उपस्थित कर देने में ही नहीं, प्रत्युत् उसको एक रूप, एक आकार देकर जीवन की गतियों से अनुप्राणित करना भी है। भविष्यद्वादी

कवि इस दृष्टि से बहुत पंगु हैं। वे काव्य न कर तमाशा खड़ा करने का ही हौसला रखते हैं।

उपर्युक्त प्रकार के छंदों या काव्य-रूपों के जो विवेचन किए गए हैं उनमें से वर्णिक तथा मात्रिक छंदों में अंत्यानुप्रास का विवेचन भी आवश्यक समझ पड़ता है।

अंत्यानुप्रास

लय पर शासन करने केलिए ही साधारणतः उसका व्यवहार किया जाता है। पद्य के चरणों के अंत्याक्षरों को तुकांत कहते हैं और इसी का नाम अंत्यानुप्रास भी है। इसके छः भेद हैं—सर्वांत्य, समांत्य विषमांत्य, समांत्य, विषमांत्य, सम विषमांत्य तथा भिन्न तुकांत। स्वर-मैत्री के विचार से चरणों के अंतिम वर्णों की समरूपता रखी जाती है। तुकांत का प्रभाव भी कुछ ऐसा होता है कि वह चरण के मध्य की स्वर-भिन्नता को दबाकर अंत में स्वर को एक ताल पर बैठा देता है। हृदय की लयात्मक प्रवृत्ति से अंत्यानुप्रास या तुकांत का इतना सामंजस्य है

उसकी प्रकृति और महत्व

कि पदोच्चारण के पहले ही विविक्षित पदांत की कल्पना से सम पर मस्तक झुक जाता है, ऐसा नहीं कि पाठक या श्रोता थके मजदूर की तरह घर पहुँचकर सर का बोझा धम्म-से पटक देते हैं! वर्णवृत्त छंद में प्रत्येक चरण की क्रमागत समरूपता के कारण भिन्न तुकांत कर्णकटु नहीं मालूम पड़ता, किंतु मात्रिक या अक्षर छंद में तुकांत से पद्य की शोभा, लय और ताल से संयुत होकर, बढ़ जाती है। हिंदी केलिए मात्रिक तथा संस्कृत केलिए वर्णिक छंद भाषा की प्रकृति के अनुकूल होते हैं। छंद में तुकांत का जो महत्व है वह एक सहृदय कवि के शब्दों में ही अच्छी तरह प्रतिपादित

किया जा सकता है। 'तुक राग का हृदय है जहाँ उसके प्राणों का स्पंदन विशेष रूप से सुनाई पड़ता है। राग की समस्त छोटी-बड़ी नाड़ियाँ मानो अंत्यानुप्रास के नाड़ी-चक्र में केंद्रित रहतीं जहाँ से नवीन बल तथा शुद्ध रक्त ग्रहणकर वे छंद के शरीर में स्फूर्त्ति-संचार करती रहती हैं। जो स्थान ताल में सम का है वही स्थान छंद में तुक का। वहाँ पर राग शब्दों की सरल-तरल ऋजु-कुंचित 'परनों' में घूम-फिरकर विराम ग्रहण करता, उसका शिर जैसे अपनी ही स्पष्टता में हिल उठता है। जिस प्रकार अपने आरोह-अवरोह में रागवादी स्वर पर बारबार ठहरकर अपना रूप-विशेष व्यक्त करता है उसी प्रकार वाणी का राग भी तुक की पुनरावृत्ति से स्पष्ट तथा परिपुष्ट होकर लय-युक्त हो जाता है १।

वर्णिक और मात्रिक छंद तथा अंत्यानुप्रास

पद्य में तो तुकांत का प्राचुर्य है ही, गद्य में भी इसका प्रवेश प्रायः करा दिया जाता है। जो भाषा की तड़क-भड़क और चमक-दमक में अनुराग रखते हैं, वे वृत्त-गंधि गद्य खूब लिखते हैं, किंतु है यह पद्य-जगत की योजना और उसी में इसका व्यवहार समुचित है। भिन्न तुकांत का व्यवहार भी पद्य में देखा-देखी खूब होने लगा है और वह भी सफलतापूर्वक। संस्कृत वृत्तों में लय की समरूपता कुछ ऐसी बंधी चलती है कि अंतिम पद समरूप हो या न हो, चित्त को वर्ण-भिन्नता खटकने नहीं देती, पर मात्रिक छंद में इस कौशल की थोड़ी-सी कमी रही तो भिन्न तुकांत अप्रिय मालूम होने लगता है। हिन्दी-काव्य भी जब तुक और बंधन के भीतर व्याकुल-सा होने लगा तब उससे मुक्ति का उपक्रम होने लगा।

१ सुमित्रानंदन पंत—पल्लव : भूमिका, पृष्ठ ४०

वस्तुतः यह व्याकुलता जितनी उसके स्रष्टाओं में लक्षित हुई, उतनी उसके पाठक या श्रोता में नहीं। इस व्याकुलता की विराट् व्यंजना हरिऔध के महाप्रबंध प्रिय-प्रवास में हुई, और दूसरे ढंग से बहुत काल के बाद कुछ कवियों ने भी इसका परिचय अनोखे ढंग से दिया। पाठकों के परंपरागत संस्कार पर, जो अंत्यानुप्रास तथा नियमित छंद पर टिका आ रहा था, जोर का झटका लगा। जिस वीणा पर हिंदी-भारती गूंजती चली आ रही थी उसको हटाकर दूसरे स्वर पर हृदय को बैठाना सहज काम न था। इसके लिए कुछ विशेष संस्कार अपेक्षित है। पर वह हुआ और इसलिये हुआ कि अंत्यानुप्रास ने चाहे भारती का दामन छोड़ दिया हो, पर लय के विना उसकी गति ही संभव न थी।

उपसंहार

शुरू-शुरू में जब हिंदी में विविध विषयों का समावेश नहीं हो सका था, उसके दृष्टिकोण का विस्तार व्यापक नहीं हुआ था, तब छंद भी प्रायः वे ही काम में लाये जाते थे जिनका प्रयोग पहले से ही हो रहा था। नवीन दृष्टिकोण ने नए छंद तथा भाषा का सुष्टु रूप काम में लाना शुरू किया। प्राचीन छंदों में खड़ी बोली को समाविष्ट होने में अधिक कठिनता तो नहीं मालूम पड़ी, किंतु कवियों को ही अपने उल्लास की अभिव्यक्ति में नवीनता नहीं मालूम पड़ने लगी। संस्कृत के बहुत पुराने वृत्त, जो हिंदी में प्रचलित नहीं थे, जनता का विनोद करने लगे। सिद्धहस्त कवियों ने मात्रिक छंदों के अतिरिक्त हिंदी में संस्कृत वर्ण-वृत्त का भी व्यवहार किया। उर्दू के छंदों का व्यवहार भी इधर-उधर होने लगा। मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी भारत-भारती के

उपसंहार में—सोहनी के रूप में जो गजल लिखी है वह विशुद्ध हिंदी भाषा में है और अपनी स्थिति में अनुपम है। 'हरिऔध' तथा 'दीन' ने उर्दू बह्रों में बहुत ज्यादा रचनाएँ कीं और उनके प्रयोग-प्रताप से वे हिंदी-पिंगल में बैठने की जगह भी पा गए, परंतु अपने संस्कारों से पूरी मुक्ति उन्हें नहीं मिल सकी। कहीं-कहीं ह्रस्व-दीर्घ के नियम का व्यतिक्रम बना ही रहा। नई पीढ़ी के कवियों ने जो रचनाएँ की हैं उनमें छंद के नियमों का यथातथ्य पालन नहीं हो सका है। एक ही शीर्षक में छंदों के भेद बदल गए हैं। कहीं-कहीं तो ऐसा भी है कि एक ही पद्य में भिन्न-भिन्न छंदों के प्रयोग हो गए हैं। इसका कारण यही है कि कवि की प्रतीति को जिस ओर अनुकूल मार्ग मिला है उसी ओर वह चल पड़ी है। जो भाव जैसे हों उनके लिए छंद भी वैसे ही उपयुक्त चुनने का विधान तो है, परंतु विधान का पालन जहाँ कहीं कवि की स्वच्छंदता में बाधक हुआ है वहाँ कवि ने असमर्थतावश दूसरा ही मार्ग पकड़ा है। वस्तुतः छंद-शास्त्र काव्य-रचना की सुगमता केलिए है, उस पर कोई प्रतिबंध डालने केलिए नहीं। महाकाव्य में भिन्न-भिन्न प्रकार के छंदों के व्यवहार की जो परिपाटी है वह कवि के पांडित्य-प्रदर्शन केलिए नहीं, प्रत्युत् जीवनव्यापी भिन्न-भिन्न भाव-विचार की अभिव्यक्ति को अनुकूल मार्ग देने। लय और छंद के सारे तारतम्य पर विचार कर यदि उनका प्रयोग किया जाय तो उससे काव्य की आयु और शक्ति बढ़ती है और कवि को अनुरूप कीर्त्ति प्राप्त होती है।

आठवाँ अध्याय

ग्रामगीत का मर्म

किसी भी देश के काव्य का उद्भव साधारणतः वहाँ की दंत-कथाओं या ग्रामगीतों से होता है। उसके उत्तरोत्तर कलात्मक विकास में मानव जीवन के महत्त्व की संहृति तथा उसकी विविधता का आलोचन रहता है। सामाजिक जीवन और काव्य, दोनों, को मिलाकर देखने से यह पता चलता है कि समाज की धारणाओं के मध्य में जीवन का प्रवाह किस दिशा में, कितनी दूर तक, जा सका है, परिस्थिति की परवशता के कारण जीवन किस सीमा तक पंगु बना है और कहाँतक उसने परिस्थिति तथा समाज की रूढ़ियों पर विजय पाई है। ग्रामगीतों में मानव जीवन के उन प्राथमिक चित्रों के दर्शन होते हैं जिनमें मनुष्य साधारणतः अपनी

ग्रामगीत का उद्भव और उसकी प्रकृति

लालसा, वासना, प्रेम. घृणा, उल्लास, विषाद को समाज की मान्य धारणाओं से ऊपर नहीं उठा सका है और अपनी हृद्गत भावनाओं को प्रकट करने में कृत्रिम शिष्टाचार का प्रतिबंध भी नहीं माना है। उनमें सर्वत्र रूढ़िगत जीवन ही नहीं है, प्रत्युत् कहीं-कहीं प्रेम, वीरता, क्रोध, कर्त्तव्य का भी बहुत ही रमणीय बाह्य तथा अंतर्विरोध दिखाया गया है। जीवन की शुद्धता और भावों की सरलता का जितना मार्मिक वर्णन ग्रामगीतों में मिलता है उतना परवर्त्ती कलागीतों में नहीं।

ग्रामगीत का तात्पर्य

जीवन का आरंभ जैसे शैशव है, वैसे ही कलागीत का ग्रामगीत है। ग्रामगीत संभवतः वह जातीय आशुकवित्व है जो कर्म या क्रीड़ा के ताल पर रचा गया है। गीत का उपयोग जीवन के महत्त्वपूर्ण समाधन के अतिरिक्त साधारण मनोरंजन भी है, ऐसा कहना अनुपयुक्त न होगा। मनोरंजन के विविध रूप और विधियाँ हैं। स्त्री-प्रकृति में गार्हस्थ्य कर्म-विधान की जो स्वाभाविक प्रेरणा है उससे गीतों की रचना का अटूट संबंध है। चक्की पीसते समय, धान कूटते समय, चर्खा कातते समय, अपने शरीर-श्रम को हलका करने केलिए स्त्रियाँ गीत गाती हैं। उस समय उनका अभिप्राय साधारणतः यही रहता है कि परिश्रम के कारण जो थकावट आई रहती है उससे ध्यान हटाकर अन्यथा मनोरंजन में चित्त संलग्न किया जा सके। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे गीत भी हैं जो भाव की उमंग में गाये गए हैं। जन्म, मुंडन, यज्ञोपवीत, विवाह, पर्व-त्यौहार आदि के अवसर पर जो गीत गाए जाते हैं उनमें उल्लास और उमंग की ही प्रधानता रहती है। उनके गीतों का मुख्य

विषय पारिवारिक जीवन है। प्रेम, विरह तथा सपत्नी सास-ससुर के वर्त्ताव, माँ, भाई, बहन का स्नेह आदि बातें ही ज्यादातर गीतों में पाई जाती हैं। स्त्री-प्रकृति का अनुकरण पुरुषों ने भी किया। हल जोतने, नाव खेने, पालकी ढोने आदि कामों के समय गाये जाने लायक गीत पुरुषों ने भी बनाए। किंतु सब मिलाकर ग्रामगीतों की प्रकृति स्त्रैण ही रही, पुरुषत्व का आक्रमण उन पर नहीं किया जा सका। स्त्रियों ने जहाँ कोमल भावों की ही अभिव्यक्ति की, वहाँ पुरुषों ने अवश्य ही अपने संस्कारवश प्रेम को प्राप्त करने केलिए युद्ध-घोषणा भी की। इस प्रकार मनुष्य की दो सनातन प्रवृत्तियों प्रेम और युद्ध का वर्णन भी ग्राम-गीतों में मिलता है। तत्त्वतः ग्रामगीत हृदय की वाणी हैं, मस्तिष्क की ध्वनि नहीं। इनकी उद्भावना व्यक्तिगत जीवन के उल्लास-विषाद को लेकर भले ही हुई हो, किंतु मानव जातीयता में उनकी सारी वैयक्तिक विशेषता अंतर्हित हो गई है। उनकी अपूर्वता इसी बात में है कि वे व्यक्ति को साथ लेकर भी उसको, प्रधान न रख, उपलक्ष्य बनाकर भावों की स्वाभाविक मार्मिकता के साथ अग्रसर हुए हैं।

ग्रामगीत की स्त्रैण प्रकृति और जातीयता

कलागीत के अंतर्गत मुक्तक और प्रबंध काव्य, दोनों, का समावेश है। इनके इतिहास का अनुसंधान करने पर ग्रामगीतों पर ही आकर ठहरना पड़ता है। इसमें संदेह नहीं कि ग्रामगीतों से ही काल्पनिक तथा वैचित्र्य-पूर्ण कविताओं का विकास हुआ है। यही ग्राम-गीत क्रमशः सभ्य जीवन के अनुक्रम से कलागीत के रूप में

ग्रामगीत से कलागीत की उद्भावना

विकसित हो गया है, जिसका संस्कार अबतक वर्तमान है। ग्रामगीत भी प्रथमतः व्यक्तिगत उच्छ्वास और वेदना को लेकर उद्गीत किया गया, किंतु इन भावनाओं ने समष्टि का इतना प्रतिनिधित्व किया कि उनकी सारी वैयक्तिक सत्ता समष्टि में ही तिरोहित हो गई और इस प्रकार उसे लोकगीत की संज्ञा प्राप्त हुई। ग्रामगीत को कलागीत के रूप में आते-आते कुछ समय तो लगा ही, पर उसमें सब से मुख्य बात यही रही कि कलागीत अपनी रूढ़ियाँ बनाकर चले। कलागीत का क्षेत्र भी जितना व्यापक तथा विस्तृत हुआ और उसके अनुसार यदि उसमें कुछ हद तक शास्त्रीय रूढ़िप्रियता न रहती तो उसके समरूपत्व का निर्वाह भी संभव न होता। ग्रामगीत की रचना में जिस प्रकृति और संकल्प का विधान था, कलागीत में उसकी उपेक्षा करना समुचित न माना गया। अत्यधिक संस्कृत तथा परिष्कृत के होने बाद भी कलागीत अपने मूल ग्रामगीत के संस्कार से कुछ बातों में मुक्ति न पा सका और यह उस समय तक संभव भी नहीं जबतक मानव प्रकृति को ही विषय मानकर काव्य-रचनाएँ की जाती रहेंगी। ग्रामगीत से कलागीत के परिवर्त्तन में एक बात उल्लेखनीय रही कि ग्रामगीत में रचना की जो प्रकृति स्त्रैण थी वह कलागीत में आकर कुछ पौरुषपूर्ण हो गई १। स्त्री और पुरुष रचयिता के दृष्टिकोण में जो

१ 'Thus will the development of the folk-poetry into art-poetry the whole nature and function of poetic activity undergoes a change. What begins as a spontanious accompaniment to work or play largely feminine in inspiration, develops into deliiberate product of a conscious art, predominantly masculine in orgin.'

—David Daiches Literature and Society, p. 36

सूक्ष्म और स्वाभाविक भेद हो सकता है वह ग्रामगीत तथा कलागीत की अंतर्प्रकृति में बना रहा। ग्रामगीत में स्त्री की ओर से पुरुष के प्रति प्रेम की जो आसन्नता थी वह कलागीत में बहुधा पुरुष के उपक्रम के रूप में परिवर्त्तित होने लगी।

ग्रामगीत में पात्र-विवेक

राजा-रानी, राजकुमार या राजकुमारी या ऐसे ही समाज के किसी विशिष्ट वर्ग के नायक को लेकर काव्य-रचना की जो प्रणाली बहुत प्राचीन काल से चली आ रही थी और जिसका संस्कृत-साहित्य में विशेष महत्व था उसका प्रधान कारण यह था कि वैसे विशिष्ट व्यक्तियों केलिए साधारण जनता के हृदय पर उनके महत्व की प्रतिष्ठा बनी हुई थी। उनमें धीरोदात्तता, दक्षता, तेजस्विता, रक्त-लोकता, रूढ़वंशता, वाग्मिता आदि गुण स्वाभाविक माने जाते थे। मानव होते हुए भी उनकी महत्ता, विशिष्टता, प्रतिष्ठा आदि का प्रभावोत्पादक संस्कार जनता के चित्त पर पड़ा था। ऐसे चरित्र को लेकर काव्य-रचना करने में रसोत्कर्ष का काम, बहुत-कुछ सामाजिक धारणा के बल पर ही, चल जाता था, किंतु साधारण जीवन के चित्रण में कवि की प्रतिभा का बहुत-सा अंश, अपने चरित्र-नायक में विशिष्टता प्राप्त कराने की चेष्टा में ही, खर्च हो जाता है। ग्रामगीत की अब यह प्रवृत्ति काव्यगीत में भी चलने लगी है। एक दुखी भिखारिणी भी हृदय की उच्चता में रानी को मात कर सकती है, इसकी कल्पना तक उस समय हमें न थी। उच्च वर्ग के लोगों के प्रति समाज में विशिष्टता की धारणा ज्यों-ज्यों कम होने लगी त्यों-त्यों निम्न वर्ग के प्रति हमारे हृदय में आदर का भाव जमने लगा और इस प्रकार काव्य में भी ऐसे पात्रों को सम्मानीय

स्थान प्राप्त होने लगा। हृदय की उच्चता—विशालता किसी में हो, चाहे वह राजा हो या भिखारी, उसका वर्णन करना ही कवि-कर्म है। ग्रामगीत में दशरथ, राम, कौशल्या, सीता, लक्ष्मण, कृष्ण, यशोदा के नाम बहुत आए हैं और उनसे जन-समाज के बीच संबंध का प्रतिनिधित्व कराया गया है। श्वसुर केलिए दशरथ, पति केलिए राम या कृष्ण, सास केलिए कौशल्या या यशोदा, देवर केलिए लक्ष्मण आदि सर्वमान्य माने गए हैं। इसका कारण हमारा वह पिछला संस्कार भी है जो धार्मिक महाकाव्यों ने हमारे चित्त पर डाला है। एक दरिद्र गृहिणी भी, जिसके घर में भोजन केलिए थोड़ा-सा अन्न है, सोने के ही सूप में फटककर उसे साफ करती है। हमारी दरिद्रता के बीच में भी संपत्तिशालीनता का यह रूप हमारे भाव को उद्दीप्त करने केलिए ही उपस्थित किया गया है। ऐसे वर्णन कलागीत में चाहे विशेष महत्त्व प्राप्त न करें, किंतु ग्रामगीत के वे मेरुदंड समझे जाते हैं।

ग्रामगीत का अबुद्धिवाद

बच्चे अब भी राजा, रानी, राक्षस, भूत, जानवर, आदि की कहानियाँ सुनने को ज्यादा उत्कंठित रहते हैं। नानी की कहानियाँ ऐसी ही हुआ करती हैं। साधारण तथा प्रत्यक्ष जीवन में जो घटनाएँ होती रहती हैं उनके अतिरिक्त जो जीवन से दूर तथा अप्रत्यक्ष हैं उनके संबंध में कुछ जानने की लालसा तथा उत्कंठा अधिक बनी रहती है। बच्चों की भाँति उन मनुष्यों को भी, जिनका मानसिक विकास नहीं हुआ रहता, वैसी कहानियाँ ज्यादा रुचिकर मालूम होती हैं। ग्रामगीतों की रचना में ऐसी प्रवृत्ति प्रायः सर्वत्र पाई जाती है। मानव जीवन का पारस्परिक संबंध-सूत्र कुछ ऐसा विचित्र है कि

जिस बात को हम एक काल और एक देश में बुरा समझते हैं उसी बात को दूसरे काल और दूसरे देश में अच्छा मान लेते हैं। जिस वैचित्र्यवाद को हमने अबुद्धिवाद कहकर तिरस्कृत किया वही पश्चिमी काव्य-जगत् में रोमांस के नाम पर फल-फूलकर अपने सौरभ से पूर्व को भी आकर्षित करने लगा।

ग्रामगीत में प्रेम-दशा

प्रेम-दशा जितनी व्यापकत्व-विधायिनी होती है, जीवन में उतनी और कोई स्थिति नहीं। प्रेम या विरह में समस्त प्रकृति के साथ जीवन की जो समरूपता देखी जाती है वह क्रोध, शोक, उत्साह, विस्मय, जुगुप्सा आदि में नहीं। विरहाकुल पुरुष, पशु, पक्षी, लता, द्रुम सब से अपनी वियुक्तप्रिया का पता पूछ सकता है, किंतु क्रुद्ध मनुष्य अपने शत्रु का पता प्रकृति से नहीं पूछता पाया जाता। यही कारण है कि प्रेमिका या प्रेमी प्रकृति के साथ अपने जीवन का जैसा साहचर्य मानते हैं वैसा और कोई नहीं। मनोविज्ञान का यह तथ्य काव्य में एक प्रणाली के रूप में समाविष्ट कर लिया गया है। प्रिय के अस्तित्व की सृष्टि-व्यापिनी भावना से जीवन और जगत की कोई वस्तु अलग नहीं रह सकती। जीवन का यह उत्कर्ष तथा विकास प्रेम-दशा के अतिरिक्त अन्यत्र सुलभ भी नहीं। वृक्ष, लता, पशु, पक्षी जीवन के अनादि सहचर हैं। प्रकृति का यह साहचर्य अब सभ्य जीवन से बहुत दूर हट गया है, लेकिन गमले के पौधों और पिंजड़े के पक्षियों का साथ शायद नहीं छूट सकेगा। अपने सुख-दुःख के भावों को उनपर आरोपित कर हम उन्हें स्पंदित करते ही रहते हैं। काव्य में भी जीवन की ऐसी व्यापकता के अभाव में मानो हम विह्वल-से बने रह जाते हैं।

प्राण-भक्षक को भी रक्षक समझने की शक्ति प्रेम में ही है। ग्राम-गीतों में ऐसे वर्णन बहुत हैं, जहाँ नायिका अपने प्रेमी की खोज में

प्रेम-दशा के अंतर्गत दूत-काव्य का विकास

बाघ, भालू, साँप आदि से उसका पता पूछती चलती है। आदिकवि बाल्मीकि ने विरह-विह्वल राम के मुख से सीता की खोज केलिए, न जाने कितने प्रकृति के पशु-पक्षी, लता-द्रुम आदि से पता पुछवाया है। इसके अतिरिक्त सीता के अनुसंधान तथा उनके पास राम का प्रणय-संदेश पहुँचाने केलिए जो हनूमान को दूत बनाकर तैयार किया वह काव्य में इस परिपाटी का मार्ग-दर्शक ही हो गया। इसके उपरांत मेघदूत, पवनदूत, हंसदूत, भ्रमरदूत, आदि, न मालूम, कितने दूत प्रेम-संभार केलिए आ धमके। अब तो वैज्ञानिक युग में टेलीफोन, टेलीग्राम, रेडियो आदि यंत्रदूत बने ही, पोस्टमैन को भी यह मर्यादा मिलनी चाहिए। कलागीतों में पशु-पक्षी, लता-द्रुम आदि से जो प्रश्न पूछे गए हैं उनके उत्तर में वे प्रायः मौन रहे हैं। विरही यक्ष का मेघदूत भी मौन ही रहा है १ किंतु ग्रामगीत का दूत मौन नहीं रहा है।

तोको देबों भौंरा दूध भात खोरवाँ।
अरे हरी आगे खबर जनाऊ, त फागुन आई॥
उड़ल उड़ल भौंरा गइलै उहे देसवाँ।
अरे जाई बैठे हरी जी के पाग, त फागुन आई॥
पाग ते उरले हरी जाँघे बइसलवें।
अरे पुछे लागे धन कुसलात, त फागुन आई॥

१ मेघदूत के कुछ संस्करण अब ऐसे भी छपे हैं जिनमें मेघ ने उत्तर दिया है, पर यह क्षेपक है।

तोरी घना ए हरी वेदने बेआकुल।
अरे ओही गुने मोरा भेजई, त फागुन आई॥

[स्त्री कहती है—हे भौंरा, मैं तुमको कटोरे में दूध-भात खाने को दूँगी। तुम जाकर मेरे प्राणनाथ को खबर जना दो कि फागुन आ गया।

भौंरा उड़ते-उड़ते उस देश में पहुंचा जहाँ उस स्त्री का प्रियतम था और उसकी पाग पर बैठ गया।

प्रियतम ने पाग पर से उतारकर उसे जाँघ पर बैठा लिया और उससे अपनी प्रिया का कुशल-समाचार पूछा।

भौंरे ने कहा—हे हरि, तुम्हारी प्यारी बहुत व्याकुल है। फागुन आ गया, यह कहने केलिए ही उसने तुम्हारे पास मुझे भेजा है।]

अरे अरे श्याम चिरइया झरोखवै मति बोलहु।
मोरी चिरई! अरी मोरी चिरई! सिरकी भीतर बनिजरवा,
जगाइ लइ आवउ—मनाइ लइ आवउ॥
कारिक पियरि बदरिया झिमिकि दैव बरसहु।
बदरी जाइ बरसहु उही देस जहाँ पिया कोड़ करैं॥
भीजै आखर बाखर तम्बुआ कनतिया।
अरे भितराँ से हुलसै करेज समुझि घर आवैं।

ऐसे दूतों का उपयोग केवल प्रिया-प्रेमी के प्रणय-संदेश को भेजने केलिए ही नहीं किया गया है, बल्कि माता ने भी ऐसे दूत से अपने पुत्र के योग-क्षेम की कामना की है।

सवना भदवना क दिनवा घुमरि घन बरसहिं।
रामा राम लखन दूनों भइया कतहुं होइहैं भीजत॥
रिमिकि झिमिकि दयू बरसइ मोरे नाहीं भावइ।
देवा वोहि बन जाइ जनि बरिसहु जहाँ मोर लरिकन॥

[कौशल्या कहती है—सावन-भादो के दिन हैं। बादल घूम-घूमकर बरस रहे हैं। हाय, राम-लक्ष्मण दोनों भाई कहीं भींजते होंगे।

यह बादल रिमझिम बरस रहा है। मुझे अच्छा नहीं लगता। हे बादल, तुम उस वन में जाकर मत बरसना जहाँ मेरे लड़के हैं।]

अरे अरे कारी बदरिया तुहइँ मोरि बादरि ।
बादरि जाइ बरसहु वहि देस जहाँ पिय छाये ॥
बाउ बहइ पुरबइया त पछुवाँ झकोरइ ।
बहिनी दिहेउ केवड़िया ओठँगाइ सोवउँ सुख नीदरि ॥
कि तुहूँ कुकुरा बिलरिआ सहर सब सोवइ ।
कि तुहूँ ससुर पहरिआ किवरिआ झड़कावहु ॥
ना हम कुकुर बिलरिआ न ससुर पहरिआ ।
धन ! हम अही तोहरा नयकवा बदरिया बुलायसि ॥

[हे काली घटा ! तुम्हीं मेरी प्यारी घटा हो। हे घटा, वहाँ जाकर बरसो जहाँ मेरे प्रियतम हैं।

पूरबा हवा बह रही है। कभी-कभी पछवा भी झकोरता है। हे ननद ! तुम किवाड़ बंद कर देना, मैं सुख की नींद सोऊँगी।

तुम कुत्ते हो, या बिल्ली हो, या मेरे ससुर के पहरेदार हो ? सारा शहर तो सो रहा है, तुम कौन हो जो मेरी किवाड़ खटखटा रहे हो ?

न मैं कुत्ता हूँ, न बिल्ली और न तुम्हारे ससुर का पहरेदार हूँ। हे प्यारी ! मैं तुम्हारा पति हूँ। मुझे घटा बुला लाई है।]

प्रेम-संभार में काल-दीर्घत्व की कामना

नवदंपती केलिए सुहाग-रात का आकर्षण कैसा होता है, इसका वर्णन अनेक कलाविद् कवियों ने किया है। उस समय दंपती के हृदय में लालसा, उत्कंठा, प्रणय, उत्साह, गर्व, मद, उन्माद, हर्ष का समवाय बसा रहता है। जीवन का यह मधुर उन्माद, उपरांत जीवन में गंभीर परिस्थितियों के साक्षात्कार से, धीरे-धीरे उतर जाता है और जीवन एक साम्य स्थिति में आ जाता है। किंतु जबतक अनुराग और प्रणय रहता है तबतक अतृप्ति बनी ही रहती है। सुहाग-रात में संयोग के इस अपूर्व अवसर के दीर्घत्व की प्रार्थना करती हुई एक नवपाणिगृहीता कहती है—

आजु सोहाग के रात चंदा तुम उइहौ ।
चंदा तुम उइहो सुरुज मति उइहौ ॥१॥
मोर हिरदा बिरस जनि किहेउ मुरुगा मति बोलेउ ।
मोर छतिया बिहरि जनि जाइ तु पइ जिनि फाटेउ ॥२॥
आजु करहु बड़ि राति चंदा तुम उइहौ ।
धिरे धिरे चलि मोरा सुरुज बिलम करि अइहौ ॥३॥

[आज सुहाग की रात है। हे चंद्र! तुम उदित होना। पर हे सूर्य! तुम उदित मत होना ॥१॥

हे मुर्गे! तुम आज न बोलना। बोलकर मेरे हृदय को बिरस मत करना। हे पौ! तुम आज न फटना। कहीं मेरी छाती न फट जाय ॥२॥

हे चाँद! तुम आज बड़ी रात करना और उदित होना। हे मेरे सूर्य! तुम आज धीरे-धीरे चलकर देर से आना ॥३॥]

इसी संबंध का एक गीत और है। बारह वर्ष के बाद परदेश से पति आया है और पत्नी के साथ सोया है।

आधि राति बीति गई बतियाँ नियाई राति चितियाँ ।
बारह बरस का सनेहिया जोरत मुर्गा बोलइ ॥
तोरबेउँ मैं मुर्गा क ठोर गटइया मरोरबेउँ ।
मुर्गा काहे किहेउ भिनुसार त पियहि बतायउ ॥

[आधी रात बातों-ही-बातों में बीत गई। बारह वर्ष के प्रेम को एक करने में सारी रात बीत गई। इतने में मुर्गा बाँग देने लगा।

स्त्री ने कहा—हे मुर्गा, मैं तुम्हारी चोंच तोड़ डालूँगी, तुम्हारी गर्दन मरोड़ दूंगी। तुमने भोर क्यों किया और प्रियतम को क्यों बतलाया कि सबेरा हो गया।]

माहेश्वरी सिंह 'महेश' ने भी अपनी 'सुहाग' नामक कविता-पुस्तक में ऐसा ही कहा है—

आज है प्रथम मिलन की रात
वायु ! कर दे सुरभित संसार।
दिशाओ ! गाओ मंजुल गीत
प्रकृति ! सज मंजु मनोहर थार ॥
निशा ! धर ले सुर-मोहक वेश
तारिका ! तन दो शुभ्र वितान।
अरी नीरवते ! देखो जरा
मूक हो मधुमय चुंबन-दान ॥
करो झकझोर तनिक ऋतुराज
सुधाकर ! चन्द्रमयी कर रात।
सूर्य ! मत करना आज प्रभात
आज है प्रथम मिलन की रात ॥

× × ×

बरिसहु बरिसहु देव हे आजु केर रतिया।
आरे पिया के जतरवा सेहु बिलमावहु रे की ॥
जब तु मनवल्हु हे धनी हे मेघ हे मनवल्हु।
आरे छतवा बेसाहि के हमें पथ जाएब रे की ॥
देवहुँ रे डोमवा रे भैया रे डाला भरी रे सोनवा।
अरे आज की रैनिया छाता जनि बीनहु रे की।
अरे पिया के जतरवा तुहुँ बिलमावहु रे की ॥

[स्त्री कहती है—हे बादलो, आज की रात खूब बरसो। मेरे प्राणनाथ परदेश जा रहे हैं। उन्हें यात्रा से रोक दो।

पति कहता है—यदि तुम बादलों को मनाती हो तो मैं छाता खरीद कर चला जाऊँगा।

स्त्री डोम से कहती है—हे डोम भाई, आज की रात तुम छाता मत बिनो। मैं तुम्हें डाला भरकर सोना दूँगी। मेरे प्राणनाथ की यात्रा में देर कर दो।

यह कैसी अतृप्ति है ! संयोग की अवधि अधिक-से-अधिक बढ़े, हृदय में यह भाव कुछ ऐसा तन्मय-सा रहता है जो प्रकृति के नियम से निरपेक्ष हो जाता है। सुख का समय कितनी जल्दी उड़-सा जाता है, इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। जीवन की यह एक प्रगति है कि हम दुख में इतने चिंताशील हो जाते हैं कि उसकी अवधि के प्रत्येक क्षण का हमें कटु अनुभव होता रहता है, किंतु सुख के समय जीवन का प्रत्येक क्षण हमें इतना मधुर, सरल और लघु मालूम होता है कि उसका कुछ भी भार हमारे चित्त पर नहीं पड़ता और वह अपनी स्वाभाविक गति से अधिक तीव्र होकर चलता-सा मालूम होता है। घड़ी की सूई को ध्यान से आँखें गड़ाकर देखने से पंद्रह मिनट का समय, जो बात-बात में अन्यथा उड़ जाता है, एक युग के समान मालूम पड़ता है। सुख के समय हमारा ध्यान सुख में ही संलग्न रहता है, किंतु दुख के समय हम केवल दुख में ही लिप्त न रहकर उसकी अवधि के प्रत्येक क्षण का अनुभव किया करते हैं। इसी कारण वह इतना असह्य होता है। नायिका ने अपने सुख की अवधि को बढ़ाने केलिए जो नक्षत्रों से प्रार्थना की है, वह स्वीकृत हो या न हो, प्रार्थिनी की निष्कपटता तथा निश्छल भाव के कारण एक ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है जो उसे अपनी प्रार्थना की स्वीकृति का संतोष दिला देती है। जीवन का यह भाव प्राकृतिक नियम की अटलता के तर्क को भी आच्छन्न कर देता है। जैसे सुख में उसकी अवधि को बढ़ाने की इच्छा बनी रहती है वैसे ही दुख में उसकी अवधि को समाप्त

सुख-दुख की अवधि में मानव प्रयत्न

करने की चेष्टा भी होती है। जायसी और सूर ने एक ही तथ्य को अपने-अपने ढंग से कहा है।

(१) गहै बीन मकु रैन बिहाई।
ससि बाहन तँह रहै ओनाई॥
पुनि धनि सिंह उरेहै लागै।
ऐसिहि बिथा रैन सब जागै॥

—जायसी

(२) दूर करहु बीना कर धरिबो।
मोहे मृग नाही रथ हाँक्यो, नाहिन होत चंद को ढरिबो॥

—सूर

(३) मन राखन को बेनु लियो कर मृग थाके उड़पति न चरै।
अति आतुर ह्वै सिंह लिख्यो कर जेहि यामिनि को करुन टरै॥

—सूर

इन तीनों उद्धरणों का प्रायः एक ही तात्पर्य है कि विरहिणी अपने मनोरंजन केलिए, किसी तरह विरह की रात काटने, वीणा या वेणु लेकर बजाने बैठी। उसके मधुर स्वर पर मुग्ध होकर चंद्रमा के रथ का हरिन अड़ गया। हरिन के अड़ जाने के कारण चंद्रमा का रथ आगे बढ़ न सका और रात बढ़ गई। इससे घबड़ाकर विरहिणी ने सिंह का चित्र बनाना शुरू किया जिससे भयभीत होकर हरिन भाग चले और रात कट जाय। घटना के रूप में यह बात सत्य नहीं, परंतु काव्य-जगत् में इसकी सत्यता को कौन अस्वीकृत करेगा!

ग्रामगीत में पक्षी का वरानुसंधान

विरहिणी के प्रेम-दौत्य के अतिरिक्त ग्रामगीतों में पक्षी से पुत्री के विवाह केलिए वर खोजने का काम भी लिया गया है और उसने वह काम पूरा किया है। एक माता सुग्गे से कहती है—

सावन सुगना मैं गुर घिउ पाल्यौं चैत चना के दालि।
जब सुगना तू भयउ सजुगवा बेटीक बर हेरइ आव ॥१॥
उड़त उड़त तू जायो रे सुगना बैठउ डरिया ओनाय।
डरिया ओनाय बैठा पखना फुलायउ चितया नजरिया घुमाय ॥२॥
जे बर सुगना तु देखेउ सुन्दर जेकरि चाल गम्हीर।
जेहि घरा सुगना तु सम्पति देख्यो वोही घर रचेउ बिआह ॥३॥
हेरेउं बर मैं सजुग सुलच्छन भहर-भहर मुंह-जोति।
साठि बरद मैं चन्नि में देखेउं वोहि घर रचहु बियाह ॥४॥

[हे सुआ ! तुमको मैंने सावन में गुड़ घी और चैत में चने की दाल खिलाकर पाला। अब तुम समझदार हुए। जाओ, बेटी केलिए वर ढूँढ़ लाओ ॥१॥

हे सुआ ! तुम उड़ते-उड़ते जाना और पेड़ की डाल झुकाकर बैठना। डाल झुकाकर बैठना, पंख फुलाना और इधर-उधर दृष्टि दौड़ाकर देखना ॥२॥

हे सुआ ! जिस वर को तुम सुंदर देखना, जिसकी चाल में गंभीरता देखना और जिस घर में धन देखना, वहीं विवाह ठीक करना ॥३॥

सुआ कहता है—मैंने अच्छे लक्षणोंवाला वर ढूँढ़ लिया। उसके मुख पर ब्रह्मचर्य की आभा दमक रही है। उसके घर में साठ बैल मैंने चन्नी या चरनी (बैल जहाँ पर बाँधकर खिलाए जाते हैं) में देखे। उसी घर में विवाह करो।]

मनुष्येतर प्राणी के साथ भी आत्मीयता का संबंध ग्रामगीतों की खास विशेषता है। कन्या की माता ने सुग्गे को बड़े स्नेह के साथ, वात्सल्यभाव से, सावन चैत में रुचिकर भोजन खिला-खिलाकर पाला है। अब उसे वह बेटी केलिए वर खोजने भेजती है। उड़ते-उड़ते जाना, वृक्ष की डाल को झुकाकर बैठना, पंख फैलाकर इधर-उधर दृष्टि दौड़ाना, इस प्रकार के वर्णन से सुग्गे का कितना सुन्दर बिंबग्रहण हो जाता

है। पक्षियों की स्वाभाविक चेष्टाओं से जो परिचित हैं वे इस वर्णन के माधुर्य का रस ले सकते हैं। बर की कसौटी भी कितनी मनोवैज्ञानिक है १। बर की सुंदरता पुत्री की कामना है। चाल की गंभीरता पिता की और संपत्ति माता की इच्छा है। माता, पिता तथा पुत्री, तीनों, के संतोष केलिए बर में जो-जो गुण अपेक्षित थे वैसा ही गुणशील बर सुग्गे ने खोज निकाला। पारिवारिक जीवन का यह एक मनोरम भावना-चित्र है।

कन्या-दान पितृत्व का ऋण

ऐसे ही एक प्रसंग में पिता-पुत्री का एक मार्मिक संलाप है। कन्या-दान पितृत्व का कितना बड़ा ऋण है, यह बात किसी भुक्तभोगी पिता को ही मालूम हुआ रहता है।

कौन गरहनवाँ बाबा साँझे जे लागै कौन गरहन भिनुसार।
कौन गरहनवाँ बाबा औघट लागै कबधौं उगरह होइ ॥१॥
चन्द्र गरहनवाँ बेटी साँझे जे लागै सुरुज गरहनवाँ भिनुसार।
धोरिया गरहनवाँ बेटी औघट लागै कबधौं उगरह होइ ॥२॥
काँपइ हाथी रे काँपइ घोड़ा कांपइ नगरा के लोग।
हाथ में कुस लिहे काँपइ बाबा कबधौं उगरह होइ ॥३॥
रहँसइँ हाथी रे रहँसइँ घोड़ा रहँसइँ सकल बरात।
मड़पे मुदित मन समधी रे बिहँसइ भले घर भयहु बिवाह ॥४॥

१ विवाह के संबंध में संस्कृत का एक मनोविज्ञानमूलक श्लोक है—

कन्या काम्यते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम्।
बांधवाः कुलमिच्छंति मिष्टान्नमितरे जनाः ॥

कन्या रूपवान पति चाहती है, माता धनी और पिता विद्वान दामाद चाहते हैं। गोत्रीय बंधु अच्छे कुल-शील का संबंध चाहते हैं और अन्यान्य लोग मिठाइयाँ चाहते हैं।

गंगा पैठि बाबा सुरुज से विनवइँ मोरे बूते धिरिया जिनि होइ।
धेरिया जनम तब दीहा विधाता जब घर संपति होइ ॥५॥

[कन्या पूछती है—हे पिता ! कौन ग्रहण रात में लगता है और कौन दिन में; और कौन ग्रहण बेवक्त लगता है ? और कब छूटता है ? ॥१॥

पिता कहता है—हे बेटी ! चंद्र-ग्रहण रात में लगता है और सूर्य-ग्रहण दिन में। कन्या-ग्रहण का कोई ठिकाना नहीं कि कब लगे और कब छूटे ॥२॥

हाथी काँप रहे हैं, घोड़े काँप रहे हैं, नगर के लोग काँप रहे हैं, हाथ में कुश लिए बाबा काँप रहे हैं। न जाने कब छुट्टी मिलेगी ॥३॥

हाथी प्रसन्न हैं, घोड़े प्रसन्न हैं, सारी बारात प्रसन्न है, माँड़ों के नीचे बैठा हुआ समधी प्रसन्न है कि अच्छे गृहस्थ के यहाँ मेरे पुत्र का विवाह हुआ है ॥४॥

पिता गंगाजी में खड़े होकर सूर्य से विनय करते हैं—हे सूर्य ! मेरे बल पर कन्या न देना। कन्या का जन्म तभी हो जब घर में संपत्ति हो ॥५॥]

इस गीत में कन्या अपनी बाल-सुलभ सरलता से ग्रहण के संबंध में पिता से जिज्ञासा करती है। कन्या की जो सरलता है वह पिता की मार्मिकता है। जबतक कन्या किसी सुयोग्य बर के हाथ सौंप नहीं दी जाती तबतक पिता की दशा राहु-ग्रसित-सी बनी रहती है। हिंदू-परिवार में कन्या के पिता की मुक्ति इतने से ही नहीं हो जाती। यदि घर में संपत्ति न रही तो उसके मानसिक संताप का अंत नहीं। पिता की आर्थिक दुरवस्था का परिणाम कन्या को भी ससुराल में श्वसुर, सास, ननद, और कभी-कभी पति के दुर्व्यवहार के रूप में सहना पड़ता है १। ग्रह और उनके

१ वैदिक काल में कन्या को गोपालन तथा दोहन के कारण दुहिता कहते थे, लेकिन उस समय भी इसका दूसरा अर्थ लिया जाता था। यास्क ने अपने निरुक्त में दुहिता की व्युत्पत्ति—दुहिता दुर्हिता दूरे हिता भवतीति—दुहिता हित करनेवाली नहीं होती, उसके दूर रखने में ही हित है—के रूप में की है। कन्या के दुर्भाग्य को बढ़ाने में हिंदू-समाज ने अपने ऊपर कितना बड़ा उत्तरदायित्व लिया है।

दो संपात, राहु तथा केतु, कुल मिलाकर नवग्रह माने जाते हैं। यह तो ज्योतिष-शास्त्रियों का कथन है, किंतु हिंदू-परिवार की शोचनीय स्थिति का ध्यान रखकर संस्कृत के एक कवि ने—'जामाता दशमोग्रहः'—दामाद को दशवाँ ग्रह माना है। इस सांपातिक ग्रह की निष्ठुरता से अधिकांश हिंदू माता-पिता परिचित हैं।

ग्रामगीतों में छोटे-छोटे करुणाजनक वर्णनात्मक उपाख्यान भी बहुत हैं। करुणा का प्रसार केवल मनुष्य तक ही परिमित नहीं, पशु-पक्षी यहां तक कि लता-द्रुमों के साथ भी दिखाया गया है। भाव-संपर्क की इतनी विशाल परिधि गीतों की रचयित्रियों की उदार भावुकता है। पशु-पक्षियों के मन में, कम-से-कम उनके अव्यक्त मन में, सुख-दुख की जो भावनाएँ उठती हैं उनका अनुमान हम साधारणतः अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा ही करते हैं। परिचय के सूक्ष्म आधार पर ही बहुधा हम अपनी भावनाओं को मनुष्येतर प्राणियों में भी कल्पित कर देते हैं। किसी चेष्टा का हेतु जब प्रत्यक्षतः ज्ञात नहीं रहता तब उसकी कल्पना से ही काव्य में अनुकूल सौंदर्य उत्पादित कर लिया जाता है। हेतु की अतव्यता, परोक्ष होने के कारण, रस की प्रतीति में कोई बाधा नहीं डालती। एक हरिनी का कितना मर्मस्पर्शी वर्णन है—

ग्रामगीतों में करुणा का प्रसार

छापक पड़े छिउलिया त पतबन गहबर।
अरे रामा, तेहि तर ठाढ़ी हरिनियाँ त मन अति अनमनि ॥१॥
चरते चरत हरिन बात हरिनी से पूँछइ।
हरिनी! की तोर चरहा झुरान कि पानी बिनु मुरझिउ ॥२॥

नाहीं मोर चरहा झुरान न पानी बिनु मुरझिउँ।
हरिना ! आज राजा जी के छट्ठी तुहैं मारि डरिहैं ॥३॥
मचिये बैठी कौसिल्या रानी हरिनी अरज करइ।
रानी ! मसवा त सिझहिँ रोसइयाँ खलरिया हमें देतिउ ॥४॥
पेड़वा से टँगतिउँ खलरिया त हेरिफेरि देखितिउँ।
रानी ! देखि देखि मन समुझाइ जनुक हरिना जीवइ ॥५॥
जाहु हरिनी घर अपने खलरिया नाहीं देबइ।
हरनी ! खलरीक खँझड़ी मिढ़उबइ त राम मोर खेलिहँइँ ॥६॥
जब जब बाजइ खँजड़िया सबद छनि अनकइ।
हरिनी ठाढ़ि ढँकुलिया के नीचे हरिन क बिसूरइ ॥७॥

[ढाक का एक छोटा-सा घने पत्ते वाला पेड़ है। उसके नीचे हरिनी खड़ी है। उसका मन बहुत बेचैन है ॥१॥

चरते-चरते हरिन ने पूछा—हे हरिनी ! तू उदास क्यों है ? क्या तेरा चारागाह सूख गया है या तेरा मन पानी की कमी से मुरझा गया है ? ॥२॥

हरिनी ने कहा—हे प्रियतम ! न मेरा चारागाह ही सूखा है, और न पानी की ही कमी है। बात यह है कि आज राजा के पुत्र की छट्ठी है। आज तुम मारे जावोगे ॥३॥

रानी कौशल्या मचिया पर बैठी है। हरिनी ने उनसे विनती की—हे रानी ! हरिन का मांस तो आपकी रसोई में सीझ रहा है, उसकी खाल आप मुझे दिलवादें ॥४॥

मैं हरिन की खाल को पेड़ से टाँग दूंगी और उसे घूम-फिरकर देखूँगी। हे रानी ! उसे देख-देखकर मैं मन को समझाऊँगी मानो हरिन जीता ही है ॥५॥

कौशल्या ने कहा—हे हरिनी ! अपने घर जाओ। खाल नहीं मिलेगी। खाल की खँजड़ी बनेगी। मेरे राम उसे बजाकर खेलेंगे ॥६॥

उस खाल से बनी हुई खँजड़ी जब-जब बजती थी तब-तब हरिनी कान उठाकर उसका शब्द छनती थी और उसी ढाक के नीचे खड़ी होकर वह हरिन को बिसूरती थी ॥७॥

इस मार्मिक गीत को मैंने पहली बार रामनरेश त्रिपाठी के मुँह से ही प्रायः तेरह-चौदह वर्ष पहले काशी में सुना था। उस समय वे घूम-घूमकर ग्रामगीतों का संग्रह कर रहे थे। इस गीत ने सर्वत्र सहृदय-समुदाय को तो विमुग्ध किया ही, त्रिपाठीजी को भी गीतों के संग्रह-कार्य में विशेष प्रोत्साहित किया। इस गीत में जो भाव-संलग्नता है, जो मार्मिक व्यथा है, उस पर कुछ भी टिप्पणी करना मेरी भावुकता पसंद नहीं करती। मुझे विश्वास है, मेरे पाठक त्रिपाठीजी के शब्दों से अवश्य सहमत होंगे। 'हरिनी हरिन की खाल इसलिए माँगती थी कि उसे वह देख-देखकर हृदय को ढाढ़स देगी और हरिन जीता है, इस भ्रम को सत्य समझकर एक कल्पित सुख का अनुभव करेगी। मनुष्यों में कितनी ही ऐसी स्त्रियाँ हैं जो अपने मृत पति या पुत्र की चीजें बड़ी सावधानी से रख छोड़ती हैं और एकांत में उन्हें देख-देख कर एक अद्भुत प्रकार का सुख अनुभव किया करती हैं। अंत में हरिन की ख़ाल की खँजड़ी बनी। खँजड़ी जब-जब बजती थी तब-तब उसकी ध्वनि से हरिनी के हृदय में प्रेम का एक इतिहास जाग्रत होता था और वह उसी इतिहास में लीन हो जाती थी।'

जीवन में विरह का भाव जितना व्यापक होता है उतना अन्य कोई नहीं। संयोग में हमारी कल्पना का क्षेत्र मुख्यतः आलंबन तक ही सीमित रहता है, किंतु वियोग में उसकी कोई सीमा नहीं रहती। एक नव-युवती स्त्री, सावन में कजरी खेलने केलिए, नैहर जाने की अनुमति अपने प्राणनाथ से मांगती है। इस पर उसका प्रियतम कहता है—

ग्रामगीत में वियोग-मिलन

जो तू बारीधना जाएउ नैहरवा,
प टीका धरि जाएउ रे सेजरिया।
टिकवा के पतिया चमाकै सारी रतिया,
प जनु धना बाटी रे सेजरिया ॥१॥

जो तू बारीधना जाएउ नैहरवा,
तिलरिया धरि जाएउ रे सेजरिया।
तिल्री के जुगुनी चमाकै सारी रतिया,
प जनु धना बाटी रे सेजरिया ॥२॥

जो तुम बारीधना जाएउ नैहरवा,
बेसरिया धरि जाएउ रे सेजरिया।
बेसरि कै झुलनी चमाकै सारी रतिया,
प जनु सुंदर बाटी रे सेजरिया ॥३॥

जो तुम बारीधना जाएउ नैहरवा,
बाजुइया धरि जाएउ रे सेजरिया।
बजुआ के चुन्नी चमाकै सारी रतिया,
पजनु रानी बाटी रे सेजरिया ॥४॥

जो तुम बारीधना जाएउ नैहरवा,
पछेलवा धरि जाएउ रे सेजरिया।
पछेला केर रउआ चमाकै सारी रतिया,
प जनु रानी बाटी रे सेजरिया ॥५॥

जो तुम बारीधना जाएउ नैहरवा,
पायल धरि जाएउ रे सेजरिया।
पायल केर बच्ची बाजे सारी रतिया,
प जनु धना बाटी रे सेजरिया ॥६॥

जो तुम बारोधना जाएउ नैहरवा,
कड़ा धरे जाएउ रे सेजरिया।
कड़वा कै घुंडी चमाकै सारी रतिया,
प जनु धना बाटी रे सेजरिया ॥७॥

[हे मेरी किशोर अवस्थावाली प्यारी रानी ! तुम नैहर जाना तो सेज पर टीका छोड़े जाना जिससे सारी रात उसकी पत्ती चमकती रहे और मैं समझता रहूँ कि मेरी स्त्री सेज पर ही है ॥१॥

हे मेरी प्यारी कामिनी ! तुम नैहर जाना तो तिलड़ी सेज पर छोड़े जाना। तिलड़ी का जुगनू सारी रात चमकता रहेगा तो मैं समझूँगा कि मेरी स्त्री सेज पर ही है ॥२॥

हे मेरी लाड़िली ! तुम नैहर जाना तो बेसर छोड़े जाना। उस पर जड़ी हुई चुन्नी सारी रात चमकेगी तो मैं समझूँगा कि मेरी प्यारी स्त्री सेज पर ही है ॥४॥

हे मेरी हृदयेश्वरी ! तुम नैहर जाना तो हाथ का कड़ा छोड़े जाना। उसके रवे की चमक सारी रात देखकर मैं समझूँगा कि मेरी स्त्री सेज पर ही है ॥५॥

हे मेरी प्यारी स्त्री ! तुम नैहर जाना तो पाजेब छोड़े जाना। उसकी ध्वनि सुनकर मैं समझूँगा कि मेरी स्त्री यहीं है ॥६॥

हे मेरी प्यारी स्त्री ! तुम नैहर जाना तो कड़ा रखे जाना। कड़े की घुंडी की चमक देखकर मैं समझूँगा कि मेरी स्त्री यहीं पर है ॥७॥

इसमें पत्नी के प्रति पति का जो अगाध प्रेम है वह बुद्धिवादी पति के भाग्य में कहाँ ! अपनी प्रिया की किसी प्रिय वस्तु में उसके सारे अस्तित्व की कल्पना करना स्मृति-विधायक मनोवैज्ञानिक सत्य है। बुद्धि को यहां चुप रहना पड़ता है। रामायण में सीता-हरण के उपरांत राम का विदग्ध विलाप इसी प्रकार बुद्धि का पराभव है। कवि और प्रेमी, अपनी इसी वृत्ति के कारण, पागल समझे

प्रेम में बुद्धि का पराभव

जाते हैं। वियोग में हृदय की साम्यावस्था नहीं रहती। अपने प्रेमी या प्रिया के मिलन की चिंता बराबर बनी रहती है। इसी कारण बाह्य जगत् में उसके समान या असमान, अनुकूल या प्रतिकूल जो कुछ भी है उसको देखते ही हृदय में विसव उपस्थित हो जाता है। यदि कल्पना में सजीवता नहीं रहती तो भावुकता को भी अपने प्रसार केलिए क्षेत्र नहीं मिलता। जिस बात की कल्पना हम सदैव किया करते हैं वह स्वभावगत हो जाती है और उसका प्रभाव भी मानव शरीर पर तदनुकूल पड़ने लगता है। सतत कल्पना सत्य का आभास देने लगती है। जब कभी कोई भावना हमें प्रिय मालूम होती है तब, प्रतिकूल कारण उपस्थित रहने पर भी, उसको बलपूर्वक हृदय में छिपाये रखने की इच्छा होती है। इसी कारण मनोदशा को अनुकूल रखने केलिए तर्क की प्रवृत्ति भी तदनुकूल हो जाती है। संकल्प की जैसी प्रकृति रहती है तर्क उसी का अनुगमन करता है। पत्नी के आभूषणों को देख-देखकर पति उसकी अनुपस्थिति का निर्वाह मन को भुलाकर कर ले सकता है, क्योंकि मनुष्य अपनी सुख-सुविधा का विचार कर कभी-कभी आत्म-प्रवंचना भी करता है। मन भी, यदि उसमें वैसा संकल्प हो तो, बड़ी सरलता से भुलाया जा सकता है। मन अपने संतोष केलिए स्वयं ऐसा प्रबंध कर लिया करता है। जिस सीमा तक मनुष्य के सुख-दुख मानसिक हैं उस सीमा तक मन ही प्रधान है।

भारतीय साहित्य के अतिरिक्त दूसरे उन्नत साहित्य में भी ऐसी बातें पाई जाती हैं। मुझे अभी एक रूसी कहानी की नायिका थैरेसा की याद आ रही है। उसने अपनी मानसिक शक्ति का

ज्वलंत परिचय दिया है। थैरेसा का प्रेमी संसार में नहीं है, किंतु अपने मानसिक संतोष केलिए वह अपने प्रेमी के पास प्रेम-पत्र लिखाकर भेजती है और फिर उसका उत्तर भी, कुछ दिनों की प्रतीक्षा के बाद, स्वयं लिखाती है। प्रत्यक्ष जगत में ऐसी बात अद्भुत मालूम होती है, किंतु जीवन की भावुकता-पूर्ण स्थिति में इससे भी अधिक आश्चर्यजनक काम होते देखे गए हैं। प्रेमिका तथा प्रिया, नायिका के ये दो भिन्न रूप हैं। जब नायिका सक्रिय प्रेम-तत्पर होती है तब वह प्रेमिका बनती है और जब उसमें केवल प्रेम को ग्रहण करने की पात्रता ही होती है तब वह प्रिया बनी रहती है। तुल्यानुराग में यह भेद बहुत-कुछ मिट जाता है। जीवन के ये क्रिया-कलाप भावों की गति-विधि की सूचना देते हैं। ग्रामगीतों में जो स्वाद है वह आजकल के तथाकथित सभ्य पुरुषों को प्राप्त नहीं हो सकता। बुद्धि-व्यवसाय ही जिनके जीवन का ध्येय है उनके लिए कविताएँ नहीं रची जातीं। ग्रामगीत की ही बात क्यों, कविता-मात्र के आस्वाद केलिए जिस सहृदयता, जिस रसिकता की अपेक्षा होती है उसमें बुद्धि का पराभव रहता है। हृदय सनातन है, बुद्धि गतिशील है। बुद्धि की सत्ता को एकांतरूप से अस्वीकृत कर देने पर हृदय को अपनी गति केलिए क्षेत्र नहीं मिल सकता, किंतु बुद्धि की प्रबलता भी रस-परिपाक में एक बाधा है। बुद्धिमान रहते हुए भी जो तर्कहीन होकर ग्रामगीत या कलागीत का स्वाद लेता है वही वस्तुतः काव्य-रसिक है।

प्रेम-दशा की तर्कहीनता

ग्रामगीतों में काल की अवधि को बताने केलिए साधारण इतिवृत्तात्मक ढंग का प्रयोग न कर, गोचर प्रत्यक्षीकरण रूप

का व्यवहार प्रायः सर्वत्र पाया जाता है। काल-बोध की ऐसी

ग्रामगीत में काल-बोध

काव्योपयुक्त प्रणाली से ग्रामगीत की रचयित्रियों की भावुकता तो झलकती ही है, साथ ही ग्राम-जीवन के अनुकूल मौग्धत्व का निर्वाह भी हो जाता है।

कवनी उमिरिया सासु निबिया लगायेन,
कवनी उमिरिया गये बिदेसवा हो राम ॥१॥
खेलत कूदत बहु बरि निबिया लगाये,
रेखिया भिनत गै बिदेसवा हो राम ॥२॥
फरिगै निबिया लहसिगै उरिया,
तबहू न आये तोर बिदेसिया हो राम ॥३॥

[बहू कहती है—हे सास जी! तुम्हारे परदेशी पुत्र ने किस उम्र में यह नीम लगाया था और किस उम्र में वे परदेश गए?

सास ने कहा—खेलने-कूदने की उम्र में उसने नीम लगाया था और रेख भींजते वह परदेश गया।

बहू कहती है—नीम फलने भी लगा। डाल लहलहा उठी। हाय! फिर भी तुम्हारा परदेशी नहीं आया।]

वीदिन बटी बटवा पलटी नीचायो हौ,
सिलंग डाबी लगै गयो भरफूले ह्वै गे हौ।
मैं रूपा ह्वै गयो भर जोवन बटवा लोग,
वीदिन बटी वोले पलटी नोचायो हौ॥

[पाणिग्रहण के बाद वह विदेश गया था तब से नहीं लौटा। उसके लगाये सिलंग के पेड़ में फूल लग गए हैं।

मैं, अब, हे पथिक! युवती हो चुकी हूँ, लेकिन वह अभी तक नहीं लौटा।]

इतिहास और काव्य, दोनों की शैलियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। संख्या से कालांशों के दीर्घत्व का जो बोध होता है वह इतिहास

की शैली है और जो उसका एक गोचर समन्वय उपस्थित करता है वह काव्य है। नीम या नींबू का वृक्ष रोपकर जो पति विदेश गया वह अबतक न लौटा, पर वह वृक्ष अब फूलने-फलने लगा है। काल के मापदंड की यह प्रणाली काव्य-कला का कौशल नहीं, हमारी आरण्यक संस्कृति का प्रतिफल है। प्रकृति का यह साहचर्य सनातन है। पेड़-पौधों में प्राण-प्रतिष्ठा, विज्ञान ने चाहे उसे आज प्रमाणित किया हो, मानव जीवन के साथ ही कल्पित की गई है। बोध्य और रम्य में तात्त्विक अंतर है। बोध बुद्धिगत प्रतीति है और रमण हृदयगत। इसी कारण गीत में हृदयगत प्रतीति केलिए, वर्षों की संख्या के रूप में बुद्धिगत काल-बोध न कर, एक छोटे वृक्ष के बड़े होने का इंद्रियग्राह्य विधान उपस्थित किया गया है। ऐसे रमणीय वर्णन से विगत काल जीवंत तथा प्रत्यक्ष हो उठता है! प्रतीति की इस पद्धति पर चलने से काव्य में सजीवता झलकती है। अंगरेजी में भी ऐसे लाक्षणिक प्रयोग बहुत होते हैं। इसी प्रकार 'उसकी अवस्था पंद्रह वर्ष की है' के बदले 'उसने अपने जीवन में पंद्रह वसंत देखे हैं' जैसा प्रयोग अब साधारण काव्य-कौशल समझा जाने लगा है।

स्त्री और पुरुष रचयिताओं के दृष्टिकोण एक दूसरे से कुछ भिन्न-से रहते हैं। मानवता के नाते भावनाओं में कुछ विशेष अंतर नहीं होता, किंतु कुछ ऐसी बातें रहती हैं जो जीवन के भावना-भेद को स्पष्ट करती हैं। प्रणय-भाव को बनाए रखने केलिए स्त्री और पुरुष, दोनों के हृदय में दोनों की प्रतिष्ठा बनी रहती है, परंतु साधारणतः स्त्रियाँ अपने हृदय में पुरुषों को रखने की अपेक्षा

ग्रामगीत में स्त्रीत्व और पुरुषत्व

स्वयं उनके हृदय में ही रहना ज्यादा पसंद करती हैं। ग्रामगीत और कलागीत दोनों ढंग की रचनाओं में यह प्रवृत्ति देखी जाती है। इसके अतिरिक्त कवयित्रियों ने अपने गीतों में स्वकीया के प्रेम, विरह, उच्छ्वास को जितनी प्रतिष्ठा दी है उतनी पुरुषों ने नहीं। ग्रामगीतों में स्वकीया के सरल प्रेम की मार्मिक व्यंजना है। कुछ ऐसे गीत भी हैं जो स्वकीया की प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं पड़ते, किंतु ऐसे गीत जीवन की विधि नहीं, निषेध के सूचक हैं। शृंगारिक कवियों ने अपनी विलासवृत्ति के परितोष केलिए स्त्रियों से कौन-कौन-सी चेष्टाएँ न कराई हैं। इसका यही कारण है कि उन काव्यों की रचना करनेवाले पुरुष हैं। इसकी प्रतिक्रिया स्त्रियों में भी होती रही है और अवसर मिलने पर पुरुषों के संभ्रम तथा श्रेष्ठता को उन्होंने नीचा दिखाया है। किंतु, विडंबना की बात यही है कि स्त्री और पुरुष, दोनों अपने-अपने स्थान पर ही हैं और रहेंगे। नदियाँ समुद्र में न गिरें तो जायँ कहाँ! विलासिता का लक्ष्य एक ही है, स्त्री और पुरुष दोनों अपने-अपने मार्ग से एक ही केंद्रबिंदु पर पहुँचते हैं। कहीं पुरुष ने स्त्री को विरह से पगली बना दिया है तो कहीं स्त्री ने ही पुरुष की खूब धज्जियाँ उड़ाई हैं। एक ग्रामगीत में रसिक कन्हैया की अच्छी खबर ली गई है—

मोरे पिछवरवाँ कुम्हरवा की बखरी,
अच्छी-अच्छी मेटुकी भँवायो जी ॥१॥
असकै चाक चलाये रे कुम्हरवा,
दहिया बेचन हम जाइब जी ॥२॥
असकै चाक चलैहौं गुजरिया,
दहिया लेवैया लोभि जावै जी ॥३॥

× × × × × ×

एक घर नांघि दूसर घर नांघ्यों,
तिसरे में मिले हैं कन्हैया जी ॥९॥
छोड़ो कन्हैया बहिँयाँ हमारी,
हमरे सहर बड़े जालिम जी ॥१०॥
तुमरे सहर को मैं हथिया पठैहौं,
तुमको बैठरिहौं अपने राजहिं जी ॥११॥

×× ×× ××

छोड़ो कन्हैया बहिँयाँ हमारी,
सइयाँ हमरे दुख दारुन जी ॥१६॥
तुमरे बलम का मैं करिहौं वियहवा,
एक गोरी एक साँवर जी ॥१७॥
तनियक पिँछवड़ होइ जाओ कान्हा,
जमुना में खेलिहौं डुबैया जी ॥१८॥
एक बुड़ी मारिन दुसर बुड़ी मारिन,
गोरिया उतरि गईं पारै जी ॥१९॥
पूछन लागे गइया चरहरवा,
बखरी गुजरिया बताओ जी ॥२०॥
जाइके बैठे कान्हा कुअँवाँ जगत पर,
बखरी गुजरिया बताओ जी ॥२१॥
जेहिके दुआरे कान्हा बाँधे है पँड़रवा,
वही गुजरिया की बखरी जी ॥२२॥
हाथ में चुड़िला पाँव में बिछिया,
पहिरिन पटक चुनरिया जी ॥२३॥
निहुरे निहुरे गुजरी अंगना बहारैं,
पीछे ठाढ़े कन्हैया जी ॥२४॥

लागी कहन परोसिन उनसे,
पीछे बहिन तुमरी ठाढ़ी जी ॥२५॥
ना तो चचा के ना तो बबा के,
दुसरी बहिन कहाँ पावा जी ॥२६॥
तुमरा वियाह बहिन हमरा जनमवा,
दुसरी बहिन तुम पायो जी ॥२७॥
दूनों बहिन मिलि पिसना जो पीसैं,
मूसर घुमावैं मरदाने जी ॥२८॥
दूनों बहिन मिलि कुटना जो कूटैं,
मूसर उठावैं मरदाने जी ॥२९॥
दूनों बहिन मिलि रोटिया बनावैं,
थपकी चलावैं मरदाने जी ॥३०॥
दूनों बहिन मिलि जेंवन जो बैठीं,
कौर उठावैं मरदाने जी ॥३१॥
एक दिन बीता दूसर दिन बीता,
कान्हा कहेन मुसकाई जी ॥३२॥
जीजाजी खटिया बरौठा में डारौ,
हम तुम सुतब महलिया जी ॥३३॥
खटिया बइठि कान्हा रसभरि चितवैं,
भौंहाँ चलावैं मरदाने जी ॥३४॥
समुझि समुझि मन हँसी गुजरिया,
झपटि के भागि दुवारे जी ॥३५॥
भागो कन्हैया जियरा बचाओ,
आइगे ससुर बड़ जालिम जी ॥३६॥

× × × × × ×

भागो कन्हैया जियरा बचाओ,
आइये सैयाँ बड़ दारुन जी ॥३९॥
ओढ़नी उतारि कान्हा अँगना में फेकेनि,
लहँगा उतारि जतसारी जी ॥४०॥
हालाहाली टिकुली उतारै न पावनि,
कूदि गयेन डँड़वारी जी ॥४१॥
हथवा बजायके हँसी गुजरिया,
ठहरौ न कान्हा रस लूटौ जी ॥४२॥

[मेरे पिछवाड़े कुम्हार का घर है। हे कुम्हार! तुम बहुत अच्छी तरह चाक चलाना और सुंदर मटुकी बना देना। मैं दही बेचने जाऊँगी ॥१,२॥

कुम्हार ने कहा—हे गूजरी! मैं ऐसा चाक चलाऊँगा और ऐसी सुंदर मटुकी बना दूँगा कि दही लेनेवाला लुभा जायगा ॥३॥

गूजरी दही बेचने निकली। एक घर में बेचकर दूसरे घर में गई। तीसरे में गई। वहाँ उसे कन्हैया मिल गए। उन्होंने गूजरी की बाँह पकड़ ली। गूजरी ने कहा—हे कन्हैया! मेरी बाँह छोड़ दो। मेरे ससुर बड़े क्रोधी हैं ॥९,१०॥

कन्हैया ने कहा—मैं तुम्हारे ससुर केलिये हाथी भेजूँगा और तुमको राजगद्दी पर बैठा दूँगा ॥११॥

× × × × × ×

गूजरी ने फिर कहा—हे कन्हैया, मेरी बाँह छोड़ दो। मेरे स्वामी बड़े ही कठोर स्वभाव के हैं ॥१६॥

कन्हैया ने कहा—मैं तुम्हारे स्वामी का दो विवाह करा दूँगा। एक साँवली होगी, दूसरी गोरी ॥१७॥

गूजरी ने छुटकारे का जब कोई उपाय न देखा तब उसने कहा—हे कन्हैया, जरा तुम मुँह उधर कर लो। मैं यमुना में एक डुबकी ले लूँ ॥१८॥

कन्हैया ने उसे डुबकी मारने केलिए छोड़ दिया। एक डुबकी के बाद दूसरी डुबकी मारकर वह पानी ही पानी में उस पार हो गई और अपने घर चली गई ॥१९॥

कन्हैया उसका घर खोजते हुए चले। उन्होंने गोरू चरानेवालों से पूछा—हे भाई! दही बेचनेवाली गूजरी का घर मुझे बता दो ॥२०॥

कन्हैया कुएँ की जगत पर जाकर बैठे। उन्होंने पनिहारिन से पूछा—हे पनिहारिन! मुझे गूजरी का घर बता दो ॥२१॥

पनिहारिन ने कहा—हे कन्हैया, जिसके द्वार पर भैंस के पंड़वे बंधे हैं वही गूजरी का घर है ॥२२॥

कन्हैया ने हाथों में चूड़ियाँ, पाँवों में बिछुवे और शरीर पर चटकीली चुनरी पहन ली ॥२३॥

गूजरी झुकी हुई अपने आँगन में झाड़ू लगा रही थी। पीछे मुड़कर वह देखती है तो कन्हैया खड़े हैं ॥२४॥

पड़ोसिन ने गूजरी से कहा—देखो, तुम्हारी बहन खड़ी है ॥२५॥

गूजरी ने कहा—न तो मेरी कोई चचेरी बहन है, न कोई सगी। यह बहन कहाँ से आई? ॥२६॥

कन्हैया ने कहा—हे बहन! तुम्हारा विवाह हो जाने के बाद मेरा जन्म हुआ था। इस प्रकार मैं तुम्हारी दूसरी बहन हूँ ॥२७॥

दोनों बहनें मिलकर आँटा पीसने लगीं। दूसरी बहन का हाथ मर्द की तरह चलता था ॥२८॥

दोनों बहनें मिलकर कूटने लगीं। दूसरी बहन का हाथ मर्द की तरह उठता था ॥२९॥

दोनों बहनें मिलकर रोटी बनाने लगीं। दूसरी बहन की थपकी मर्द की तरह चलती थी ॥३०॥

दोनों बहनें मिलकर भोजन करने बैठीं। दूसरी बहन मर्द की तरह कौर उठाती थी ॥३१॥

एक दिन बीता, दूसरा दिन बीता। तीसरे दिन कन्हैया ने मुसकुरा कर कहा—॥३२॥

जीजाजी की खाट बरौठे(बरंडे) में डाल दो। हम तुम महल में सोवें ॥३३॥

खाट पर बैठकर कन्हैया रसीली चितवन से देखने लगे और मर्द की तरह भौंह चलाने लगे ॥३४॥

गूजरी को पहले ही से शक था। वह ताड़ गई। कन्हैया की चतुराई समझकर वह मन ही मन मुसकुरा रही थी। इतने में झपटकर वह दरवाजे की ओर भागी ॥३५॥

उसने कहा— हे कन्हैया, भागकर अपनी जान बचाओ। मेरे महा-क्रोधी ससुर आ गए ॥३६॥

कन्हैया ने ओढ़नी उतारकर आँगन में फेंक दिया और लहँगा जाँत के घर में। पर जल्दी में टिकुली (बेंदी) उतारने का मौका न मिला। वे हंड़वार (पाख) कूदकर घर से बाहर हो गए ॥४०, ४१॥

कन्हैया को भागते हुए देखकर गूजरी ताली बजाकर हँसने लगी और बोली—कन्हैया, भागे कहाँ जाते हो ? आओ न ? रस लूटो ॥४२॥]

ऐसी ही एक कविता पद्माकर की है—

फागु की भीर, अभीरिन में गहि गोविंदै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पद्माकर ऊपर नाई अबीर की झोरी॥
छीनि पितंबर कम्मर तें सु बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसकाय "लला फिरि आइयो खेलन होरी"॥

[फगुए की उमंगभरी घड़ी में गोपियों ने कन्हैया को गिरफ्तार किया और एक कमरे में बंदकर इच्छानुसार अबीर-गुलाल से उनकी मरम्मत की। कपोलों में अबीर खूब मलकर कमर की धोती छीन उन्हें नंगा कर दिया और मुसकानभरी चितवन के साथ उन्हें बिदा करती हुई वे बोलीं—'लला फिर होली खेलने केलिए आना'।]

उपर्युक्त का विवेचन

ऐसी रचनाएँ एक विशेष प्रकार की द्योतक हैं। स्त्री ने पुरुष को अपनी श्रेष्ठता का जैसा अभियुक्त बनाया, मालूम होता है, पुरुष ने, पद्माकर के प्रतिनिधित्व में, उसे सहर्ष स्वीकृत कर लिया। जिस चेष्टा से स्त्री की विलास-वृत्ति संतुष्ट होती है उससे दूर रहना रसिक पुरुषों केलिए भी संभव नहीं। स्त्री और पुरुष दोनों की लालसा, वासना, विलासिता आदि मनोवृत्तियाँ दो भिन्न उद्देश्यों से प्रेरित होकर भी एक ही लक्ष्य में सन्निहित हो जाती हैं। जहाँ रचना का उद्देश्य कुत्सित मानसिक विलास नहीं रहता, बल्कि स्त्री के सतीत्व की मर्यादा दिखाना होता है वहाँ वाणी की प्रतिपत्ति यथा-

संभव पाठक या श्रोता के हृदय में तदनुकूल मनोविकार ही उत्पन्न करती है। यह भी एक मानसिक विलास ही है, किंतु जीवन को शक्ति देनेवाला और महत् सौंदर्य से भरा हुआ विलास है। स्त्री का सतीत्व एक मर्यादा है। ग्रामगीतों में ऐसी बहुत-सी कथाएँ हैं जिनमें स्त्रियों ने अपने अनुपम साहस, धैर्य, चातुर्य से अपने सतीत्व की रक्षा की है। स्त्रियाँ बुद्धि से किंचित् ही पराजित होती हैं, भाव से सहज ही पराभूत हो जाती हैं।

उपसंहार

ग्रामगीतों में यत्र-तत्र ऐतिहासिक तथ्यों का भी समावेश किया गया है जिन्हें हम 'सत्य कल्पनाएँ' कह सकते हैं। ऐसे बहुत-से गीत हैं जिनका आधार कोई-न-कोई ऐतिहासिक पुरुष या स्त्री हैं और ऐसे विषयों पर जो परंपरागत गीत हैं वे समाज को अपनी दिशा में बराबर आत्मशक्ति देते रहे हैं। गार्हस्थिक या पारिवारिक जीवन से संबंध रखनेवाले गीतों में कुछ तो सुखजनक करुणापूर्ण हैं और कुछ करुणाजनक सुखमय। अधिकांश ग्रामगीत, जिन्हें स्त्रियाँ ज्यादा पसंद करती हैं, करुणाजनक होते हैं, क्योंकि स्त्री-प्रकृति स्वाभाविक रूप से स्वपीड़न-प्रधान होती है। भारतीय जीवन का सामान्य स्वरूप ग्रामगीतों में ही मिलता है, कलागीत में उसका स्वरूप विशेष संस्कृत तथा शिष्ट होकर रूढ़ तथा परंपराभुक्त हो गया है।

नवाँ अध्याय

कलागीत की प्रवृत्तियाँ

ग्रामगीत में जीवन का जो सरल रूप सन्निहित किया गया वह कलागीत में उसी वेश में समाविष्ट नहीं हो सका। उसमें ऐसे कितने विजातीय द्रव्य मिले जिनके कारण कल्पना में जीवन का सौंदर्य भले ही कुछ बढ़ा, किंतु वास्तविकता के साथ वह संबंध नहीं बना रह सका। जीवन-तत्त्व की जो अपूर्व विशेषता ग्रामगीत में व्याप्त थी वह कलागीत में सर्वत्र नहीं पाई जाती। 'अतः हमारे वर्त्तमान काव्य-क्षेत्र में, यदि अनुभूति की स्वच्छंदता की धारा प्रकृत पद्धति पर अर्थात् परंपरा से चले आते हुए मौखिक गीतों के मर्मस्थल से

ग्रामगीत की प्रकृति

शक्ति लेकर चलने पाती तो अपनी ही काव्य-परंपरा होती—अधिक सजीव और स्वच्छंद की हुई' १। कलागीत के संबंध में जैसे हम एक दूसरे कवि के विषय में अपनी रुचि या अरुचि का प्रश्न उपस्थित कर सकते हैं वैसा विवेक ग्रामगीत में नहीं रहता। कालिदास या भवभूति, तुलसी या सूर, देव या बिहारी में कोई किसी की रचना पसंद करता है तो कोई किसी की, किंतु ग्रामगीतों के समूह में इतना व्यक्ति-भेद नहीं होता, क्योंकि वहाँ वैयक्तिक सत्ता का वह मूल्य ही नहीं रहता।

ग्रामगीत और कलागीत का भेद

ग्रामगीत और कलागीत में साधारणतः कोई तुलना नहीं हो सकती, क्योंकि दूसरा पहले का विकास-मात्र है। बाल-सौंदर्य और यौवन-सौंदर्य में जो अंतर है वही उन दोनों में है। ग्रामगीत में जातीय हृदय को स्पर्श करने की जो अपूर्व मार्मिकता है वह कलागीत में नहीं। इस मार्मिकता से हम व्यक्तिगत या जातीय रूप में बहुत बढ़ आए हैं, किंतु तरुणता में जीवन का जो स्वाद है वह बचपन की मधुर स्मृतियों को रसहीन नहीं बना देता, प्रत्युत् अधिक अग्रसर होने पर भी कभी-कभी आरंभ की बातें सुखद मालूम होती हैं। बाल्यावस्था का जो जीवन-तत्त्व है वही किशोर, यौवन तथा वृद्धावस्था तक अविच्छिन्न रूप से विकसित तथा प्रवाहित होता चलता है। उस में केवल अवस्था-विशेष के कारण थोड़ा-बहुत संकोच-विस्तार होता है और अंत में वह वहीं पहुँचता जहाँ से उसका आरंभ हुआ है। सभ्यता भी जब अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच जाती है तब वहाँ से हटने लगती है। कलागीत भी अपने कृत्रिम आदर्श तक

१ आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ७२८।

पहुँचकर स्वाभाविकता के अनुसंधान में पीछे हटने को बाध्य होता है।

कलागीत की दो पद्धतियाँ

कलागीत की साधारणतः दो पद्धतियाँ हैं—अंतर्मुखी तथा बहिर्मुखी। जहाँ हम बाह्य जगत् का चित्रण अप्रस्तुत विधान के द्वारा करते हैं वहाँ हमारी वृत्तियाँ सादृश्यमूलक चित्रों के सहारे अपनी अभिव्यक्ति चाहती हैं, किंतु अंतर्मुखी काव्य में हम अपनी वृत्तियों की सचाई केलिए बाहर के प्रमाण या मापदंड खोजने का प्रयत्न नहीं करते। यही संवेदनात्मक शैली है। गीतों या मुक्तक काव्यों में इसकी प्रतिष्ठा आवश्यक है। जब कवि एक द्रष्टा के रूप में शेष जगत् की किसी वस्तु का वर्णन करता है और अपनी रुचि, अरुचि, प्रेम, घृणा आदि भावों से यथासंभव अनासक्त रहता है तब वह वर्णन बहुत कुछ निरपेक्ष कहा जाता है, किंतु तात्त्विक दृष्टि से न तो कोई कवि अपने व्यापार में अनासक्त रहता और न उसका कोई वर्णन ही निरपेक्ष माना जा सकता है। 'सर्वं सर्वत्र सर्वदा' वर्त्तमान रहता है। व्यापार-दृष्टि से कवि यथासंभव अपनी सत्ता को अप्रकट रखने की चेष्टा करता है। ऐसा प्रयत्न प्रबंध-काव्य की रचना में विशेष सुविधाजनक है। गीत या मुक्तक काव्य में संवेदनात्मक शैली का विधान उपयुक्त होता है। किसी नायिका के

संवेदनात्मक शैली का स्वरूप

सौंदर्य-वर्णन केलिए तरह-तरह के उपमान जुटाये जाने पर भी द्रष्टा के हृदय-तत्त्व का यदि उसमें पता न लगे तो सारा वर्णन कल्पना का महल ही मालूम होगा। वह चंद्रमुखी है, वह बड़ी सुंदर है, वह अत्यंत सुंदर है, इतना या इस प्रकार बहुत कुछ कह चुकने पर भी जिस

सुंदरता का बोध नहीं होता वह केवल—'आह, वह कितनी सुंदर है !' की मार्मिक वाणी से हृदयंगम हो जाता है। सुंदरता का यह संवेदनात्मक स्वरूप है। पहले ढंग की उक्तियाँ बुद्धिगत बोध से ज्यादा संबंध रखती हैं और पिछली उक्ति हृदय की अनुभूति है—प्रतीति है। ऐसी उक्ति प्रमाण-सापेक्ष्य नहीं होती और परिणामतः हृदय पर अभूतपूर्व प्रभाव डालती है। जिनके हृदय में किसी भाव की गंभीर तथा मार्मिक अनुभूति नहीं हुई रहती वे भी मजमून बाँधने का बहुत हौसला रखते हैं और बाँधते-बाँधते कल्पना के सहारे भावों से इतनी दूर बढ़ जाते हैं कि वे काव्य के बदले तमाशा खड़ा कर देते हैं। जिनके पास अनुभूतिपोषित गंभीरता तथा मार्मिकता है वे बहुत कुछ कहने का हौसला नहीं रखते। केवल वचन-विदग्धता ही काव्य नहीं है। कम-से-कम वाणी में हृदय की अनुभूति को अभिव्यक्त करने में योग देनेवाली प्रकृति भाव-केंद्र के समीप की ही रहती है। अनुभूति की गंभीरता वाणी को संयत रखती है। जिन्हें हृदय की यह विभूति प्राप्त नहीं उनकी वाणी कल्पना की हवा में उड़ती चलती है।

अनुभूति और कल्पना

अनुभूति एक तथ्य है, किंतु कल्पना सदा व्यक्तिगत होती है। महत् अनुभूति के बिना विराट् कल्पना बालू की भीत है। जिस कल्पना में अनुभूति की नींव कमजोर रहती वह न तो टिकती है और न प्रभाव ही उत्पन्न कर सकती है। अनुभूति की उपेक्षा कर उड़नेवाली कल्पना उड़ भले ही जाय, पर वह अपने सार-सर्वस्व को छोड़कर उड़ती है। इसीलिए वह हृदय को रमाने के बदले उसे कौतुक और वैचित्र्य में डाल देती है। यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि

ऊँची अट्टालिका या पहाड़ की चोटी पर चढ़कर नीचे भूमि की ओर देखने से भय और उल्लास का जो सौंदर्य मालूम पड़ता है वह हवाई जहाज पर चढ़ कर नहीं। अट्टालिका या पहाड़ की चोटी का भूमि के साथ जो अभिन्न संपर्क है वह द्रष्टा के हृदय में विद्युत् का प्रवाह संचरित करता है। हवाई जहाज पर उड़ने वाले को पृथ्वी की विद्युत-शक्ति प्राप्त नहीं होती। उसे जगत् के दृश्य में केवल वैचित्र्य और कौतुक ही मिलता है। इसी प्रकार अनुभूतिहीन कल्पना, जीवन-तत्त्व को छोड़कर उड़ने के कारण, हृदय को अपने साथ नहीं ले जा सकती। काव्य के प्रत्येक पद में हृदय-तत्त्व नहीं खोजा जा सकता, प्रत्येक पंक्ति में भी उसका निर्वाह संभव नहीं। हर टहनी में फूल भले ही खिले, पर हर पत्ते में फूल खोजना पागलपन है। टहनियों के झुरमुट में, पत्तों के हरे-भरे आवरण में, खिले फूल की जो शोभा होती है वह ऊजड़ डालियों में नहीं। कल्पना का वितान उसी सीमा तक शोभाप्रद माना जा सकता है जहाँतक वह अनुभूति को अभिव्यक्त करने में सहायक बनती हो। केवल कल्पना और वैचित्र्य की प्रधानता में जितने काव्य बने उनका प्रभाव मानव जीवन पर यथेष्ट नहीं पड़ा। जनता के प्रति कवियों का जो दायित्व है उसे समझने तथा उसके अनुसार अपने काव्य की रचना करने की उन्होंने चेष्टा नहीं की। परिणाम वही हुआ जो ऐसी स्थिति में संभावित था। जनता

कलावाद की वास्तविकता

ने इसी कारण ऐसे बहुत-से कवियों का गुरुत्व नहीं स्वीकृत किया। विनोद में ही उनको उड़ा दिया। कुछ आलोचकों की यह धारणा है कि 'कला कला केलिए' की भावना 'खट्टे अंगूर कौन खाय' से ही

संबंध रखती है। जनता ने वैसे काव्यों को जब जीवन के उपयुक्त न पाया तब वैसे काव्य केवल कला की दृष्टि से कला की कृतियाँ माने गए। बहुत-से कवि जो अपनी रचनाओं के द्वारा किसी गंभीर विषय की शिक्षा देना चाहते थे वे भी विनोद में उड़ा दिए गये और उनकी सारी कृतियों का मूल्य मनोरंजनमात्र रहा १। जीवन के गंभीर उद्देश्य की प्राप्ति का साधन वे न बन सकीं। जनता की ऐसी धारणा अबतक भी निर्मूल नहीं हुई है और 'आप कवि हैं' के भाव से सारी स्थिति समझी जा सकती है। संस्कृत के एक कवि ने बहुत ही व्यथित होकर कहा है—प्रशंसा के श्लोक बनाकर भेजने से क्या लाभ। अपने दुखों की चर्चा से भी कुछ लाभ नहीं। संभव है, वह धूर्त्त मेरी इन सब बातों को केवल कवि-कल्पना ही समझे २। कवियों की अवस्था उनके लिए गौरव-पूर्ण नहीं, बल्कि जनता के सामने उनके महत्त्व का पराजय है।

हिंदी के कलागीत का आविर्भाव-काल साधारणतः वीरगाथा का समय ही माना जाता है। यों हिंदी भाषा के स्वरूप के अंतर्गत आनेवाली कविताएँ दो-चार शताब्दि पहले से ही होती रही हैं। मानव जीवन जब भोजन-वस्त्र की चिंता से कुछ मुक्त-सा हो

१ In bringing his bold criticism of English Social life on to the stage, Bernard Shaw attracted immediate attention, though few thought of taking his criticisms seriously. His exposures and attacks were witty and amusing, and the British public soon came to adopt him as a sort of licensed iconoclast which is a sure way of rendering a reformer ineffective.

David Daiches: Literature And Society, p. 263.

२ वृथा गाथा श्लोकै श्रमलमलोकां ममरुजं।
कदाचिद् धूर्तोऽसौ कविवचनमित्या कलपति ॥

जाता है तब उसे युद्ध और प्रेम की सूझती है। अपनी स्थिति के निर्वाह या उसके प्रसार की इच्छा से जो युद्ध किए जाते हैं वे प्रेम के साथ स्पष्ट संबंध नहीं रखते। बहुत-से युद्ध केवल प्रेम के नाम पर अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्त्ति के निमित्त किए जाते हैं। सच्चे अर्थ में जो युद्ध है उसका वर्णन इतिहासकार करते हैं और दूसरे ढंग के युद्धों का वर्णन कविगण। मानव जीवन के क्रिया-कलाप में स्त्री-जाति की प्रेरणा का बहुत बड़ा हाथ रहा है। रामायण-महाभारत के भीषण युद्धों के चाहे जो कारण रहे हों, किंतु सीता-हरण तथा द्रौपदी-चीर-हरण तो स्पष्ट हैं।

कलागीत का आरंभ-युद्ध और प्रेम

पुरुष और स्त्री के मनोविश्राम में एक भेद की विशेषता है। पुरुष बाह्य सौंदर्य पर जितना निमग्न हो सकता है उतनी स्त्रियाँ नहीं, और अंतः सौंदर्य पर स्त्रियाँ जितनी विमुग्ध हो सकती हैं उतना पुरुष नहीं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि स्त्री और पुरुष के मनोविज्ञान का यह भेद बिलकुल गहरा है। बाह्य और अंतः सौंदर्य का महत्त्व अपनी स्थिति में ही रहता है। पुरुष की दृष्टि नारी के बाह्य सौंदर्य पर और नारी की पुरुष के अंतः सौंदर्य पर पहले आकर्षित होती है। सुंदरी रमणी तथा वीर पुरुष दोनों ही वंदनीय माने जाते हैं। काव्य में पुरुष कवियों ने स्त्री के सौंदर्य-वर्णन पर जितना ध्यान दिया उतना उनके गुणों पर नहीं, और स्त्री कवयित्रियों ने भी पुरुष के गुणों पर जैसी अंतर्दृष्टि रखी वैसी उनके रूप पर नहीं। रूप और गुण के वर्णन दोनों ही ओर से हुए हैं, किंतु स्वाभाविकता तथा प्रकृति के अनुसार स्त्री-पुरुष के सामान्य संबंध का यह स्पष्ट

पुरुष-स्त्री का मनोवैज्ञानिक भेद

अंतर है। वीरता के गुणों पर स्त्रियों को आत्म-समर्पण करते बहुत सुना गया है। किसी विपत्ति या कष्ट से छुटकारा दिलाने वाले वीर के साथ सुंदरियों ने जो सौजन्य दिखलाया है वह सहज ही काव्य में स्थान प्राप्त कर चुका है। स्त्रियों ने पुरुषों के हृदय में जो रमणीय स्थान प्राप्त किया वह केवल उनके बाह्य सौंदर्य के बल पर नहीं, उनके अंतः सौंदर्य का भी उसमें काफी श्रेय रहा है। किसी रमणी के मुख से अपनी प्रशंसा के शब्द सुनकर पुरुष को जो आह्लाद होता है वह उसकी प्राप्ति के अनुकूल प्रयत्न में कम प्रेरणा नहीं देता। कुछ दिनों तक कलागीत का केंद्र-स्थल युद्ध-प्रयत्न के बाद रमणी-रत्न की प्राप्ति का मनोरम वर्णन ही रहा। इस प्रकार के वर्णन में एक ओर स्त्री का रूप-सौंदर्य, दूसरी ओर पुरुष का शौर्य-वीर्य और मध्य में दोनों विंदुओं को मिलानेवाला प्रेम प्रधान बना रहा।

पुरुष की आखेट-प्रियता

राजा या राजकुमार प्रारंभ से आखेटप्रिय होते आए हैं। सोती हुई सिंहनी को जगाकर शिकार खेलनेवाले राजकुमार को जन-समाज में जो प्रतिष्ठा प्राप्त होती है वह सोई सिंहनी पर वाण चलानेवाले को नहीं। अनायास या विना प्रयास जो राजकुमारी प्राप्त हो जाती उसको रमणी-रत्न का पद नहीं मिलता था, चाहे वह पट्टमहिषी ही क्यों न हो। दुष्यंत ने तूणीर से विना वाण चलाये ही शकुंतला के हृदय को प्रेमविद्ध कर दिया, किंतु कुछ दिनों के उपरांत कण्व-आश्रम के मृग-शावक भले ही दुष्यंत को याद रहे हों, बेचारी शकुंतला उनकी स्मृति में भी बची न रह सकी!

युद्ध के हेतु जब गौण हो जाते हैं या निर्बल पड़ जाते हैं तब

बहुधा 'युद्ध युद्ध केलिए' ही किए जाते हैं; ठीक उसी प्रकार जब काव्य के हेतु-तत्त्व को दिग्भ्रम हो जाता है तब 'कला कला केलिए' ही मान ली जाती है। हेतु का औचित्य नष्ट होने पर ही ये तमाशे खड़े होते हैं। जीवन में युद्ध और प्रेम के स्वाभाविक स्फुरण होते हैं।

युद्ध के हेतु— यौवन का प्रदर्शन

जो वस्तु सहज ही प्राप्तव्य है उसको, युद्ध-प्रसंग उपस्थित कर, दुःसाध्य बना देने से यौवन और पराक्रम को अपने प्रदर्शन का उपलक्ष्य मिल जाता है। हेतु को निश्चित रखने केलिए कवियों को इसी उपलक्ष्य के उद्देश्य से वर्णन का अवसर प्राप्त हो जाता है। कलागीत में युद्ध और प्रेम बहुधा मूल लक्ष्य के रूप में नहीं, प्रत्युत् वर्णन के उपलक्ष्य में ही समादृत हुए हैं।

युद्ध और प्रेम के समन्वय की अनुकूल परिस्थिति ज्यों-ज्यों दूर होती गई त्यों-त्यों प्रेम को अपने विकास का एकाधिकार मिलता गया, पर वह सर्वथा लौकिक नहीं बना रह सका। अंतस्साधना के रूप में उसमें ज्ञान का योग हुआ, किंतु हृदय-पक्ष को महत्त्व नहीं देने के कारण प्रेम-तत्त्व को विकास का समुचित क्षेत्र नहीं मिल सका। रागात्मक तत्त्व से हीन अंतस्साधना मनुष्य के चित्त को तृप्त नहीं कर सकती, उसे समझा-बुझाकर एक दूसरे स्तर पर अवश्य खड़ा कर सकती है। ज्ञान-योग मस्तिष्क की आँखें खोल सकता है, पर हृदय को रमा नहीं सकता। निर्गुण में जब मानव हृदय को परितृप्ति न मिली तब सगुण रूप में उसे शांति मिली। ज्ञानपक्ष में गुह्य और रहस्य की भावनाएँ इतनी विकट तथा जटिल रूप में उपस्थित हुई कि साधारण मनुष्य केलिए ज्ञानपक्ष

प्रेम-तत्त्व का दिशा-भेद

अज्ञेय ही बना रहा। सूफियों का प्रेम-तत्त्व अन्यत्र चाहे वासना-ग्रस्त ही रहा हो, परंतु हिंदी-काव्य में उसने रूपक के सहारे जीवन का सौंदर्य उत्पादित किया। चराचर सृष्टि के साथ मानव हृदय को सहानुभूति-सूत्र में बद्धकर अखंड जीवन का आभास देना प्रेम-कथाओं की विशेषता है और यह विशेषता सूफी कवियों में पर्याप्त थी।

ज्ञानयोग की रहस्यवादिता

भावात्मक रहस्यवाद का प्रवेश होते ही काव्य में योगियों तथा तांत्रिकों के साधनात्मक रहस्यवाद केलिए गुँजाइश नहीं हो सकी। अपनी अटपटी वाणी या उलटवाँसियों से सामान्य जनता की बुद्धि पर आतंक जमाने के अतिरिक्त ज्ञानवादियों ने उपासना को सम्मुख कर उनके हृदय पर भी अधिकार करने की चेष्टा की। 'जो ब्रह्म हिंदुओं की विचार-पद्धति में ज्ञानमार्ग का एक निरूपण था उसी को कबीर ने सूफियों के ढर्रे पर उपासना का ही विषय नहीं, प्रेम का भी विषय बनाया और उसकी प्राप्ति केलिए हठ-योगियों की-सी साधना का समर्थन किया। इस प्रकार उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठ-योगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया। उनकी वाणी में ये सब अवयव स्पष्ट लक्षित होते हैं' १। इस तरह परि-स्थितिवश, निर्गुण ब्रह्म को भी उपासना के क्षेत्र में निरुपाधि से सोपाधि बनाया गया, पर उपासना का बाह्य स्वरूप विवादग्रस्त बना ही रहा।

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल: हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ९४

पूर्वभारत में राधाकृष्ण के उपलक्ष्य पर प्रेम-माधुरी की जो वंशी बजी उसका स्वर मिथिला के आम्र-कुंजों में गूँजता हुआ व्रजधारा तक प्रतिध्वनित हो उठा। राधाकृष्ण के भिन्न-भिन्न रूपों और प्रयत्नों पर जो रसात्मक दृष्टि डाली गई वह काव्य में अतुलनीय है। मुक्तक रचनाओं के द्वारा प्रेम के विविध रूपों का इतना रमणीय वर्णन किसी भी साहित्य का श्रृंगार है। सगुणवादी कृष्णभक्तों ने अपनी वीणा पर राधा-कृष्ण के प्रेम का जो गान गाया उसमें स्वर तो साधारणतः वही था, किंतु हृदय की मार्मिकता अपूर्व थी। कृष्ण का बाल-रूप-वर्णन जिस मनोवैज्ञानिक विशेषता के साथ किया गया वैसा शायद ही अन्यत्र हुआ हो। नित्य नए-नए भजन के रूप में अपने उपास्य राधाकृष्ण के भिन्न-भिन्न रूपों, उनकी क्रीड़ाओं का वर्णनकर कृष्णभक्त कवियों ने अपनी अपूर्व विदग्धता का परिचय दिया। उनका यह संयत स्वर, कुछ काल का व्यवधान पाकर, रीतिकाल के कवियों की वाणी में अनियंत्रित होकर गूँज उठा। इस बीच में लोक-व्यवस्था के निरूपण केलिए राम-जैसे नायक को अपना आराध्य बनाकर काव्य का एक आदर्श उपस्थित किया गया। जगत् और जीवन के विविध रूपों का जितना समन्वय रामायण में मिलता है उतना अन्यत्र किसी काव्य में नहीं। समाज के आचार-विचार, धर्म-शिष्टाचार आदि की रचनात्मक समीक्षाकर समाज को एक आदर्श का अनुगामी बनाने की चेष्टा की गई। उस समय लोक-गीतों के रूप में जितनी भी शैलियाँ यत्र-तत्र बिखरी पड़ी थीं उन सब का समावेश कलागीत के रूप में कर दिया गया। जीवन में प्रेम-तत्व का जो

सगुणवाद का प्रेमयोग

रूप अबतक अप्रस्फुटित तथा असंयत हो रहा था वह स्पष्ट तथा संयत रूप में उपस्थित किया गया। सगुणवादी भक्त कवियों ने अपनी रचनाओं के द्वारा जन-समाज के हृदय के रागात्मक पक्ष को बहुत ही रमणीय आलंबन दिया जिससे समाज को शक्ति मिली, उसका मनोरंजन हुआ। इसके साथ ही भक्त कवियों—निर्गुणवादी तथा सगुणवादी, दोनों—ने रसात्मक पक्ष के अतिरिक्त उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अन्योक्ति तथा नीति के वचनों से सामाजिक अव्यवस्था की तीव्र आलोचना की और विधि-निषेध का मार्ग बताते हुए अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार, समाज-कल्याण का उपदेश दिया। काव्य को उनकी सेवा में साधन-स्वरूप होकर उपस्थित होना पड़ा। रसात्मक प्रसंग के अभाव में चाहे काव्यत्व न भी उद्भासित हुआ हो, किंतु उनकी वाणी से समाज ने लाभ उठाये और अपने विचार में परिवर्त्तन या संशोधन करने में भी बहुत कुछ वह समर्थ हुआ।

प्रेम-योग का दिशा-भेद

दरबारी ढंग की कविताओं में रचयिताओं का ध्यान स्वकीया से मुड़कर परकीया की ओर उद्भासित होने लगा। मुगल बादशाहों के आधिपत्य तथा आश्रय ने इस प्रवृत्ति को उभाड़ने में बड़ा सक्रिय भाग लिया। विदेशी साहित्य के प्रभाव से भारतीय दांपत्य जीवन की सुरुचि में बड़ा व्याघात उत्पन्न हुआ और निष्क्रिय राजा-महाराजों की रंग-रेलियों के सुर-तान पर कलागीत भी नाचने लगा। कलागीत का यह आदर्श प्रेम की स्वतंत्र उद्भावनाओं को ही दृष्टि में रखकर बनाया गया, क्योंकि विवाह में प्रेम को एक निश्चित परिधि के भीतर ही विकास का अवकाश मिलता है। प्रेम में जहाँ

कर्त्तव्य और अधिकार की भावना रहती है वहाँ उसके उच्छृंखल विकास की संभावना नष्ट हो जाती है। परकीया के वर्णन में भावनाएँ उच्छृंखल रहती हैं, उनके लिए कोई भी बंधन नहीं होता। विवाह में प्रेम को जिस संयत और नियंत्रित रूप में दिखाना पड़ता है उससे मुक्ति पाने केलिए कवियों ने परकीया को ही अपना विषय बनाया। परकीया के प्रेम या तथा-कथिक प्रेम में कल्पनाओं को जो स्वच्छंदता मिलती है वह स्वकीया में नहीं। लोक-बंधन में कवियों को अपनी भावनाओं के स्वतंत्र स्फुरण की सुविधा नहीं रहती। खासकर बैठे-ठाले के मन की मौज परकीया को उपलक्ष्य मानकर ज्यादा व्यक्त की जा सकती है। यही कारण हुआ कि बहुत लंबे अर्से तक परकीया ही रसिक कवियों की दृष्टि में प्रधान लक्ष्य-बिंदु बनी रही। देव कवि के अनुसार—जोग हू ते कठिन संयोग परनारी को—परकीया का संयोग योग से भी कठिन समझा गया और इस कठिनता के प्रयासी बहुत से रसिक कवि तथा उनके पाठक बने। घर में सती सुंदरी को छोड़कर गलियों की खाक छानने में ही उन्होंने अपनी बहादुरी समझी। परकीया के अतिरिक्त गणिका भी स्वतंत्र उद्भावनाओं की प्रेरणा देनेवाली नायिका बनी रही, किंतु परकीया के वर्णन में कवियों को जो आनंद मिला वह गणिका में नहीं।

परकीया नायिका का महत्त्व

स्वकीया, परकीया तथा गणिका तीनों नायिकाओं के प्रति कवियों की अंतर्वृत्तियाँ भिन्न-भिन्न रूप से अग्रसर होती रहीं। स्वकीया के सहज प्रेम में उन्हें अपनी कल्पना के क्षेत्र का विस्तार नहीं दिखाई पड़ा। गणिका भी उनका विशेष मनोरंजन

महत्त्व का कारण

करने में समर्थ नहीं हो सकी। प्राप्तव्य की दुस्साध्यता उसके महत्त्व को बढ़ा देती है। जो वस्तु अनायास या थोड़े प्रयत्न के साथ प्राप्त की जा सकती है उसके प्रति मनुष्य को मोह नहीं होता। आखेट-प्रियता मनुष्य की प्रकृति है। जिस वस्तु को प्राप्त करने में कुछ दिक्कतें उठानी पड़ती हैं उसका स्वाद कुछ अधिक प्रिय मालूम होता है। इसी प्रवृत्ति ने स्वकीया तथा गणिका, दोनों से अधिक परकीया की ओर ही कवियों का ध्यान आकृष्ट किया। इस प्रकार के कलागीत विशेषतः उसी श्रेणी के व्यक्तियों का मनोरंजन करते रहे जो जीवन की वास्तविकता से दूर रहकर हृदय की वासना का अंतर्व्यतिक्रम ज्यादा पसंद करते थे। उन्हें अपनी विलासमय भावनाओं की प्रकृति के विश्लेषण तथा उनके अंतर्दर्शन की स्वाभाविक प्रवृत्ति थी और ऐसा करने केलिए उनके पास अवकाश भी था। रसिक कवियों के ऐसे निष्क्रिय पाठक या श्रोता को किसी उत्तेजनाजनक उपाख्यान के घटनानुक्रम की अपेक्षा भाव-विकृति में ही विशेष सुख प्राप्त होता था। ऐसे निरुद्यमों का काव्य एक ही संस्कार या प्रकृति के भावों का चर्वित-चर्वण करता रहा और कुछ सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विशेषताओं को छोड़कर साहित्य को बहुत निम्न कोटि का काव्य मिला।

रसिकता—जीवन का लक्ष्य

रसिकता कोमल भावों की आसक्ति का विलास ही है। ऐसी आसक्ति बिना किसी लक्ष्य के भी होने लगी। अपनी लालसा को शून्य में बढ़ाकर भी लोग उसके तथाकथित सौंदर्य का रसास्वादन करने से न चूके। जीवन का न तो कुछ संघात रहा और न कुछ लक्ष्य, पर भावों के विलास में ही काव्य की सारी मर्यादा तोड़ दी जाने

लगी। बाह्य जगत् में जो सौंदर्य है उसकी अप्राप्यता से जो तृष्णा बढ़ने लगी उसके परितोष केलिए हवा में ही मूर्त्ति-निर्माण की कल्पना सस्ती जान पड़ी। स्वकीया के अतिरिक्त परकीया तथा गणिका के वर्णन में जब साहित्य-शास्त्रियों ने रसाभास की धमकी दी तब राधाकृष्ण के आलंबन पर शृंगारिक कविताएँ रची जाने लगीं। कवियों का एक संप्रदाय ही ऐसा निकला जो अपने मनोभावों को एक ही दिशा में व्यक्त करता रहा। राधाकृष्ण के उपलक्ष्य पर न मालूम ऐसी कितनी रचनाएँ की गईं जिनका अस्तित्व कवि के अंतर्जगत् के बाहर कहीं न था।

रीतिकाल की विशेषता

रीतिकाल में रस, अलंकार और नायिका-भेद के अंतर्गत इतना सूक्ष्म विवेचन हुआ जितनी संस्कृत साहित्य-शास्त्र के पूर्वाचार्यों ने कल्पना तक न की होगी। रीति-काल का मूल आधार तो संस्कृत साहित्य-शास्त्र ही रखा गया, किंतु विवेचन और विनियोग की सूक्ष्मता में संस्कृत का यथातथ्य आधार न रह सका। कवि और आचार्य दोनों समानार्थक माने जाने लगे। वह कवि ही क्या, जिसने शास्त्रीय पद्धति का पांडित्यपूर्ण प्रतिपादन न किया और वह आचार्य ही कैसा जिसने अपनी रसमयी रचनाओं के भिन्न-भिन्न उदाहरण न दिए हों। यही स्थिति थी। उस समय कवियों ने मुख्यतः विलास-वृत्तियों को ही संतुष्ट करने का प्रयत्न-विस्तार किया, जीवन-संघर्ष से उत्पन्न समस्याओं के प्रति वे प्रायः तटस्थ रहे। नाम गिनाने लायक दो-चार कवि ऐसे अवश्य हुए जिनकी वाणी में दूसरा स्वर था, किंतु काल का प्रतिनिधित्व उनसे न हो सका। नायिका-भेद के अंगोपांग के वर्णन में रीतिकाल के कवियों ने मानो

सारा रस-भंडार खर्च कर डाला। नायिका-भेद स्त्रियों का वस्तुतः सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है, किंतु इसके अतिरिक्त जीवन की दूसरी अवस्थाओं में भी मनोविज्ञान का उपयोग हो सकता है, यह सोचने का अवकाश ही किसे था। स्वकीया, परकीया तथा गणिका के मुख्य भेदों के सिवा उनके अगणित अवस्था-भेद किए गए। काव्य में यह संस्कार इतना दृढ़ रहा कि उसकी परंपरा अब भी किसी-न-किसी रूप में जारी है। नायिका-भेद के अंतर्गत 'देश-सेविका' जैसी कई तरह की नायिकाएँ भी स्थान पा गईं। यह शुभ प्रयत्न नहीं माना जा सकता। शृंगार के आलंबन के रूप में ही नायिका-भेद का अस्तित्व है। जन-सेवा के नाम पर घर से बाहर निकलने वाली कुलांगनाओं की गणना नायिका-विधान के भीतर करना-शास्त्रीय दृष्टि से चाहे ठीक भी माना जाय, पर नैतिक विचार से राष्ट्रीय लज्जा का विषय है। अभिसारिका नायिकाओं की संख्या में भी दूनी वृद्धि हो गई। रात्रीय अभिसार के विचार से, कृष्ण पक्ष तथा शुक्ल पक्ष के कारण, कृष्णाभिसारिका और शुक्लाभिसारिका, दो नायिकाएँ मानी गई थीं, किंतु विवेचन के इस युग में केवल दो से काव्य का काम न चला, दिवसाभिसारिका नाम से इस ढंग की तीसरी नायिका निकली। यह भी संतोष करने की बात न थी। सुकुमार तथा भावुक कवियों ने स्वप्नाभिसारिका के अस्तित्व को भी स्वीकृत कर लिया।

नायिका-भेद का विश्लेषण

पुरुष ने स्त्री को सदा अपनी भावनाओं की दृष्टि से ही देखा है। एक स्त्री शब्द ही ऐसा है जो अपनी मूल अर्थ-स्थिति में है, अन्यथा इसके जितने भी काव्योपयुक्त पर्याप्त या समानार्थक शब्द

हैं सब पुरुष की भिन्न-भिन्न भावनाओं के द्योतक हैं। पुरुष की सौंदर्य-लिप्सा ने स्त्री को सुंदरी, रमण-प्रवृत्ति ने रमणी, कामना ने कामिनी, प्रेम ने प्रिया, प्रेमिका या प्रणयिनी, विलास ने विलासिनी और इस प्रकार अनेक प्रवृत्तियों ने उसके अनेक रूप माने हैं। इन

पुरुष की मनोवृत्ति में स्त्री का रूप

शृंगारिक रूपों के अतिरिक्त, गंभीर काव्यों में, उसकी गंभीर प्रकृति का विधान भी धर्मसंगिनी, जाया, महिला, देवी, गृहिणी, आर्या आदि के रूप में किया गया है, लेकिन शृंगारिक कवियों को स्त्री के इन रूपों को देखने की न क्षमता थी और न ऐसी महत बुद्धि ही। शृंगारिक कवियों ने इतने से ही स्त्री का पिंड न छोड़ा। स्त्री के अंग-विशेष या क्रिया-विशेष के ऊपर भी उसका नामकरण किया। सुनयना, सुलोचना, मृगाक्षी, चंद्रवदनी, कृशोदरी, नितंबिनी, सुकेशिनी आदि नाम अंग-विशेष के और गजगामिनी, मृदुभाषिणी, सुहासिनी आदि नाम उसके क्रिया-विशेष के निर्देशक हुए। स्त्री के उसी गुण या धर्म के उपलक्ष्य पर नामकरण किया गया जो पुरुष की ऐंद्रिक तृप्ति का साधन है। शोभन दृष्टि, चकित चितवन, बंकिम कटाक्ष तत्काल ही चित्त पर प्रभाव डालते हैं, मीठी बोली तुरत मन को मोह लेती है। ऐसे गुण या धर्म जो स्त्री की आंतरिक भावना या चेष्टा को बताते हैं, हाव के अतिरिक्त ध्यान में नहीं लाए गए। स्त्री की लज्जा, संकोच, भीरुता आदि ने भी पुरुष का काफी मनोविनोद किया, इसलिए साहित्य-शास्त्र से अनुमोदित होकर ऐसे गुण-धर्म काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान पा गए। नायिका की 'नाहीं' में भी कवियों को अपूर्व स्वाद मिला। पुरुष ने स्त्री के जिस रूप में, जिस भाव में, और जिस चेष्टा में

अपना मनोरंजन नहीं पाया उसका वर्णन काव्य में कदाचित् ही हुआ। जीवन की गंभीर समस्याओं से उदासीन रहने के कारण शृंगारिक कवियों की रचना में वस्तु या भाव-गांभीर्य नहीं आ पाया। प्रणय-पक्ष के जितने भी संभावित स्वरूप हो सकते हैं उनका ही रमणीय वर्णन किया गया। जीवन को इसी दृष्टिकोण से देखनेवाले मनमौजी रसिकों को, देव कवि ने 'अष्टयाम' रच कर, अपनी दिनचर्या बनाने की चिंता से भी मुक्त कर दिया।

वियोग का भार

वियोग का भार स्त्रियों के ऊपर जितना लादा गया उतना पुरुषों पर नहीं। कालिदास के यक्ष तथा अज ने इस भार को, प्रेम के गुरुत्व के कारण, अवश्य उठाया, किंतु परवर्ती काव्यों में यही प्रवृत्ति नहीं रही। स्त्री-प्रकृति में जीवन के दुख को एकनिष्ठ रहकर सहन करने की जितनी क्षमता रहती है उतनी पुरुष में नहीं। विरह की असह्य वेदना स्त्रियों के ही शिर पर मढ़ी गई और उस भार को उन्होंने बहुत गौरव के साथ ढोया भी, क्योंकि इससे उनका कुछ अपमान तो होता नहीं, प्रत्युत् अपने संबंध की विशेषता ही झलकती है। हृदय का हृदय के साथ, मन का मन के साथ जो संबंध है वही प्रेम या अनुराग है। इसमें यदि एकनिष्ठता नहीं रही तो वह हृदय को क्लांत नहीं कर सकता। एक से दूसरे, दूसरे से तीसरे को प्राप्त करने की चिंता हो सकती है, लेकिन चिंता विरह नहीं है। चिंता का समाधान प्रकारांतर से किया जा सकता है, पर विरह एक निश्चित प्रकार है। साधारण दुख भी जीवन में विरह के दुख से भिन्न होता है। सामान्य दुख से छुटकारा पाने की जैसी इच्छा होती है वैसी विरह-दुख से नहीं। यदि ऐसा विरह-दुख

समाज-बाह्य न रहा तो स्त्री की मर्यादा के विचार से काव्य में समादरणीय हो जाता है। जो प्रेम चित्त की गंभीर वृत्ति से संबंध नहीं रखता वह विरह भी उत्पन्न नहीं कर सकता। उससे केवल व्यभिचार की प्रेरणा मिलती रहती है। प्रेम में व्यभिचार को शांत रखने की क्षमता होती है और यही उसकी सच्ची कसौटी है।

प्रकृति-वर्णन का रूप

निरपेक्ष प्रकृति-वर्णन की प्रवृत्ति हिंदी कवियों में नहीं रही। प्रकृति को केवल उद्दीपन विभाव के रूप में रखकर उसके स्वरूप को बहुत संकुचित कर दिया गया। संस्कृत की तरह हिंदी कवियों ने उसके आलंबनत्व का निर्वाह नहीं किया। प्रकृति का भी अपना एक स्वतंत्र रूप है, इस प्रवृत्ति का सम्मान कवि-समाज ने नहीं किया। जीवन-सापेक्ष्य प्रकृति-वर्णन की प्रकृति ने सुख-विलास तथा इंद्रिय-रंजन के भाव को बड़ा अवलंब दिया। सुखकर भावों को उद्दीप्त करने केलिए प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों से जितना काम लिया गया, दुख के संबंध केलिए उतना क्या, प्रायः कुछ नहीं किया गया। वियोग-वर्णन के रूप में प्रकृति का उल्लेख करना रति-भाव के पोषण-स्वरूप ही होता है। रति-भाव के पोषण केलिए प्रकृति को पूरा पणबंध ही दे दिया गया। प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूप-व्यापार को अपने जीवन-पक्ष के साथ एकरस देखना भाव-मग्न अंतःकरण की विशेषता है; किंतु ऐसी मनःस्थिति जीवन में सदैव नहीं रहती। जीवन के ऐसे किसी क्षण की प्रतीक्षा करने का धैर्य भी हिंदी कवियों को नहीं था। इसी कारण जीवन के व्यापक रूप को देखने का उत्साह उनमें न था। 'रेकर्ड' के जिस अंश पर सूई आने से उनके शृंगारिक जीवन का स्वर बजता था उसी पर बार-

बार सूइयाँ चढ़ाकर विलासिता की उमंगें खूब जगाई गईं। जीवन के विविध पक्षों का सौंदर्य उपेक्षित कर दिया गया और उसमें केवल गतानुगतिकता ही शेष रही। लगभग तीन सौ वर्षों का हिंदी-काव्य प्रगति के विचार से मंथर हो गया। उसमें जीवन का नवीन संस्कार उत्पादित नहीं किया जा सका और अपनी सीमा के भीतर ही सूक्ष्म विवेचन की हद कर दी गई।

भावों की क्रिया-प्रतिक्रिया

साधारणतः भावों की क्रिया-प्रतिक्रिया दो हृदयों के पारस्परिक व्यवहार से ही उत्पन्न होती है। जड़ पदार्थों के प्रति भी हृदय में भाव उत्पन्न होता है, पर वह सरल तथा एकपक्षीय रहता है, जटिल तथा प्रतिक्रियात्मक नहीं। सूर्योदय, चंद्रोदय, नदी, पहाड़, वन, उपवन, वर्षागम आदि प्राकृतिक दृश्यों को देखकर चित्त में आह्लाद होता है, परंतु उससे किसी जटिल भाव की उत्पत्ति नहीं होती। जब हृदय में जटिल भाव उत्पन्न होता है तब स्वयं द्रष्टा ही दृश्य बन जाता है, कम-से-कम कुछ अंश में ही वह अवश्य दृश्य बन जाता है। भयंकर घाटी, भीषण तूफान, प्रलंयकर बाढ़ आदि को देख कर मनुष्य के चित्त में भय होता है और यह भाव वृत्तिचक्र की तरह जटिल मनोविकार के रूप में रहता है। यह जटिलता उसी स्थिति में उत्पन्न होती है जब मनुष्य ऐसे भीषण प्राकृतिक दृश्य में प्रत्यक्ष चेतनता का आरोप कर बैठता है। विविध विकल्प में पड़कर ही सरल मनोविकार जटिल हो जाता है।

काव्य में अपनी भावना की सूक्ष्मता को अधिक प्रभाव-व्यंजक बनाने के विचार से उसके गोचर रूप का विधान किया जाता है। भाव के इंद्रियग्राह्य प्रत्यक्षीकरण में सजीवता लक्षित होती है।

प्रत्येक जाति के धर्म में शक्तियों की मूर्त्त कल्पना होती है। काव्य में सूक्ष्म का यह मूर्त्त-विधान इसी कारण प्रचलित हो गया है। इससे भाव की क्रियाशीलता का प्रत्यक्ष-सा बोध होता है और चित्त पर उसके सारे संस्कार अंकित हो जाते हैं। प्रबंध या मुक्तक काव्य में जहाँ भाव की समस्त प्रकृति का मूर्त्त-विधान संभव नहीं रहता वहाँ उसकी किसी एक वृत्ति का ही प्रत्यक्षीकरण कर दिया जाता है। भाव के अंगरूप वृत्ति की गोचरता से समस्त अंगों की प्राण-प्रतिष्ठा मान ली जाती है। संस्कृत काव्यों में स्थल-विशेष पर प्रसंगानुसार सूक्ष्म का मूर्त्त-विधान बहुत मिलता है। कृष्ण मिश्र ने 'प्रबोध-चंद्रोदय' रूपक लिखकर इस शैली की काव्य-परंपरा का सूत्रपात कर दिया १। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अपने 'भारत-दुर्दशा' तथा 'भारत-जननी' नाटकों में दुर्दैव, भाग्य, आलस्य, सत्यानाश, निर्लज्जता, आशा, धैर्य आदि की पात्र-कल्पनाएँ की हैं। जयशंकर 'प्रसाद' ने 'कामना' में और सुमित्रानंदन पंत ने 'ज्योत्स्ना' में ऐसे ही कितने अमूर्त्त का मूर्त्त-विधान किया है। 'प्रसाद' के 'कामायिनी' महाकाव्य को भी सूक्ष्म वैदिक कल्पना का ही गोचर आधार प्राप्त हुआ है।

सूक्ष्म के गोचर विधान का कारण

१ अमूर्त्त का मूर्त्त-विधान करनेवाली शैली का संकेत उपनिषदों में मिलता है। प्रबोध-चंद्रोदय—नाटक की रचना की प्रेरणा उसी आख्यायिका से मिली है जो बृहदारण्यक उपनिषद् के उद्गीथ ब्राह्मण (१, ३) में सविस्तर वर्णित है। छांदोग्य उपनिषद् (१, २) में भी इस आख्यायिका का समावेश है। मानव हृदय में दो प्रकार की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं—पुण्य तथा परमार्थ और पाप तथा स्वार्थ। ये वृत्तियाँ इंद्रियों से उत्पन्न होती हैं, इसलिए इंद्रिय को देव और असुर दोनों कहा गया है। गीता के सोलहवें अध्याय में दैवी तथा आसुरी संपद् के नाम पर ऐसी अनेक वृत्तियों का उल्लेख किया गया है।

भावों की वृत्तियों का प्रत्यक्षीकरण रस-पद्धति के अनुभावों में अच्छी तरह व्यक्त हुआ है। मन और शरीर दोनों के संबंध से इसका रहस्य बहुत-कुछ जाना जा सकता है। मानसिक तथा शारीरिक दोनों तरह के विकार एक दूसरे से संगति रखते हैं। शरीर-विज्ञान के विवेचन में मनोविज्ञान के मूल का प्रतिपादन किया जा सकता है और उसके आध्यात्मिक रहस्य का भी उद्घाटन हो सकता है। प्रत्येक भाव का संस्कार बीजरूप से मनुष्य के चित्त पर अंकित रहता है। अनुकूल संवेदन से वह संस्कार जागरित होकर वृत्ति-चक्र की तरह अपने सजातीय संस्कारों को भी प्रबुद्ध करने लगता है। इस प्रकार स्थायी भाव के अनुकूल संचारी भाव उत्थित होकर शरीर-चेष्टा के रूप में अपनी अभिव्यक्ति करते हैं। यह सब क्रिया चित्त के सत्व-गुण-प्रधान अवस्था में ही होती है, क्योंकि सत्वोद्रेक ही रस है। शरीर-विज्ञान के अनुसार किसी बाह्य घटना, दृश्य आदि का जो प्रभाव चित्त पर कल्पित होता है उसका दबाव वायु-कोष—फुप्फुस—पर पड़ता है और तदनुसार ही रक्त-संचालन की गति तीव्र या मंद हो जाती है। रति-भाव में जहाँ रक्ताधिक्य होता है वहाँ भय में रक्ताभाव। दोनों के परिणाम मुखाकृति पर स्पष्ट लक्षित होते हैं। रक्ताधिक्य तथा रक्ताभाव दोनों ही स्थितिओं में रक्त-विकार के रूप में पसीना निकलता है १। रति, क्रोध, शोक,

शरीर-विज्ञान और रस-पद्धति

१ छांदोग्य उपनिषद् [६, २, ३] में प्रस्वेद के आध्यात्मिक कारण का उल्लेख किया गया है—

'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत।
तत्तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत।
तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायंते।

भय आदि के कारण मनोवेग की तीव्रता से रक्त-संचालन की साधारण गति में जो व्यवधान होता है उससे प्रस्वेद निकलने लगता है। चित्त और शरीर की इसी प्रकृति का विधान साहित्य-शास्त्र में रस-निरूपण के नाम पर है। सात्विक प्रस्वेद, रोमांच, स्वरभंग, अश्रु, वेपथु, आदि के तत्व इसी प्रकृति के साथ संबंध रखते हैं।

चित्त और शरीर तथा संचारी भाव

इस प्रकार देखा जाता है कि शरीर की अवस्था के अनुसार मन भी चलता है। शारीरिक कष्ट का अनुभव मानसिक ही होता है। अतः शरीर के साथ मन का संबंध घनिष्ट ही बना रहता है। संचारी भाव के आलस्य, निद्रा, व्याधि आदि की मूल प्रक्रिया में शरीर-प्रकृति को भुलाया नहीं जा सकता। शरीर तथा चित्त के गुरुत्व से जब उसकी प्रवृत्ति का अभाव-सा मालूम होता है तब आलस्य का अनुभव होने लगता है। कफ के प्रकोप से शरीर और तमोगुण के आधिक्य से चित्त की ऐसी स्थिति हो जाती है। धातु-रस-करण के वैषम्य का नाम व्याधि है। मानव शरीर में तीन प्रधान धातु—वात, पित्त तथा कफ—हैं। इनका न्यूनाधिक्य होना ही धातु-वैषम्य है, भोजन किए हुए अन्न-जल का सम्यक् परिपाक न होना रस-वैषम्य है और ज्ञानेद्रियों की शक्ति का मंद होना करण-

—उसने इच्छा की, 'मैं बहुत हो जाऊँ—अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ।' इस प्रकार उसने तेज उत्पन्न किया। फिर तेज ने इच्छा की, 'मैं बहुत हो जाऊँ—अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ।' तब तेज ने जल की रचना की। इसी कारण जब कभी मनुष्य तेज के कारण तीव्र मनोवेग धारण करता है तब उसे पसीना हो आता है। तेज से ही जल की उत्पत्ति होती है। बाह्य रूप से भी सूर्य या अग्नि के तेज से पसीना हो आता है।

वैषम्य है। यही वैषम्य व्याधि है। जिस समय बुद्धिनिष्ठ सत्व और रजोगुण को तिरस्कृतकर तमोगुण का आविर्भाव होकर सारी इंद्रियों को निष्क्रिय कर देती है उस समय ज्ञानेंद्रियों की सक्रियता के अभाव में बुद्धि का विषयाकार परिणाम न होने से चित्त की जो तमोगुण-प्रधान वृत्ति है उसे निद्रा कहते हैं १। चित्त और शरीर की प्रकृति के अनेक रूपों, स्थितियों के अनुसार ही जीवन के तत्त्व हैं और इन्हीं तत्त्वों का विनियोग काव्य-साहित्य में सिद्धांत के नाम पर कर दिया जाता है।

मनोविकार और अश्रु

जब कभी हम ऐसी घटना का वर्णन सुनते या ऐसा कोई अपूर्व दृश्य देखते जिससे हमारा पूर्व परिचय नहीं हुआ रहता तब अकस्मात् आनंद या विषाद के अतिरेक से हमारे मनोविकार की प्रकृति के अनुकूल शरीर की नसों में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। हमें रोमांच हो आता है, आँखों में आँसू छलछला आते हैं। अश्रु-प्रवर्षण भी तेज का ही प्रताप है। हर्ष का आधिक्य जब इस सीमा तक पहुँच जाता कि हम अपनी साधारण स्थिति में उसको आत्मसात् नहीं कर सकते तब उसके दुखजनक अतिरेक से आँसू

१ नैयायिक निद्रा को वृत्तिरूप न मानकर केवल ज्ञानभाव मानते हैं, किन्तु योगवादी उसे चित्त की वृत्ति ही मानते हैं—

'अभाव प्रत्ययाऽलंबन वृत्तिर्निद्रा'

[पातंजल योग-दर्शन, १, १०]

—क्योंकि यदि ऐसा न हो तो सुषुप्ति के बाद मनुष्य के ज्ञान में क्रम-भंग होता और 'मैं अच्छी तरह सोया' यह ज्ञान जब रहता ही है तब उसे ज्ञानाभाव कहना उचित नहीं जँचता।

निकल आते हैं। हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाने पर भी आँखें छलछला जाती हैं। जितने आनंद का भार हम सँभाल सकते हैं उतने से अश्रु-विकार उत्पन्न नहीं होता। आनंद के साथ-साथ विषाद में भी यह बात प्रायः उसी रूप में पाई जाती है। जितने दुख को हम सँभाल सकते हैं उतने से आँखों में कोई विकार स्पष्ट नहीं झलकता, किंतु जो विषाद असह्य होता है वह बरबस हमारे हृदय का मंथन कर आँसू निकाल देता है। संस्कृत में इसी कारण चक्षु—आँख—को वक्ता माना गया है। सुख या दुख जब अत्यधिक हो जाता है तब वाणी स्वतः मौन हो जाती है। वाणी के मूक होते ही आँखें बोलने लगती हैं। आँसू टपकाकर वाणी के द्वारा वर्णन न्यूनाधिक हो सकता है, पर भाव-निर्देश केलिए वाणी से मौन कहीं अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता है। इससे वर्णन की अनिर्वचनीयता मानी जाती है। प्रवीण कलाकार अतिशय सुख या दुख के समय अपने पात्रों को मूक बना देते हैं।

मुक्तक रचना और रस-प्रसंग

मुक्तक रचनाओं में प्रसंग की उपयुक्तता या अनुपयुक्तता का निर्णय करना कठिन होता है। कहीं-कहीं केवल काव्य-रीति या रूढ़ि के सहारे ही अनुकूल परिस्थिति या घटना का आक्षेप करना पड़ता है। मन की रस-संग्राहिणी प्रवृत्ति ऐसी होती है जो वर्णन के अनुकूल ही परिस्थिति का काल्पनिक विधान कर लेती है। बुद्धि के द्वारा जीवन के आह्लाद को ग्रहण करने की मनुष्य में स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। मधु-लोभी भौंरे की तरह पाठक वर्णन पर मँडराने लगते हैं और फिर रस-मग्न भी हो जाते हैं। रसमय प्रसंग के वर्णन में इतना आकर्षण रहता है कि रसिक पाठकों की कल्पना-शक्ति को

वह नियंत्रित कर देता है, इधर-उधर दिशाच्युत नहीं होने देता। कल्पना के जैसे आक्षेप से, जैसे विधान से वर्णन की रमणीयता बढ़े वैसी ही हमारी मनोवृत्ति हो जाती है। रस-लोभ की प्रवृत्ति भी ऐसी तीव्र होती है कि कभी-कभी असंभव घटना को भी, थोड़ी देर केलिए ही सही, अपनी बुद्धि-वृत्ति की गौणता से,

रस-ग्रहण की मनोवृत्ति

संभव मानकर हम उसका रस-ग्रहण कर लेते हैं। मनस्तत्व का यह सर्वमान्य स्वरूप न होने पर भी वितर्क से उसकी उत्पत्ति कर ली जाती है। यदि ऐसी प्रवृत्ति न हो तो हाथ आयी चिड़िया उड़ जाती है। काव्य और सूक्ति का भेद ऐसे ही प्रसंग पर स्पष्ट होता है। काव्य-में रस प्रधान रहता है और सूक्ति में चमत्कार। किसी वर्णन को पढ़कर जब हम साधारणतः 'आह !' कह उठते हैं तब वह काव्य-संयुत होता है और जब 'वाह !' कहते हैं तब वह चमत्कार-प्रधान रहता है। चमत्कार-प्रकाशन के समय हृदय की वृत्तियां गंभीर नहीं, छिछली रहती हैं। ऐसी वृत्तियों से रसोद्रेक नहीं होता। अच्छी या अनूठी उक्तियों से क्षणिक मनोरंजन भले ही हो जाय, पर वे हृदय को निमग्न नहीं कर सकतीं।

मानव प्रकृति की विलक्षणता यह है कि वह अपनी जाति, संस्कृति, सभ्यता, सुख-दुख, संपत्ति-विपत्ति, सुविधा-असुविधा,

मानव-प्रकृति और राष्ट्र-निर्माण

भाव-विचार के रूप में अपने स्वार्थ को किसी भू-भाग पर केंद्रित कर देती है। जिसका स्वार्थ जितना ही संकीर्ण रहता उसके राष्ट्र की परिधि भी उतनी ही संकीर्ण होती है और जो अपने स्वार्थ का जितनी दूर तक प्रसार कर सकता है उसकी देश-भक्ति भी उसी सीमा

तक क्रिया-तत्पर रहती है। स्वार्थ की यह परिधि कभी-कभी भौगोलिक सीमा को लाँघती हुई विश्व-बंधुत्व या मानवतावाद में मिलकर सीमाहीन हो जाती है। राष्ट्र का यह रूप सर्वमान्य नहीं। मनुष्य जितनी अपनी या अपने जीवन-संपर्क में आए हुए व्यक्ति या समाज की चिंता या ममत्व रखता है उतना दूसरों केलिए नहीं जो उससे दूर या भिन्न हैं। राजनैतिक प्रेरणा या विग्रह के ऊपर बहुधा किसी राष्ट्र का उदय-प्रलय निर्भर करता है, किंतु राजनीति के सारे कारणों को काव्य आत्मसात् नहीं कर सकता। काव्य में राष्ट्रीयता के वे ही उपकरण समाविष्ट किए जा सकते हैं जिनसे मानव-कल्याण की संभावना बनी रहती है। छल-प्रपंच, षड़यंत्र-विग्रह को लेकर सामान्य लोक-जीवन में रसात्मक अनुभूति उत्पन्न नहीं हो सकती। इसी कारण काव्य औचित्य की सीमा से बाहर अपना चरण-प्रसार नहीं कर सकता।

राष्ट्रीयता की उद्भावना स्वतः नवीन दृष्टिकोण की उपज है। प्राचीन या मध्य-काल में सात्विक राष्ट्र की कल्पना भारत में नहीं हुई थी। अपने राज्य या साम्राज्य की विस्तार-परिधि तक ही राष्ट्र की सीमा मानी जाती थी, पर राष्ट्रीय चेतनता का जो स्वरूप आज लक्षित है वह उस सीमा के अंतर्गत उस समय प्राप्त न थी। समय-समय पर कुछ कवियों ने देशभक्तिपरक रचनाएँ कीं और अपने आश्रय-दाता वीरों की विरुदावली भी गाईं, लेकिन राष्ट्रीयता के सारे उपकरणों से उनकी रचनाएँ समन्वित नहीं हो सकीं। अपने राज्य, प्रांत या जातीय शक्ति की रक्षा, वृद्धि तथा महत्ता स्थापित करने केलिए जो रचनाएँ हुईं और उनसे देश तथा जाति को जो

राष्ट्रीयता की उद्भावना

शक्ति प्राप्त हुई वे अपने अर्थ में सार्थक हैं। उनसे राष्ट्र का वृहत्तर कल्याण-साधन नहीं हो सका, उनका प्रयोजन भी इतना विशाल नहीं समझा गया।

राष्ट्रीय कविताओं की अपनी एक विशेष मनोवृत्ति होती है। भावना तथा मनोवेग के अनुसार उसकी दिशाएँ बदलती रहती हैं।

राष्ट्रीय कविता की मनोवृत्ति

राष्ट्र के अतीत गौरव या महिमा की स्मृति पर जो मनोवेग टिका रहता है वह गर्व या स्वाभिमान के रूप में फूट पड़ता है, अभाव या दीनता के बोध से वह करुणा या विलाप का रूप धारण करता है, उत्तेजना की स्थिति में वह उत्साह तथा दर्प को अभिव्यक्त करता है और यदि मनोवेग राष्ट्र की निष्क्रियता तथा कर्त्तव्य-विमुखता से प्रेरित हुआ रहता है तो वह भर्त्सना और धिक्कार के रूप में उबल पड़ता है। राष्ट्र के उपलक्ष्य पर हमारा रोना-गाना, हमारी विभिन्न मनोवृत्तियों को ही सूचित करता है। राष्ट्र की हित-चिंता या शक्ति-संवर्द्धन में जिस कवि का हृदय किसी संबंध-सूत्र का पता नहीं पा सकता उसके लिए राष्ट्रीय कविताएँ कुछ तत्त्व नहीं रखतीं। जो कवि राष्ट्र के अणु-परमाणु से ममत्व रखता है, जो राष्ट्रीय चेतना के साथ अपने हृदय का पूरा तारतम्य देखता है उसके लिए राष्ट्र का महत्त्व है और वही राष्ट्रीय कविता रचने का अधिकारी भी है। युग-धर्म के अनुसार स्वर-में-स्वर मिला देना ही पर्याप्त नहीं है।

कलागीत की एक प्रवृत्ति राष्ट्रीयता-मूलक भी रही है, किंतु उसकी उद्भावना बहुत पुरानी नहीं। जातीयता की सीमा के बाहर हमारी राष्ट्रीयता नहीं जा सकी थी और उसी सीमा के अंतर्गत

ही कुछ कवियों ने अपनी भारती का उपयोग किया। ज्यों-ज्यों हमारा परिचय एक-दूसरे से बढ़ता गया, सब समान सुख-दुख में सम्मिलित होते गये, त्यों-त्यों हमारी राष्ट्रीय भावनाएँ वृहत्तर होने लगीं। इस परिस्थिति में भी जो राष्ट्रीयतापरक रचनाएँ हुई उनमें मनोवेग की प्रबलता नहीं पाई जाती। उनमें बोध तो है, पर प्रतीति नहीं। विदेशी शासन ने जब देश-भक्ति तथा राज-भक्ति को पृथक्-पृथक् भावनाओं के रूप में उपस्थित कर दिया तब भी हमारे कवि दोनों विजातीय भावनाओं को प्रायः एक ही स्वर से अभिव्यक्त करते रहे। अपनी करुणाजनक दीनता पर दुख प्रकट करते हुए वे नये शासन से उत्पन्न सुख-संतोष का उल्लेख कर देना भी उचित समझते थे। उस समय की परिस्थिति ही ऐसी कुछ थी। राष्ट्रीय भावना को पुरस्सर करनेवाली अंतर्ज्वाला न जन-समाज में थी और न कवि-हृदय में। राष्ट्रीय जागृति के उत्थान के साथ-साथ ही देश का वायुमंडल बदलने लगा। जनता में राष्ट्रीय रचनाओं को सुनने-सुनाने की हिम्मत बढ़ने लगी, उत्साह भी आने लगा। आज इस परिवर्त्तित वायुमंडल में भी, कलागीत में राष्ट्रीय प्रवृत्ति ने कोई विशेष उल्लेखनीय स्थान नहीं प्राप्त किया है। कुछ उत्साही कवियों ने अपनी वाणी-विभूति का उपयोग राष्ट्रीयता के संवर्द्धन में अवश्य किया है, किंतु उनमें से अधिकांश स्थिति-पालकता का विचार रखनेवाले ही हैं, नव जागरण का शंख फूँककर जनता को उन्मत्त करनेवाले नहीं। यह अवस्था आरंभ की है, भविष्य में कलागीत की इस प्रवृत्ति के उच्चादर्श की प्रतिष्ठा करने की संभावना नष्ट नहीं समझी जा सकती।

राष्ट्रीय कविता की प्रकृति

छायावाद के आविर्भाव के पहले भी इतिवृत्तात्मक ढंग की रचनाओं से आगे बढ़कर मार्मिक विषयों की ओर कलागीत की प्रगति शुरू हो गई थी। बाह्यार्थ-निरूपण की परिपाटी को छोड़ते हुए स्वानुभूतिमूलक कविताओं में भावना-विस्तार के आगे रहस्यमय संकेत भी मिलने लगे थे। छायावाद ने कल्पना का पुट देकर काव्य-शैली की व्यंजकता बहुत बढ़ाई। नये ढंग के लाक्षणिक प्रयोग, जिनसे हिंदी पाठक परिचित नहीं थे, भाषा की व्यंजक शक्ति को बढ़ाने के साथ-साथ नई सूझ का आतंक भी पैदा करने लगे। इतिवृत्तात्मक शैली की प्रतिक्रिया-जैसी छायावादी कविताएँ रची जाने लगीं और कुछ समय तक तो नये कवियों के उत्साह ने छायावाद को काव्य का सामान्य स्वरूप-जैसी प्रतिष्ठा दे देनी चाही, किंतु छायावाद की काव्य-वस्तु अज्ञेय और अव्यक्त की झाँकी लेने के अतिरिक्त जीवन के किसी दूसरे क्षेत्र में प्रसारित नहीं हो सकी। वस्तु-विन्यास की विश्रृंखलता, रमणीय कल्पना, चित्र-विचित्र लाक्षणिक वैचित्र्य ही उनका साध्य रहा। विभाव-पक्ष का आभास, ऐसी कविताओं में अस्पष्ट ही बना रहा। काव्य-वस्तु को एकदेशीय बनाये रहने के कारण उसमें भावना-विस्तार का क्षेत्र तो प्रायः परिमित रहा, किंतु कल्पना को स्वच्छंद गति मिली। भारतीय शास्त्र-पद्धति की ध्वनि, रीति, रस, अलंकार को कल्पना के उन्मुक्त क्षेत्र में दूसरे ही सुर-ताल के साथ उपस्थित होना पड़ा। लक्षणा के ऊपर लक्षणा का इतना भव्य भवन निर्मित किया गया कि हिंदी के पाठक उसे देख कर विस्मय-विमुग्ध तो अवश्य हुए, किंतु उसमें प्रवेश करने का

छायावाद का आविर्भाव

छायावाद की प्रकृति

द्वार न पा सके। वचन-बक्रता तथा वैचित्र्य ने पाठकों केलिए कुछ आकर्षण पैदा किया, पर हृदय के साथ उसका कुछ सामंजस्य न उत्पन्न हुआ। छायावाद की रचनाओं से कलागीत को सबसे बड़ा लाभ उसकी आकर्षक शैली से हुआ, काव्य-वस्तु के रूप में उसका कुछ विशेष हित न हो सका।

छायावाद, रहस्यवाद और हृदयवाद

छायावाद, रहस्यवाद, हृदयवाद आदि कितने ही 'वाद' काव्य-पद्धति में दिशा-भेद उत्पन्न करने लगे। कुछ लोग छायावाद, रहस्यवाद, हृदयवाद सबका एक ही अर्थ निकालने लगे और कुछ ने प्रत्येक 'वाद' की अलग-अलग व्याख्या की। इतना तो स्पष्ट है कि एक से दूसरे 'वाद' में भिन्नता की कोई निश्चित सीमा नहीं रखी गई। इतिवृत्तात्मक तथा बाह्यार्थ-निरूपक कविताओं के प्रतिक्रिया-स्वरूप जो भावनात्मक तथा अंतर्वृत्तिमूलक कविताएँ रची गईं वे द्विवेदी-युग की कविताओं से, भाव, विचार, शैली, सब तरह से भिन्न रहीं। हृदयवाद का तथ्य अनुभूति-मूलक है और इससे किसी ढंग की कविता, यदि वह सच्चे अर्थ में कविता ही है तो, अलग रह भी नहीं सकती। छायावाद और रहस्यवाद का अंतर अबतक भी स्पष्ट नहीं हो सका है और इस युग में ऐसा होना संभव भी नहीं। भावात्मक तथा साधनात्मक रहस्यवाद का युग कब न उतर गया। यदि छायावाद ईसाई संतों के छायाभास (Phantasmata) और आध्यात्मिक प्रतीकवाद (Symbolism) के अनुकरण पर है और रहस्यवाद वेदांतिकों के अद्वैतवाद का सगुणपरक उपासनामूलक द्वैतवाद या अँगरेजी काव्य-जगत् के एक अंश में प्रवर्त्तित (Mysticism) काव्य-रूप है तो इन सबका सम्यक् निर्वाह किसी

संप्रदाय में ही संभव है। वे काव्य की सामान्य परिभाषा के अंतर्गत नहीं आते। जीवन में संप्रदायगत जो भावनाएँ हैं वे समस्त काव्य-जगत् को आच्छन्न नहीं कर सकतीं। हिंदी कलागीत के इतिहास पर समीक्षात्मक दृष्टि डालने से साधारणतः यही पता लगता है कि वस्तुवादी या वर्णनात्मक ढंग की कविताओं में स्पष्टता का रूप जो लक्षित होता था उसमें भावना तथा कल्पना के विस्तार का विशेष अवकाश न था, यथातथ्य वस्तु का वर्णन कर दिया जाता था। छायावाद के रूप में तथ्य को अस्पष्ट रख दिया जाता है और कल्पना की दौड़ लगाने केलिए बड़ी छूट मिल जाती है। रहस्यवाद में अव्यक्त और अज्ञेय को व्यक्त तथा ज्ञात-रूप में वर्णितकर उसे हृदय का देवता बनाया जाता है। ब्रह्म और जीव दोनों के मिलन-व्यापार, वचन-वक्रता तथा कल्पना के वैचित्र्य से दिखलाये जाते हैं। यदि वस्तु-स्थिति इतनी ही दूर तक रहे तो ज्यादा घबड़ाने की बात नहीं। ब्रह्म और जीव के उपलक्ष्य पर लौकिक वासना-मूलक कविताएँ, अधिकतर रहस्यवाद के नाम पर, काव्य-जगत् में प्रकाशित हुईं। अपनी लौकिक प्रणय-भावना को रहस्यवादी कविता के रूप में लाने की बात को कुछ कवियों ने मौन रहकर, निरुत्तर होकर, स्वीकृत भी किया है। जो सच्चे अर्थ में रहस्यवादी कवि हैं, जिन्हें वैसी दुर्लभ अनुभूति प्राप्त है उनकी बात मैं नहीं कहता। रहस्यवाद या छायावाद को काव्य का सामान्य लक्षण न मानते हुए, एक विभाग-विशेष के रूप में जो कवि इस ढंग की कविताएँ रचते हैं उनसे काव्य का कल्याण ही संभव है, अहित नहीं। छायावाद

छायावाद में कल्पना-तत्त्व

रहस्यवाद में प्रणय-भावना

या रहस्यवाद के नाम पर वाग्जाल फैलाकर पाठकों को व्यर्थ भ्रम में डालना, चाहे नैतिक दृष्टि से बुरा न भी माना जाय, पर अपनी आत्म-प्रवंचना के विचार से निस्संदेह पाप है।

कलागीत की रूढ़ि-प्रियता

कलागीत स्वभावतः ही परंपरामुक्त होता है। एक परिपाटी को तोड़कर नये क्षेत्र में आते ही उस पर दूसरा भूत सवार हो जाता है। रीतिकाल के अभिसार, नायक-नायिका, हाव-भाव आदि के ऐंद्रिक सुख-विलास की रमणीय कल्पनाओं से पिंड छूटा, और यों ही नहीं, आंदोलनात्मक क्रांति की पुकार मचाकर, तो फिर आध्यात्मिक आवरण के भीतर अज्ञात नायक-नायिका की मौन प्रणय-वासना दबे पाँव आकर अपने पूर्व संस्कारों के साथ उसी गढ़े में जा धँसी। कुछ समय तक कवियों ने अपने काव्य में निर्देश या उपलक्षण को ही महत्त्व दिया, मुख्य अभिधान या अर्थ-बोध पर उनकी दृष्टि नहीं गई। काव्य के आध्यात्मिक अर्थ पर जितना ध्यान दिया गया उतना हृदय के भावों की संगति पर नहीं। गंभीर भावों की अभिव्यक्ति भी काव्य में अप्रत्यक्ष रूप से ही होती रही। हृत्तंत्री की नीरव झंकार, अनंत प्रतीक्षा, मद में झूमना, सूक्ष्म अभिसार, प्रियतम का दबे पाँव आना आदि चित्रमयी भाषा में रंजित होकर उसी दल-दल में जा फँसे। ऐसी कविताओं ने हृदय के ज्ञात पक्ष की तो उपेक्षा की ही, अज्ञेय के रहस्य में लिपटाकर बुद्धि को बड़ा परेशान किया। इस ढंग की काव्य-प्रणाली से भाषा में लाक्षणिक वक्रता की कुछ विशेषता अवश्य आ गई। कभी-कभी लाक्षणिक प्रयोगों से मन की अव्यक्त भावनाओं का बहुत ही रमणीय चित्र उपस्थित किया जा सकता है। कुछ कृतविद्य

कवियों ने इस दिशा में अच्छा काम किया है, परंतु भाषा की बलात् अर्थ-व्यक्ति का अनाचार भी खूब बढ़ा। भाषा की अर्जित शक्ति से अधिक अर्थ भाँपने पर जोर देने के कारण उसकी शिथिलता ही बढ़ी। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य में जब जब बँधी हुई प्रणालियों से बाहर निकलकर जगत् और जीवन के विविध पक्षों की मार्मिकता दिखाने की प्रवृत्ति अग्रसर हुई तब तब वह कुछ दूर चलकर फिर उसी राजमार्ग पर आ गई है। इस प्रयत्न के कारण काव्य में अवश्य ही कुछ लाक्षणिकता, कुछ प्रगल्भता और कुछ विचित्रता आ गई, पर उसमें जीवन के नकली बंधनों को तोड़कर फिर नये ढंग के नकली बंधन बाँध दिए गए हैं।

नये ढंग की काव्य-प्रणाली में आध्यात्मिकता का गहरा पुट देने के कारण वह स्वभावतः दुरूह हो गई। तत्त्व-चिंतक और

तत्त्व-चिंतक और कवि

कवि दोनों की चिंतना, भावना तथा कल्पना में जो भेद होता है वह विशेषतः तथ्य के अनुबंध-सूत्र को लेकर ही। कवि अपनी प्रवृत्ति को जितनी स्वच्छंद गति दे सकता है, तत्त्व-चिंतक उस सीमा तक नहीं पहुँच सकता। अनुबंध-सूत्र की अर्थ-संबंधी विशेषता कवि की अपनी विशेषता है जो उसकी रचना को महत् बनाती है। वह अपनी सारी मानसिक सत्ता—बुद्धि और भाव—को लेकर काव्य-क्षेत्र में विचरण करता है। उल्लास, हास्य, विनोद, करुणा, वेदना आदि की अभिव्यक्ति अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार वह करता चलता है, तत्त्व-चिंतक की तरह बैठकर विवेचन नहीं करता। इसके साथ ही यह भी एक सत्य है कि कवि अपना भाव पाठक या श्रोता को नहीं देता, प्रत्युत वह उसके अपने सजातीय भाव

को ही उद्दीप्त कर देता है। यदि किसी पाठक या श्रोता के हृदय में कवि के भाव की एकरसता नहीं रही तो उसका काव्य वैसे पाठक के हृदय में प्रसार नहीं पाता।

गीत-शैली का प्रचलन

कलागीत की अति-आधुनिक प्रवृत्ति के भीतर गीत-शैली भी है जिसका प्रचलन इधर पिछले दिनों से बड़े धड़ल्ले के साथ हो रहा है। कभी-कभी गीत की शीर्षकहीनता भी विज्ञापित कर दी जाती है। कविता का सामान्य शीर्षक 'गीत' रख देने से ही वस्तुतः गीत या वैणिक (लीरिक) के गुणों से वह समन्वित नहीं हो जाती। कुछ कृतविद्य कवियों में गीत रचने की स्वाभाविक प्रतिभा है और उनको अपनी भावना के अनुभूतिजन्य आवेग को अखंड रूप से अभिव्यक्त करने की क्षमता भी है, किंतु आज जिस परिमाण में गीत प्रकाशित हो रहे हैं वे जीवन की मार्मिकता को अपने साथ-साथ ढो नहीं सकते। गीत जिस प्रकार आवेग-प्रधान भावना का एक खंड है उसी प्रकार उसकी अभिव्यक्ति भी अखंड होती है। अप्रस्तुत-विधान उसके आवेग की एकसूत्रता को खंडित नहीं कर सकता। कवि के हृदय की अंतर्ज्वाला किसी बाह्य प्रेरणा से प्रभावित होकर उसके सारे अंतर्बाह्य को एक साथ ही अभिव्यक्त कर देती है। उसमें स्वभावतः ही लय-छंद को अनुकूल गति प्राप्त हो जाती है। समझ-विचारकर, अध्यवसाय के साथ किसी गीत की रचना नहीं होती। वह एक मनोवेग की रचना है। कवि के अंतस् में जो भावना घनीभूत हुई रहती है वह प्रेरणा संकेत पाते ही बाहर निकल पड़ती है—उसके सारे अंतस् को उद्भासित कर देती है। अधिकांश गीत जो अभी हमारे

सामने आ रहे हैं उनमें शीर्षक के अतिरिक्त ऐसी कोई विशेषता नहीं मिलती। गीतों की रचना-प्रकृति की विशेषता जबतक उनमें लक्षित नहीं होती तबतक अंधे को नयन-सुख कैसे मिल सकता है! कृष्णभक्त कवियों में गीतिकार की हार्दिकता तथा मार्मिकता का जो तत्त्व था वह आजकल के गीतिकारों में लक्षित नहीं होता। 'प्रीति करि काहू सुख न लह्यो' या 'अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल' में जो वाणी की विदग्धता है, मार्मिकता है वह 'तुम्हें ही चाहा सौ-सौ बार' या 'सकल गुणों की खान, प्राण तुम!' में नहीं झलकती! किंतु सभी गीतों की प्रकृति एक-सी नहीं है। कुछ ऐसे गीत भी आधुनिक काल में रचे गए हैं जिनमें एक निश्चित बिंदु पर हृदय की अनुभूति, व्यथा या उच्छ्वास के रूप में, निकल पड़ी है। उत्पीड़ित या उच्छ्वसित भावना स्वतः अपनी स्वर-साधना कर लेती है। नियम की स्वाभाविकता उसे अनुकूल मार्ग दे देती है। कलागीत की इस प्रवृत्ति का संचालन, यदि सचाई और स्वाभाविकता के साथ किया जाय तो काव्य का श्रीवर्द्धन ही होगा।

गीत-शैली की रचना-प्रकृति

कलागीत की आधुनिक प्रवृत्तियों में प्रगतिवादी या प्रगतिशील साहित्य-पंथियों का भी एक समुदाय है जो काव्य में सामान्य जीवन के चित्रण को महत्त्व देता है। वस्तुतः काव्य या साहित्य में प्रगतिशीलता कोई विजातीय तत्त्व नहीं, प्रत्युत् जीवन तथा काव्य का सामान्य लक्षण है। प्रगतिशीलता के स्वर को ऊँचा उठाकर उसमें 'वाद' का समन्वय कर देने से प्रतिक्रिया की गंध आने लगती है। प्रतिक्रिया सर्वत्र बुरी नहीं होती, कभी-कभी जीवन के किसी एक

कलागीत की प्रगतिशीलता

क्रम की बढ़ती हुई गति को रोककर उसका संतुलन करने में इससे काफी सहायता मिलती है। हमारे सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में आर्य-समाज ने जिस क्रांति की प्रतिष्ठा की उसका प्रभाव आधुनिक काव्य-जगत् पर कम नहीं पड़ा। इसी प्रकार राष्ट्रीय तथा राजनैतिक जीवन के विकास में साम्यवाद या मार्क्सवाद ने एक नया दृष्टिकोण दिया है। किसी संप्रदाय या 'वाद' को विना चरम सीमा पर पहुँचाये उसकी प्रवृत्तियों से लाभ उठाया जाय तो जीवन और काव्य केलिए हितकर ही होता है, किंतु जीवन और काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों के रूप में इनका उपयोग करना प्रायः उसी सीमा पर पहुँचना है जहाँ से प्रत्यावर्त्तन की अपेक्षा हो जाती है। इस प्रकार जीवन या काव्य कुछ स्थायित्व लेकर घड़ी के पेंडुलम की तरह कभी इस दिशा से उस दिशा और उस दिशा से इस दिशा की ओर जाता-आता रहता है। इससे समय और शक्ति का अनावश्यक ह्रास तो होता ही है, जीवन या काव्य भी प्रायः एकांगदर्शी हो जाता है।

प्रगति का स्वरूप

प्राचीन काव्य में समाज के विशिष्ट वर्ग को जो सम्मानीय स्थान प्राप्त हुआ था वह निम्न वर्ग को नहीं। राजा-रानी, विद्वान्-पंडित, शूर-वीर के चरित्र-चित्रण को आदर्शवादी दृष्टिकोण के कारण ही काव्य में प्रतिष्ठा मिली थी। समाज के इस वर्ग के प्रतिनिधियों के संबंध में सामान्य जनता के भाव-विचार आज की तरह संकीर्ण नहीं थे। ऐसे आदर्श पात्रों की काव्यगत प्रतिष्ठा से रस-परिपाक में भी विशेष सहायता मिलती थी। 'राजा' शब्द ही शील, शक्ति, सौंदर्य, ऐश्वर्य, धीरोदात्तता, परदुखकातरता आदि गुणों का प्रतीक माना

आदर्श की प्रतिष्ठा

जाता था। राजा को ईश्वर का अंश मानने की भावना भी शास्त्रानुमोदित थी। किंतु ज्यों-ज्यों जीवन में परिवर्त्तन-पर-परिवर्त्तन आने लगे, समाज में जिस आदर्श को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी उसमें कर्त्तव्य-बुद्धि नष्ट होने लगी और केवल अधिकार-भावना ही बचने लगी, त्यों-त्यों सामान्य जनता अपने आदर्श नायक में देवत्व का ह्रास समझने लगी और सामान्य मानव-जीवन से बढ़कर उसमें और कोई विलक्षणता नहीं देखने लगी। जनता का वह नायक देव से मानव पर आया और जैसा कि लक्षणों से प्रतीत हो रहा है, वह मानव से भी नीचे उतर कर दानव तक आ सकता है। प्रजातंत्र की बढ़ती हुई भावना ने राजतंत्र को निःस्व बना दिया। जो दृष्टि आदर्शोन्मुख थी वह यथार्थता पर आ टिकी। जीवन के इस महान् परिवर्त्तन का प्रभाव काव्य पर पड़े विना नहीं रह सकता। प्राचीन साहित्य-शास्त्र में नायक के जो विशेषण वर्णित किये गए थे वे विशेषण तो बने रहे, किंतु उनके अर्थ विपरीत मालूम होने लगे।

प्रगतिवाद में आदर्श का ह्रास

मानवता की इस विजय ने काव्य को कोई नयी दृष्टि नहीं दी। काव्य की सामग्री मानव-जीवन की विविधता ही रही है। उसमें ऊँच-नीच, राजा-रंक, विद्वान्-मूर्ख, सुंदर-असुंदर का कोई भेद नहीं। एक वृद्धा भिखारिणी का चित्र बनाते-बनाते यदि चित्रकार किसी युवती रानी का चित्र बना दे तो वह सफल नहीं माना जा सकता। चित्रकार का साध्य वृद्धा भिखारिणी को ही चित्रित करना है, अपनी ओर से भिन्न-भिन्न रंगों की कूचियों से उसे रति-सुंदरी बना देना नहीं। काव्य में किसान, मजदूर, भिखारी को भी वर्णन

काव्य का लक्ष्य—मानवता

की दृष्टि से वही प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए जो समाज के विशिष्ट वर्गों को अभी तक मिलती रही है। सद्गुणों का निवास केवल बड़ों में ही नहीं रहता, छोटे भी उनसे उद्दीप्त रहते हैं। एक भिखारिणी के हृदय में स्नेह, वात्सल्य, ममता आदि जो स्त्रियोचित गुण मिल सकते हैं वे प्रत्येक रानी में प्रायः नहीं मिलते। एक भूखा किसान उदारता, वीरता आदि गुणों से किसी आधुनिक राजा को भी पराजित कर सकता है। ऐसी स्थिति में काव्य की दृष्टि से जीवन की सामान्य कही जानेवाली विभूतियों का चित्रण व्यर्थ नहीं हो सकता, बल्कि इससे काव्य की विशेषता ही प्रतिपादित होगी।

प्रगतिवाद और जन-धारणा को सतर्कता

प्रगतिवाद आदर्श से यथार्थ को ही विशेष महत्त्व देता है। समाज में विधवा तथा अछूत को जो हेय स्थान था उसको बदलने की गुँजाइश अब हो गई है। धार्मिक रूढ़ियों तथा पाखंडी धर्म-ध्वजियों के कारण जीवन का जो वातावरण इतना कलुषित हो गया था, अंध-विश्वास तथा परंपरा के नाम पर जो मलिनता आ गई थी उसका परिमार्जन अब होने लगा है। समाज का कोई भी अंग अपनी दीनता तथा हीनता के कारण ही हेय नहीं माना जा सकता। जीवन के विविध अंगों तथा रूपों को अपने भीतर समाविष्ट कर लेने में ही काव्य की सार्थकता है। काव्य का द्वार ऊँच-नीच, धनी-दरिद्र, देव-दानव सब केलिए खुला है। उसमें इतनी ही पक्षपात-शून्यता की आवश्यकता है कि समाज के उच्च वर्ग ने काव्य पर जो एकाधिपत्य जमा रखा था उसको हटाकर किसी दूसरे वर्ग को भी एकाधिपत्य न दिया जाय। जीवन की सामान्य गति-विधि के अनुसार काव्य में स्थान पाने की जो कोई उपयुक्त

पात्रता रखता हो उसका सम्मान होना चाहिए। प्रतिक्रिया का द्वंद्व यदि काव्य का लक्ष्य बनाया जायगा तो स्थायी काव्य की सृष्टि संभव न होगी और कवियों को कवि की महत् संज्ञा न मिल कर प्रचारक का पद ही प्राप्त हो सकेगा।

जीवन के साधनों की काव्यगत प्रतिष्ठा

मनुष्य-समाज के जो भिन्न-भिन्न अंग हैं उनके अतिरिक्त काव्य में उन उपयोगी साधनों का भी उल्लेख होता आया है जो हमारे बौद्धिक विकास तथा सभ्यता के परिचायक रहे हैं। काव्य में जहाँ राजा को स्थान मिला है वहाँ उसके साथ वीणा, वेणु, रथ, मंदिर, भवन आदि को भी समुचित स्थान प्राप्त हो गया है, किंतु कृषक या श्रमिक को काव्य से अपदस्थ रखने के साथ-साथ उनके ढोल, झोपड़ी, बैल-गाड़ी तथा हँसिया-हथौड़ा को भी अलग रखना पड़ा। जीवन-निर्वाह के इन साधनों में मार्मिकता की कोई कमी नहीं, किंतु काव्य की दृष्टि से इनमें अभी रसात्मकता की न्यूनता मालूम पड़ती है। यदि सामान्य जीवन को काव्य में प्रसंगानुकूल स्थिति प्राप्त हो जाय तो ये साधन भी रसग्राह्य रूप प्राप्त कर ले सकेंगे। प्रत्येक देश का काव्य अपनी भूमि के मौलिक आधार को प्राप्तकर ही रसग्राह्य हो सकता है, हँसिया-हथौड़ा भारतीय कृषक-वर्ग के जीवन-निर्वाह के रूप में प्रधान साधन रहे हैं, किंतु आज प्रगतिशील साहित्यवादियों को इन साधनों को

राष्ट्रीय स्वरूप की रक्षा का महत्त्व

काव्योपयुक्त बनाने की प्रेरणा अपने देश में नहीं मिली, वे इस प्रेरणा केलिए परावलंबी हैं। भारत के नव जागरण ने भी चर्खा-धुनकी को राष्ट्रीयता का प्रतीक घोषित किया, किंतु प्रगतिशीलवादी को किसी दीन कृषक

विधवा के चर्खा कातकर अपने करुणापूर्ण जीवन-निर्वाह के चित्रण की अपेक्षा किसी बड़ी फैक्टरी या मिल में मजदूरों के हथौड़ों से अग्नि के स्फुलिंग निकालने में ही मजा आता है। जीवन के शाश्वत स्वरूप में जो काव्योपयुक्त रमणीयता रहती है वह आज-कल की वैज्ञानिक सभ्यता के कारण उठे हुए रूपों में नहीं। भों-भों करती हुई मोटरकारों के चित्रण की अपेक्षा मंदगति से टिक्-टिक् करती हुई बैलगाड़ियों में ही भारत का स्वरूप देखा जा सकता है। सामान्य लोक-जीवन को काव्य का आधार बनाते समय भारतीय प्रकृति की रक्षा का विचार रखना भी उचित है। यदि स्वाभाविक रूप से जातीय तथा राष्ट्रीय जीवन में परिवर्त्तन या संशोधन करने की इच्छा हो तो प्रभाव भी स्थायी हो सकता और काव्य की मर्यादा भी बनी रह जाती। आज से लगभग बीस वर्ष पहले, क्रांति की पुकार पर एक दिन रूसी साहित्य को भी साम्यवाद की सेवा में, अपने समस्त वैभव के साथ, उपस्थित होना पड़ा था, किंतु इसका परिणाम, साम्यवाद के देशगत प्रचार की दृष्टि से, कुछ लाभप्रद भले ही हुआ हो, जगत् को इस अवधि के भीतर उसने कोई स्थायी साहित्य प्रदान नहीं किया। वैयक्तिक या सामाजिक जीवन की प्रत्येक अव्यवस्था का उपचार काव्य-द्वारा नहीं किया जा सकता। जीवन में जो कुछ चिरंतन है, जो कुछ स्थायी है, उसके निर्वाह में काव्य का उपयोग उपयुक्त होता है। रूढ़ि-ग्रस्तता या सामाजिक अव्यवस्था को दूर करने केलिए सामयिक साहित्य का उपयोग किया जा सकता है। स्वस्थ जीवन की प्रकृति स्थायी साहित्य के अनुकूल होती है। इस प्रसंग में यह न भूलना

स्थायी तथा सामयिक साहित्य का उपयोग

चाहिए कि प्रकृतिस्थ जीवन में रोग के कीटाणुओं की तरह ईर्ष्या-द्वेष, छल-प्रपंच, मद-मोह आदि के जो अनीतिमूलक भाव रहते हैं वे वर्जनीय होने पर भी चिरंतन जीवन के सत्य हैं। इन स्थायी कीटाणुओं के परिहार की चेष्टा स्थायी साहित्य-द्वारा होती रही है। जीवन में प्रतिक्षण क्रांति होती रहती है, किंतु जो क्रांति किसी विशेष कारण से, जीवन के किसी विशेष काल में होती है उसका अभीष्ट-साधन सामयिक साहित्य के द्वारा ही समुचित है, उसके लिए स्थायी साहित्य को व्यर्थ घसीटकर उसकी मर्यादा नष्ट करने की आवश्यकता नहीं।

दसवाँ अध्याय

अंतर्दर्शन

जीवन और काव्य की तात्त्विक समीक्षा के बाद उसका विनियोग भी आवश्यक है। कवि का आत्मभाव यदि उसके काव्य में सचाई के साथ अभिव्यक्त हुआ है तो उसके काव्य में जीवन का आभास पाया जा सकता है। काव्य के अंतर्वृत्ति-मूलक विश्लेषण से कवि के अंतःकरण का पता चलता है, उसका हेतु और मनोभाव, लालसा और वासना, सबकी झलक मिल जाती है। इसके अभाव में हम उसके अभिप्राय को अच्छी तरह नहीं समझ सकते, उसके उद्देश्य के संबंध में कोई परिचय प्राप्त नहीं कर सकते। जीवन की कितनी ही वृत्तियाँ ऐसी हैं जो अर्द्धचेनावस्था में निस्सृत होती हैं और कवि की स्पष्ट चेतना से भी अलग रहकर उसकी प्रवृत्ति तथा कल्पना पर प्रभाव डालने की चेष्टा करती हैं।

प्रस्तावना

मानव जीवन एक गूढ़ विषय है, अतः उसके संबंध में कोई भी निर्णय सर्वथा विवाद-रहित नहीं माना जा सकता। काव्य में जिस सीमा तक कवि का आत्मभाव प्रकट हुआ रहता है, वस्तुतः समीक्षा का विषय जीवन का उतना ही अंश माना जाना चाहिए। उससे अधिक की जिज्ञासा-मात्र हो सकती है, उसका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। 'कृतं लोकं पुरुषोऽभिजायते'—अपने बनाये हुए संसार में ही पुरुष उत्पन्न होता है। कवि भी, यदि वह वस्तुतः कवि ही है तो अपनी काव्य-कला से पृथक् उसकी सत्ता नहीं मानी जा सकती। किसी भी व्यक्ति का शील और चरित्र उसके विचार तथा कर्म से भिन्न नहीं होता। ऐसी स्थिति में काव्य के रूप में कवि अपनी जैसी भावना व्यक्त करता है उसी के अनुरूप उसके जीवन का दृष्टिकोण मानना पड़ेगा। किंतु, इसके साथ ही यह भी सत्य है कि प्रत्येक कवि जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में कवि ही नहीं रहता। इसी कारण काव्य-कला की अंतर्भूमि पर प्रतिष्ठित जीवन कवि के सारे जीवन को अच्छी तरह आलोकित नहीं कर सकती। उसके किसी अंश का परिचय प्राप्त कर ही विवेचन किया जा सकता है। इस अध्याय में अंतर्दर्शन के रूप में हिंदी के कुछ आधुनिक कवियों की समीक्षा, बहुत ही संक्षेप में, की गई है। कवियों की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों को, जो उनकी रचनाओं में अपेक्षाकृत प्रधान हैं, दिखलाने का प्रयत्न-मात्र किया गया है। इस प्रयत्न में किसी पूर्वाग्रह की प्रेरणा नहीं है। कवियों ने अपनी प्रतिभा तथा कौशल से समीक्षक की सहानुभूति को जिस सीमा तक अर्जित किया है उसी का स्पष्टीकरण है।

मैथिलीशरण गुप्त

मैथिलीशरण गुप्त स्वभावतः प्रबंध-काव्य के कवि हैं। गीति-काव्य केलिए जिस आत्म-साधना तथा स्वानुभूति की अपेक्षा होती है उसका अभाव तो उनमें नहीं माना जा सकता, किंतु उनकी प्रकृति में लोकपक्ष को जो स्थान प्राप्त है वह व्यक्ति को नहीं। मैथिलीशरण गुप्त एक वैष्णव कवि हैं, किंतु महात्मा गांधी की तरह उदार वैष्णव नहीं। उनके कवि में वैष्णव की सांप्रदायिक संकीर्णता बनी हुई है और इसका प्रभाव भी उनकी रचनाओं पर अत्यधिक पड़ा है। वे एक धर्म-प्राण जातीय कवि हैं, राष्ट्रीय कवि की विशालता का समावेश अबतक उनके कवित्व में नहीं हो पाया है। भारत-भारती से लेकर साकेत, यशोधरा, गुरुकुल, हिंदू आदि मुख्य-मुख्य काव्य-ग्रंथों में उनके हिंदुत्व की अंतर्चेतना ही जगी है। मौलाना अलताफ हुसैन हाली के मुसद्दसों ने ही उन्हें भारत-भारती लिखने की प्रेरणा दी। इसी कारण हाली की नजर जिस हद तक पहुँची थी उससे अधिक वे अपनी दृष्टि का भी विस्तार नहीं कर सके। हाली ने अपना विषय मुस्लिम समाज तक ही सीमित रखा, फिर वे भी हिंदू-समाज की परिधि से बाहर जाने की उदारता न दिखा सके। अपनी सीमा में रहकर हिंदू-राष्ट्र को उन्होंने जीवन की जो स्फूर्त्ति दी, अपने भिन्न-भिन्न प्रबंध-काव्यों के द्वारा हिंदू-जीवन के जो रसात्मक स्वरूप उपस्थित किए वे अपने क्षेत्र में अतुलनीय हैं। हिंदुत्व की गरिमा ने भारतवर्ष की अन्येतर जातियों के प्रति उनके हृदय में कुछ कवित्व शेष न रखा। उनकी समस्त रचनाओं में कुछ सौ-पचास पंक्तियाँ ही

ऐसी निकाली जा सकती हैं जिनके द्वारा वे उदार राष्ट्रीयता की झांकी ले सके हैं।

मैथिलीशरण गुप्त में एक विशेषता है। युगधर्म के अनुकूल वे एक ग्रहणशील प्रकृति के कवि हैं। वह एक युग था जब राष्ट्रीय नव जागरण में अद्भुत विद्युत्-संचार कर योग देनेवाली भारत-भारती में भी ब्रिटिश राज्य का अभिनंदन था और उसके बाद भी अन्वय-व्यतिरेक से उसकी प्रशंसा चलती रही। अब एक दूसरा समय आया है। राष्ट्र ने अपने जीवन के पिछले अध्याय को पलट दिया और कवि ने भी अपने जीवन को राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखना शुरू किया। गांधी-संपर्क ने कवि के जीवन में जो परिवर्तन उपस्थित किया उसकी ध्वनि उनकी रचनाओं में सुनाई पड़ने लगी है, किंतु उस ध्वनि में अभिव्यक्ति की स्वच्छंदता पूरी तरह नहीं आ पाई है। राष्ट्रीय कवि के उपयुक्त भावना का विकास शायद उनकी प्रकृति के कुछ अन्यथा-सा मालूम पड़ता है। उनके राष्ट्रीय दृष्टिकोण में अभी विस्तार का अवकाश है। हिंदुत्व की अंतर्ज्योति को निष्कंप रखते हुए राष्ट्रीयता के नाम पर भावना-सूत्र को बढ़ा ले चलने की प्रवृत्ति उनमें आने लगी है, पर अभी प्राचीन वैष्णव संस्कार तथा नवीन गांधी-संपर्क के बीच उनकी जीवन-प्रकृति द्वंद्व ही कर रही है।

मैंने ऊपर संकेत किया कि मैथिलीशरण पुरातन वैष्णव संस्कार के पोषक हैं और साथ ही युगधर्म के अनुसार ग्रहणशील प्रकृति भी रखते हैं। उन्होंने नवीन काव्य-प्रणाली का स्वागत किया और उसमें अपना सहयोग भी दिया लेकिन यह सब इसलिए नहीं कि उनमें युगधर्म के पोषण या उसको अपने साथ ले चलने की मौलिक

प्रवृत्ति है, प्रत्युत् यह उनकी समन्वयशील प्रकृति की स्थिति-पालकता है। रहस्यवाद की नवीन धारा ने भी उनको कुछ दूर तक प्रभावित किया, पर उनकी सगुणोपासना की भावना ने शायद उस परम तत्त्व में किसी रहस्य को नहीं देखा। आत्म-प्रवंचना की उस सीमा तक वे नहीं पहुँचे जहाँ अभी बहुत से तथाकथित रहस्यवादी कवि पहुँचे हुए हैं। वे वस्तुतः व्यक्ति-साधना के कवि नहीं, लोक-साधना के कवि हैं। और ऐसे कवि किसी भी साहित्य को बड़े ही सौभाग्य से प्राप्त होते हैं। व्यक्त जीवन में व्यक्त सौंदर्य को देखने की प्रवृत्ति उनमें इतनी स्वाभाविक है कि रहस्यवाद तथा गीति-काव्य से अधिक अपने प्रबंध-काव्यों में ही वे अपना आत्म-निरूपण कर सके हैं।

किसी ऐसे पात्र के संबंध में जिसकी धारणा जन-समाज में पहले से स्थिर रही है, कवि की स्वतंत्रता बहुत कुछ छिन जाती है। मेघनाद बध में मधुसूदन दत्त ने लक्ष्मण के प्रति संचित हमारी दृढ़ सहानुभूति को छीनकर मेघनाद को देने की चेष्टा की, पर इस कार्य में वे सर्वथा सफल न हो सके। उर्मिला के चरित्र के संबंध में रामायणकार ने जिस 'मौन' का अवलंबन किया उसका चाहे जो अर्थ हो, किंतु इतना तो स्पष्ट है कि सर्वांगपूर्ण उर्मिला शायद रामायण की प्रधान नायिका के त्याग, तेज, सतीत्व तथा कष्ट-सहिष्णुता से उत्पादित हृदय के भाव में ज्यादे हिस्सा बँटा लेती। उर्मिला को काव्य की उपेक्षिता समझकर उन्होंने उसकी अपेक्षा करनी चाही, लेकिन उनके इस प्रयत्न में जितनी भावुकता थी उतना संयम नहीं। उपेक्षिता उर्मिला की आँखों की राह कवि ने अपने हृदय की सारी सहानुभूति को बहा दिया, परंतु उसको वे लोक-

कल्याणी न बना सके। इसमें कवि की अनिच्छा और असमर्थता दोनों है। राम और सीता के प्रति कवि के हृदय में जो पूजा-भाव है वह इतना कुछ गंभीर है कि उसकी रक्षा केलिए उन्हें पक्षपात करते ही बना है १। उर्मिला और लक्ष्मण के चरित्र का सार-सर्वस्व सीता और राम ने खींच लिया है। कवि ने अपनी निरपेक्ष प्रकृति का परिचय न देकर उर्मिला के प्रति अपनी संचित भाव-संपत्ति को नष्ट कर दिया। जिस भावना ने उनको काव्य-प्रेरणा दी उसने अंत तक उनका साथ न दिया। इसी कारण कवि ने साकेत में उर्मिला को प्रधान स्थान देने की भावुकता तो दिखाई, किंतु उसके महत्त्व की प्रतिष्ठा वे न कर सके। रामायणकार ने रामायण की जो रूपरेखा रखी और उसके भीतर उर्मिला को जितना स्थान दिया उससे अधिक मैथिलीशरण गुप्त भी उसे न दे सके। रामायण के मौन को उन्होंने अपने साकेत में व्यक्त करना चाहा, किंतु उस मौन में जो अर्थगर्भित तथा मार्मिक भाव-संकेत था वह विदग्ध विलाप से भरी साकेत की सैकड़ों पंक्तियाँ अभिव्यक्त न कर सकीं। साकेत की उर्मिला जीती है, पर जीवन केलिए नहीं, विलाप केलिए। उनके हृदय में उर्मिला के महत्त्व

१ इस अभियोग को स्वयं मैथिलीशरण गुप्त ने महात्मा गांधी को लिखे गए अपने एक पत्र में स्वीकृत भी किया है—"सख्य भाव की उपासना में दीक्षित होते हुए भी मानस के राम के समीप मुझे बहुत सावधान रहना पड़ता है। उनकी मित्रता मानो राजा की मित्रता है जो हाथी पर चढ़ाते-चढ़ाते शूली पर भी चढ़ा सकती है। इसलिए मुझे उनसे डर लगा रहता है। वह अभ्यस्त भय साकेत में भी नहीं छूटा और मुझे उन्हें प्रभु कहते ही बना है।"

केलिए नहीं, केवल उसकी करुणा केलिए स्थान है। पाठक या श्रोता भी उर्मिला केलिए करुणाजन्य सहानुभूति के अतिरिक्त कुछ और प्रदर्शित नहीं कर सकते।

उर्मिला की तरह यशोधरा की विरह-वेदना ने भी कवि के मर्म को व्यथित किया है, किंतु उसकी अंतर्वेदना को भी लोकपक्ष में परिव्याप्त कराने में वे पूरे समर्थ नहीं हो सके। व्यक्तिगत जीवन के वेदना-दुख से ऊपर लोक-कल्याण में प्रवृत्त होने पर उर्मिला तथा यशोधरा के विषाद का जो महत्त्व होता वह नहीं हो सका। उर्मिला के विषाद का मूल्य केवल लक्ष्मण ही आँकें, यशोधरा के आँसू केवल गौतम बुद्ध के उपलक्ष्य से ही निस्सृत हों, यह सत्य और स्वाभाविक तो है, पर केवल इतना ही होने से उनका विषाद लोक-दृष्टि में वंदनीय नहीं माना जा सकता। किसी-किसी स्थल पर जहाँ यशोधरा ने अपनी वेदना की सीमा से बाहर आकर अपनी दृष्टि का विस्तार किया है वहाँ उसके महत्त्व की प्रतिष्ठा हुई है।

जायँ, सिद्धि पावें वे सुख से,
दुखी न हों इस जन के दुख से,
उपालंभ दूँ मैं किस मुख से!
आज अधिक वे भाते!
सखि वे मुझसे कहकर जाते।

यशोधरा को पति-वियोग का विषाद तो है, किंतु इस विषाद को वह सह्य बना लेती यदि गौतम चुपके से न जाकर यशोधरा को जगाकर और उससे अनुमति लेकर जाते। इससे उस परित्यक्ता गृहिणी को संतोष होता और अपने पति को जन-कल्याण के मार्ग की खोज केलिए विदा करने का गौरव भी प्राप्त होता।

मिला न हा ! इतना भी योग,
मैं हँस लेती तुझे वियोग।
देती उन्हें विदा मैं गाकर,
भार झेलती गौरव पाकर।
पहुंचाती मैं उन्हें सजाकर,
गये स्वयं वे मुझे लजाकर।

यशोधरा ने अपनी पति-परायणता तथा त्याग का सर्वोच्च महत्त्व पुत्र राहुल को बुद्ध की सेवा में समर्पित कर दिखा दिया है। इस दान ने उसकी सारी नारी-सुलभ निर्बलताओं को दबा दिया है।

मानवता दुर्बलताओं से ही बनी होती है। किंतु उर्मिला को केवल एक साधारण मानवी के रूप में ही दिखाने केलिए साकेत जैसे काव्य के विराट् आयोजन की आवश्यकता न थी। उर्मिला के आसुओं की बहुलता ने उसकी दुर्बलता को बहुत अधिक स्पष्ट किया है, परंतु कवि ने उर्मिला के विषाद को कहीं-कहीं अभिनंदनीय भी बनाया है। एक बार वियोगिनी उर्मिला को भ्रम हुआ कि उसके वीरव्रती पति लक्ष्मण आराध्य राम-सीता को बन में छोड़ कर साकेत चले आए हैं। उस समय उर्मिला कहती है—

च्युत हुए अहो ! नाथ, जो यथा,
धिक ! वृथा हुई उर्मिला-व्यथा।
समय है अभी, हा ! फिरो, फिरो,
तुम न यों यशः स्वर्ग से गिरो।
प्रभु दयालु हैं, लौट के मिलो,
न उनके कुटी-द्वार से हिलो।

उर्मिला के इस उद्गार ने उसके विषाद को त्यागमय बना दिया है। वह लक्ष्मण से इतना ही कहती है—

तुम व्रती रहो,
मैं सती रहूँ।

खड़ीबोली की इतिवृत्तात्मक कविता को अंग्रेजी तथा बंगला के ढंग पर अंतर्भावव्यंजक बनाकर मैथिलीशरण गुप्त ने उसमें लाक्षणिक वैचित्र्य, व्यंजक चित्र-विन्यास तथा आध्यात्मिकता का पुट देने का काफी प्रयत्न किया है। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप उन्होंने कितनी ही गीतिकाव्य के अनुरूप मुक्तक रचनाएँ भी कीं। ऐसी रचनाएँ उनकी प्रवृत्ति-विशेष के निदर्शन केलिए ही ली जा सकती हैं।

निकल रही है उर से आह!
ताक रहे सब तेरी राह।
चातक खड़ा चोंच खोले है, संपुट खोले सीप खड़ी।
मैं अपना घट लिए खड़ा हूँ, अपनी-अपनी हमें पड़ी।

× × ×

"तुम्हारी वीणा है अनमोल।
हे विराट! जिसके दो तूँबे
हैं भूगोल खगोल।
इसे बजाते हो तुम जब लौं,
नाचेंगे हम सब भी तब लौं,
चलने दो न कहो कुछ कब लौं।
यह क्रीड़ा कल्लोल।
तुम्हारी वीणा है अनमोल।"

मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी इस प्रवृत्ति का निर्वाह तथा प्रसार, केवल मुक्तक रचनाओं तक ही सीमित न रखकर प्रबंध-काव्यों को भी उससे समन्वित किया है। इसका परिणाम यह

हुआ कि उनके प्रबंध-काव्यों में प्रबंध-विधान की शिथिलता तो स्थान-स्थान पर बनी रही, पर गीति-रूप अभिव्यक्तियों में काव्यत्व चमक उठा है।

वेदने ! तू भी भली बनी ।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी ।
अरी वियोग-समाधि अनोखी, तू क्या ठीक ठनी ।
अपने को, प्रिय को जगती को देखूँ खिंची तनी ।

× × ×

'स्वजनि, रोता है मेरा गान ।
प्रिय तक नहीं पहुँच पाती है उसकी कोई तान ।'

ऐसी उक्तियाँ कवि की सर्वथा सामान्य प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं मानी जा सकतीं। प्रबंध के प्रसंग-सूत्र में रहती हुई भी ऐसी उक्तियाँ अपना स्वतंत्र महत्त्व रखती और कवि के रहस्यवादी युगधर्म के निर्वाह का समर्थन करती हैं। मैथिलीशरण गुप्त हरिऔध की भाँति न पूर्वाभिमुख हैं और न पंत की तरह पश्चिमाभिमुख। वे हिंदी काव्य की अनेक प्रवृत्तियों के मध्य की समन्वय-मूर्त्ति तथा हिंदी पाठकों में सर्वाधिक्य लोकप्रिय कवि हैं।

माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीयआत्मा'

माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा' हिंदी के रहस्योन्मुख राष्ट्रीयतावादी एक कर्मठ कवि हैं। उनकी अनुभूति गहन है, कल्पना विशद है, किंतु उन्हें अभिव्यक्ति की कला नहीं। अभिव्यक्ति कला का अंतिम रूप है और इस रूप की रक्षा केलिए अभिव्यक्ति को मूल अनुभूति के साथ सामंजस्य रखना पड़ता है। भारतीय आत्मा की प्रकृति काफी संवेदनशील होने पर भी अपनी अभिव्यक्ति में जटिल है। उनकी साधारण-से-साधारण उक्तियाँ भी किसी रूपक के आवरण में व्यक्त होती हैं। उनकी प्रकृति में वृत्तियों की एक निष्ठा है और इसी कारण उनकी अनुभूतियों में परिस्थिति-गत कुछ विलक्षणता के अतिरिक्त अन्यथा व्यतिक्रम नहीं मिलता।

भारतीय आत्मा की काव्य-प्रकृति में ऐंद्रिक उत्तेजन पर्याप्त है और इसी कारण उनकी मार्मिकता में शक्ति का समन्वय हो जाता है। उनकी अधिकांश रचनाओं में राष्ट्र-प्रेम का ही तत्त्व पाया जाता है, किंतु अपनी राष्ट्र-विषयक अनुभूति को व्यक्त करने केलिए जिस प्रासादिकता तथा सरलता की आवश्यकता होती है वह दुर्भाग्यवश उनको प्राप्त नहीं। माखनलाल चतुर्वेदी के जीवन के क्रियात्मक पक्ष पर दृष्टि रखने से उनकी रचनाओं को उनके व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि का सबल आधार मिलता है। उनकी वाणी में शक्ति और सजीवता मालूम पड़ती है। इतना होने के साथ ही यदि उनकी वाणी अभिव्यक्ति का कोई दूसरा रूप ग्रहण करती तो उनकी रचनाओं को महत्तर प्रतिष्ठा प्राप्त होती। उनके व्यक्तित्व के संबंध से जिस शक्ति का उदय होता है उसके कारण उनकी

अभिव्यक्ति के दोष प्रत्यक्षतः कुछ ढँक-से जाते हैं।

भारतीय आत्मा ने रहस्यवाद के ढंग की कुछ रचनाएँ की हैं। वे प्रायः प्रणय-मूलक ही हैं। रहस्यवाद की परिपाटी के अनुसार उनके आराध्य इस जगत् के नहीं, बाहर के हैं, किंतु ऐसे आराध्य अधिकतर कल्पना-क्षेत्र में ही रहते आए हैं। अपने आराध्य के प्रति कवि ने हृदय की जिस गंभीरता का परिचय दिया है उससे पता चलता है कि उनका आराध्य लोकोत्तर नहीं, हृदय के निकट का ही और लौकिक है। जो अपनी प्रकृति से अधिक भावुक तथा मार्मिक होते हैं वे अपनी मानसिक वृत्तियों को किसी दूर के केंद्र-विंदु के साथ उलझा नहीं सकते। भारतीय आत्मा अपनी सारी संभावनाओं के साथ रहस्यवाद की सीमा के भीतर नहीं अँट सके, उन्हें उससे बाहर आना पड़ा। राष्ट्र के रमणीय स्वरूप ने उनके चिंतन तथा कल्पना की रचनात्मक प्रवृत्ति को प्रेरित कर उनके आराध्य को ऊपर से नीचे उतार लिया और वह आराध्य सूक्ष्म से दृश्य जगत् में आ गया।

भारतीय आत्मा की राष्ट्रीयता सीमित है जैसा कि वह होती भी है, किंतु उनकी राष्ट्रीय कविताओं में भावनाएँ गहन हैं। कहीं कहीं राष्ट्रीय स्वरूप के साथ आध्यात्म-बोध का समन्वय कर देने से उनकी रचनाएँ अपनी अर्थ-भूमि को स्थिर नहीं रख सकी हैं। उनमें नवोत्थित काव्य-पद्धति का मूलभूत प्रतिक्रिया-स्वरूप वैचित्र्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति तो नहीं पाई जाती, लेकिन अपनी अभिव्यक्ति को सामान्य अनुभूति के स्तर से ऊपर उठाकर दूरारूढ़ भावना के साथ वे साम्य स्थापित करने की चेष्टा करते पाए जाते हैं। इस कारण जहाँ-तहाँ उनकी रचनाओं की अन्वीति-रक्षा नहीं हो

पाती। अनुभूति से प्रेरित जो उक्तियाँ खड़ी होती हैं वे प्रकाशित होते-होते अस्फुट ही रह जाती हैं। अपनी अनुभूति की व्यंजना को गूढ़ बनाने केलिए आध्यात्मिक उपलक्षणों के प्रयोग की प्रवृत्ति उनमें पाई जाती है। कवि का हृदय स्वभावतः सरल तथा सरस है, परंतु रहस्योन्मुख प्रवृत्ति के कारण उनकी अभिव्यक्ति जटिल हो जाती है। रहस्य भावना को ही काव्य का प्रधान विषय मान लेने का यह परिणाम हुआ कि काव्य का तत्त्व स्वाभाविक भावनाओं में केंद्रित न रहकर कल्पित भावनाओं से पोषित होने लगा। भारतीय आत्मा में देश-भक्ति का तत्त्व जितना स्वाभाविक है उतना ही आध्यात्मिक तत्त्व भी, लेकिन दोनों के समन्वय ने उनकी अभिव्यक्तियों को आवश्यकता से अधिक दुर्बोध कर दिया है। रहस्यवाद के अंतर्गत आनेवाली रचनाओं में कवि ने प्रतीक पद्धति के अनुसार वाचक के स्थान पर लक्षक पदों का प्रयोग कर अन्योक्ति का अवलंबन लिया है और इस प्रकार अप्रस्तुत कथन के द्वारा देश-भक्ति की सहज मार्मिकता तथा भावुकता को दुरूहता के हाथों समर्पित कर दिया है।

सामान्य रूप से कविता-मात्र जनता के मर्म को स्पर्श करने वाली होती है, परंतु लोक-हृदय के विचार से राष्ट्रीय कविताओं का दायित्व उससे भी अधिक है। जनमत को अपनी ओर अभिमुख करने केलिए साधारणतः दो ही उपाय काम में लाए जा सकते हैं—बल और प्रतीति। बल-प्रयोग के द्वारा जनमत को अनुकूल बनाना राज-विधान के अंतर्गत माना जा सकता है, पर प्रतीति के पथ से लोक-हृदय को अपनी ओर आकर्षित करना कवि का कर्म है। राज-नियम शरीर की चेष्टा पर प्रतिबंध लगा

सकता है, किंतु कवि अपनी प्रतीति-पद्धति के अनुसार शरीर-चेष्टा के मूल में रहनेवाली अंतर्प्रेरणा को ही विमुग्ध अनुकूल कर लेता है। राष्ट्रीय कविताओं का मूल राष्ट्रीय भावनाएँ हैं। अभिव्यक्ति के बहुत-से दोष भावनाओं की गंभीरता में डूब-से जाते हैं। काव्यत्व से हीन राष्ट्रीय रचनाओं ने भी जनता के हृदय पर प्रतिष्ठा पाई है। आज से २०-२५ वर्ष पहले 'भारत-भारती' ने राष्ट्रीय जगत् में जो जागृति उत्पन्न की वह अतुलनीय है, किंतु काव्यत्व की कसौटी पर 'भारत-भारती' नहीं उतरती। झंडा-गान ने भी राष्ट्र-कर्मियों के हृदय में अपूर्व उत्साह की सृष्टि की है, पर राग या स्वर के बल पर उस गान को भले ही दीर्घायु प्राप्त हो जाय, हीन काव्यत्व या च्युत-पद-विन्यास उसे स्थायी काव्य-साहित्य में स्थान न पाने देगा। जन-हृदय को जाग्रत् तथा सशक्त तथा अनुप्रेरित करना ही राष्ट्रीय कविताओं का लक्ष्य है। यदि कवि के हृदय में अनुभूति की सचाई है, मनोवेग स्वाभाविक है तो छंद-शास्त्र के उलटे-सीधे नियम उसे अपने लक्ष्य तक पहुँचने में बाधा नहीं दे सकते। मार्मिक राष्ट्रीयता-परक कविताएँ समीक्षक की मनोदशा को भी गुण-दोष के विवेक से हटाकर श्रद्धोत्कर्ष की स्थिति में ले आती हैं। यही प्रतीति की पद्धति है। भारतीय आत्मा की राष्ट्रीय कविताएँ इतनी गंभीर तथा जटिल हैं कि उनकी प्रतीति तो दूर रही, बोध भी एक समस्या है। यदि प्रतीति की सरल तथा सरस पद्धति पर वे रचनाएँ करते तो उन्हें अधिक हृदयग्राह्य बना सकते। केवल किसी प्रकार बोधगम्य हो जाने पर ही कविताओं की सार्थकता नहीं मानी जा सकती।

ज़ीवन के आनंद, प्रेम, विलास आदि पक्षों की ओर भी कवि

अनुप्राणित-से दिखाई पड़ते हैं, किंतु प्रकृति की सरल गंभीरता ने इस प्रवृत्ति को दबा दिया है। जहाँ उन्होंने अपनी प्रवृत्ति की रक्षा की है वहाँ रचनाओं में स्वाद आ गया है, पर जहाँ उन्होंने अपनी लौकिक प्रणयानुभूति या वेदना को सांत के क्षेत्र से बाहर निकाल कर अनंत को अर्पित किया है वहाँ वे एक गहन कवि हैं।

आह ! गा उठे, हेमांचल पर तेरी हुई पुकार—
बनने दे तेरी कराह को परसों की हुंकार।
और जवानी को चढ़ने दे बलि के मीठे द्वार,
सागर के धुलते चरणों से उठे प्रश्न इस बार—
अंतस्तल से अतल-वितल को क्यों न बेध जाते हो ?
अजी वेदना-गीत, गगन को क्यों न छेद जाते हो ?

कवि की प्रेरणा प्रकृतिगत है, भाव स्वाभाविक है, किंतु हृदय के परिचित तथा ज्ञात पक्ष को अपरिचित तथा अज्ञात की ओर निर्दिष्ट कर देने से उसकी वेदना का घनत्व कम हो गया है। गगन को छेदने की शक्ति उसमें भले ही आ गई हो, पर उसमें हृदय को छेदने की क्षमता नहीं दिखाई पड़ती। अप्रस्तुत-विधान या रूपक की प्रवृत्ति ने किसी मार्मिक दृश्य-विधान को भी, हृदय से कुछ दूर रखकर ही उपस्थित किया है। कवि का एक मित्र कारावास से मुक्त हो गया है और उसकी प्रेरणा तथा स्वागत में कवि की पंक्तियाँ हैं—

तुम बढ़ते ही चले, मृदुलतर जीवन की घड़ियाँ भूले,
काठ छेदने चले, सहस-दल की नव पंखड़ियाँ भूले।
मंद पवन संदेश दे रहा, हृदय-कली पथ हेर रही;
उड़ो मधुप, नंदन की दिशि में, ज्वालाएँ घर घेर रहीं;

'तरुण तपस्वी' आ, तेरा कुटिया में नव-स्वागत होगा;
देवी ! तेरे चरणों पर फिर मेरा मस्तक नत होगा।

भारतीय आत्मा ने प्रेम को ही काव्य का प्रेरक तत्त्व माना है। लौकिक प्रेम, उनके 'आँसू' में वियोग से विदग्ध होकर, उच्छ्वसित हुआ है। कवि में प्रकृति को देखने की भावुकता-पूर्ण दृष्टि है, पर रहस्यवादी आवरण के कारण उसका विस्तार नहीं हो सका। 'सतपुड़ा शैल के एक झरने को देखकर' उनकी कल्पना में जिस सौंदर्य की सृष्टि हुई वह ऐसी है—

किस निर्झरिणी के धन हो, पथ भूले हो किस घर का ?
है कौन वेदना बोलो, कारण क्या करुणा-स्वर का ?

प्रेम-साधना के समय हृदय में, प्रेम का प्रबल उद्वेग होने के कारण, वाणी में अपूर्व मार्मिकता आ जाती है। 'कुंज कुटीरे यमुना तीरे', 'आँसू', आदि रचनाएँ अपेक्षाकृत कम दुर्बोध होने के कारण सरस हुई हैं। 'खीझमई मनुहार' में कवि ने अपने प्रेमी को बड़ी उत्कंठा के साथ झाँका, किंतु उनको यह वरदान शाप के मूल्य पर ही प्राप्त हुआ।

किन बिगड़ी घड़ियों में झाँका ?
तुझे झाँकना पाप हुआ,
आग लगे, वरदान निगोड़ा
मुझ पर आकर शाप हुआ !
जाँच हुई, नभ से भूमंडल
तक का व्यापक नाप हुआ;
अगणित बार समाकर भी
छोटा हूँ, यह संताप हुआ।

अरे अशेष ! शेष की गोदी
तेरा बने बिछौना - सा;
आ मेरे आराध्य ! खिला लूँ
मैं भी तुझे खिलौना - सा।

ब्रह्म और जीव—अशेष या शेष के प्रसंग को उपस्थित कर देने के कारण इस कविता का आध्यात्मिक बोध बहुत महत्त्वपूर्ण है, परंतु लौकिकता का संबंध अक्षुण्ण न बना रहने के कारण उसकी रमणीयता का ह्रास तथा अर्थ दुर्बोध हो गया है। 'पुष्प की अभिलाषा' उनकी एक प्रसिद्ध कविता है। उस कविता में भावना तथा कला की दृष्टि से कोई उल्लेखनीय बात नहीं, पर कवि के हृदय में जो अनुभूति की सचाई है वह बड़ी मार्मिकता के साथ व्यक्त हुई है। कवि की कामना है—

चाह नहीं, मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ;
चाह नहीं, प्रेमी-माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ;
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि, डाला जाऊँ;
चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ।
मुझे तोड़ लेना वनमाली! उस पथ में देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।

प्रत्येक कवि की काव्योपयुक्त प्रतिभा अपनी समस्त शक्ति के साथ एक ही समय में विकसित नहीं होती। अधिकांश कवियों के जीवन में यह बात देखी जाती है कि उनकी प्रकृति का अधिकांश पक्ष उनकी काव्य-कला के साथ संबंध नहीं रखती। उनकी प्रकृति अपनी अर्जित शक्ति को किसी दूसरे क्षेत्र में व्यक्त करने केलिए तत्पर रहती है। कुछ समय के बाद जब उनकी

काव्य-प्रेरणा को, जीवन की किसी विशिष्ट परिस्थिति के कारण शक्ति मिलती है तब उनकी सारी प्रकृति काव्य-भावना को ही सबल करती है। ऐसी दशा में उनका काव्य उनके संपूर्ण व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का स्वरूप प्राप्त कर लेता है। भारतीय आत्मा में भावुकता अपार है, और शायद इसी अपार भावुकता के कारण उनकी परिधि कभी-कभी इतनी विस्तीर्ण हो जाती है कि उनके पाठक या श्रोता सहसा उत्तीर्ण नहीं हो सकते। वे कट्टर राष्ट्रवादी हैं और वाणी तथा क्रिया में अपनी सारी प्रकृति का सामंजस्य रखनेवाले हिंदी के गिने हुए कवियों में प्रमुख हैं।

जयशंकर 'प्रसाद'

जयशंकर 'प्रसाद' मानव भावनाओं के एक मार्मिक कवि हैं। जीवन के सुख-दुख, हर्ष-विषाद, आशा-निराशा का बहुत ही सुंदर वर्णन उनकी रचनाओं में मिलता है। काव्य-विधान में नई-नई उद्भावनाओं की शक्ति उनकी अद्भुत है। काव्य-जगत् में प्रसाद ने क्रांति की, किंतु उस क्रांति में तेज नहीं, प्रताप था। प्रसाद में क्रांति के संदेश को सुनाने की प्रेरणा थी, पर उसके संचालन की क्षमता नहीं। क्रांति केलिए जिस भावुकता के प्रसार की आवश्यकता होती है उसके लिए उनकी स्थिर बुद्धि तैयार न थी। वे जीवन को जिस दृष्टिकोण से देखते थे उससे क्रांति की मनः-स्थिति बन भी नहीं सकती थी। अपनी ऐसी मनोदशा से वे संतुष्ट थे, यह कहना भी शायद उनके साथ न्याय न करना होगा। बाह्य जगत् में जीवन-संघर्ष को देखते हुए भी वे आँखें बचाकर अपने मार्ग पर चलते रहे। जहाँ उनमें एक ओर कवि-सुलभ भावुकता थी वहाँ दूसरी ओर दार्शनिक गांभीर्य और संयम भी। यही कारण है कि भावुकता में डूबे रहने पर भी वे उसकी धारा में प्रवाहित न हो सके।

एक स्त्री-हृदय की कितनी प्रेम-संतप्त निराशामयी वाणी है—

आह! वेदना मिली विदाई;
मैंने भ्रमवश जीवन - संचित
मधुकरियों की भीख लुटाई।
छल-छल थे संध्या के श्रमकण
आँसू - से गिरते थे प्रतिक्षण
मेरी यात्रा पर लेती थी—
नीरवता अनंत अँगड़ाई।

अमित स्वप्न की मधुमाया में
गहन विपिन की तरु छाया में
पथिक, उनींदी श्रुति में किसने
यह विहाग की तान उठाई ?
लगी सतृष्ण दीठ थी सबकी
रही बचाये फिरती कब की
मेरी आशा आह ! बावली
तूने खो दी सकल कमाई।
चढ़कर मेरे जीवन-रथ में
प्रलय चल रहा अपने पथ में,
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर—
उससे हारी होड़ लगाई।

एक निराश नारी-हृदय की यह जीवन-यात्रा है। हृदय में प्रेम की जो आशा थी, जीवन-भर मधुकरियों की जो भीख एकत्र की थी वह सब आशा की प्रवंचना से लुट गया ! जहाँ से उसे सब कुछ मिलने की आशा थी वहाँ विदाई में उसे वेदना ही मिली। इस करुणा-प्लावित चित्र में प्रसाद ने, अपनी प्रवृत्ति के अनुसार ही, दार्शनिकता का रंग भी चढ़ा दिया है। थके हुए स्वप्नों की मधुर माया के बीच गहन विपिन में किसी पथिक ने विहाग की तान तो छेड़ी ही, जीवन-यात्रा में प्रलय के साथ होड़ लगाकर प्रसाद ने मानवीय आकांक्षा को अपने स्थान पर ही रखा।

जीवन के विषाद पर ये भी कितनी मार्मिक पंक्तियाँ हैं—

निर्झर कौन बहुत बल खाकर
बिलखाता ठुकराता फिरता,

खोज रहा है स्थान धरा में
अपने ही चरणों में गिरता।
किसी हृदय का यह विषाद है,
छेड़ो मत यह सुख का कण है;
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ,
करुणा का यह थका चरण है।

प्रसाद का 'आँसू' विरह या उसकी स्मृति का एक बहुत ही मार्मिक गीति-काव्य है। आँसू की मार्मिकता तक हृदय को पहुँचाने में एक लंबी यात्रा करनी पड़ती है। इसका कारण यह है कि प्रसाद ने विरह के आलंबन को इस जगत् का प्रत्यक्ष आधार नहीं दिया। पृथ्वी से आकाश, नीचे से ऊपर तक, अणु-परमाणु में, ग्रह-नक्षत्र में, सर्वत्र आलंबन की सत्ता को मिला दिया है। ज्ञात को अज्ञात बनाने या कम-से-कम उसे बहुत दूर तक उड़ा ले जाने की कल्पना अवश्य की गई है। अज्ञात के साथ हृदय-संबंध स्थापित करना केवल कठिन ही नहीं, अस्वाभाविक भी है। ज्ञात के विरह में जो मार्मिकता लक्षित हो सकती है वह अज्ञात में नहीं। आँसू में विरह का जो वर्णन जीवन के जितना ही निकट है वह उतना ही मार्मिक हुआ है और जो सामान्य हृदय की पहुँच के बाहर जा पड़ा उससे आध्यात्मिक स्वाद भले ही मिले, हृदय को समतल पर चलकर भावों का सार समन्वय नहीं मिल सका है। आँसू की रचना भी मानसिक उद्वेग की अवस्था में हुई जान नहीं पड़ती। उद्वेग-काल में मनुष्य की भावनाएँ इतनी गहन तथा दूरारूढ़ नहीं हुआ करतीं। जब चित्त पर से वेदना का भार हल्का हो जाता है, केवल उसकी स्मृति बनी रहती है तब उस वेदना की

विवृत्ति में जीवन के सुखमय क्षण की झाँकी भी मिल जाती है। ऐसी स्थिति में लोक से परलोक तक की हृदय-यात्रा कराने में थोड़ी सफलता मिल सकती है। जीवन को काव्य में समाविष्ट करने की यही अवस्था है।

मानव जीवन - वेदी पर
परिणय है विरह - मिलन का,
सुख - दुख दोनों नाचेंगे,
है खेल आँख का, मन का।
× × ×
चेतना - लहर न उठेगी,
जीवन - समुद्र थिर होगा;
संध्या हो सर्ग प्रलय की,
विच्छेद मिलन फिर होगा।

जीवन के सुख-दुख, मिलन-विरह पर दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार करना, मानव हृदय की परवशता है।

यौवन, प्रेम, चुंबन, परिरंभण आदि विलास-पक्ष की ओर भी प्रसाद की दृष्टि गई है और प्रकृति के क्षेत्र में कलियों की मंद मुसकान, समीर की लपक-झपक, चंद्रमुख पर शरदूघन का अवगुंठन, वसंत की मधुवर्षा, झूमती मादकता, लज्जा की लालिमा आदि के द्वारा अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त किया है। प्रसाद ने प्रकृति के मानव-सापेक्ष्य रूप को ही लिया और हृदय की भावनाओं के अनुसार उसकी गति-विधि का वर्णन किया है। अपनी दार्शनिक प्रवृत्ति के कारण प्रसाद प्रकृति को निरपेक्ष सत्ता नहीं दे सके, किंतु प्रकृति के जिस रूप को उन्होंने वर्ण्य माना

उसकी संगति का निर्वाह किया। उनकी अनुभूति में मनोनिवेश तथा आत्म-संवेदन है। नारी-रूप तथा भाव के वर्णन में प्रसाद ने बड़ी सहृदयता दिखाई है। उनके हृदय में जो प्रणयानुभूति थी उसकी व्यंजना की है, किंतु अपनी प्रकृति से गंभीर, संयत तथा बुद्धिवादी होने के कारण लौकिक भावनाओं को अध्यात्मवाद के आवरण में दूरारूढ़ कर दिया है। यही कारण है कि अपने अंतर्जगत् को अभिव्यक्त करने केलिए उन्होंने, रीति-कालीन कवियों से अन्यथा, पार्थिवता के साथ बहुत कम संबंध रखा। प्रेम-कथा से उनको अनुराग था, पर इस कोलाहल-भरे संसार में नहीं, अनंत तथा सांत के मिलन-स्थल क्षितिज में जहाँ की निर्जनता में, सागर की लहरें आकाश के कानों में निश्छल प्रेम-कथा कहती हो—

ले चल वहाँ भुलावा देकर
मेरे नाविक! धीरे-धीरे
जिस निर्जन में सागर-लहरी
अंबर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।

कामायनी का प्रणयन प्रसाद के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। मानव भावनाओं का यह एक गहन काव्य है। श्रद्धा या रागात्मिका वृत्ति ही मनुष्य को कल्याण-मार्ग से निर्विशेष आनंद-धाम तक पहुँचाती है और इड़ा या व्यावसायित्मका बुद्धि कर्म-जाल में फँसाकर जीवन को अंतिम ध्येय तक पहुँचाने में बाधक होती है। वैदिक आख्यानों के आधार पर मानव संस्कृति के विकास का यह एक रमणीय वृत्त है। शैव मत के आनंद-तत्त्व

पर इस काव्य की आध्यात्मिक प्रतिष्ठा की गई, किंतु इसकी अंतरंग व्याख्या तथा विवरण में कवि ने कोई एक निश्चित मर्यादा नहीं रखी। कामायनी में विराट् कल्पना, अगाध दार्शनिकता तथा सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ हैं। भावनाओं के विवेचन की प्रवृत्ति प्रसाद का एक मुख्य गुण है। चिंता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा आदि में तदनुगत भावनाओं का विशद विश्लेषण किया गया है और घटनाक्रम को अग्रसर होने केलिए बहुत कम गति मिली है, परंतु इसके उत्तरार्द्ध में ईर्ष्या, इड़ा, स्वप्न, संघर्ष आदि में भावना-विकास प्रायः मंद हो गया है और अपेक्षाकृत घटनाक्रम कुछ गतिशील हो चला है। काव्य के अंत में इच्छा, ज्ञान तथा कर्म अर्थात् हृदय, बुद्धि तथा कर्म के सामंजस्य का विधान कर कवि ने मानव-जीवन को एक निश्चित मर्यादा दी है, परंतु अपनी रहस्यात्मक प्रवृत्ति के कारण कामायनी में सर्वत्र लौकिक आधार नहीं रखा जा सका और इसी कारण, आँसू की तरह ही, हम इसमें समन्वित प्रभाव की एकरूपता कहीं-कहीं नहीं पाते। वैदिक भाष्यकार सायण के अनुसार—'कामगोत्रजा श्रद्धा नामर्षिका'—श्रद्धा काम गोत्र की बालिका है और इसीलिए श्रद्धा नाम के साथ उसे कामायनी भी कहा जाता है। कवि ने श्रद्धा के महत्त्व की प्रतिष्ठा के अनुकूल अपने काव्य-ग्रंथ का नामकरण भी 'कामायनी' किया, किंतु इड़ा के योग से जो कर्म-विधान दिखाया वह यदि श्रद्धा के सहयोग से भी दिखाया जाता तो जीवन का सौंदर्य अधिक उद्भासित हो उठता।

श्रद्धा के साथ प्रथम मिलन के समय मनु ने जिस मधु-सिक्त वाणी का गुंजार सुना उसका वर्णन यह है—

'कौन तुम ? संसृति-जलनिधि तीर
तरंगों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक ?
मधुर विश्रांत और एकांत—
जगत का सुलझा हुआ रहस्य,
एक करुणामय सुंदर मौन
और चंचल मन का आलस्य !'
सुना यह मनु ने मधु गुंजार
मधुकरी का - सा जब सानंद,
किये मुख नीचा कमल समान
प्रथम कवि का ज्यों सुंदर छंद;
एक झिटका - सा लगा सहर्ष,
निरखने लगे लुटे - से, कौन—
गा रहा यह सुंदर संगीत ?
कुतूहल रह न सका फिर मौन।

इड़ा के प्रथम दर्शन के समय कवि ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है—

बिखरीं अलकें ज्यों तर्क - जाल
वह विश्व मुकुट-सा उज्ज्वलतम शशिखंड सदृश था स्पष्ट भाल
दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल
गुंजरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान
था एक हाथ में कर्म कलश वसुधा जीवन रस सार लिये
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलंब दिये

त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक वसन छिपटा अराल
चरणों में थी गति भरी ताल।

भारतीय संस्कृति के प्रति ममत्व का भाव प्रसाद की एक विशेषता है। कामायनी की रचना इस भाव के प्रदर्शन का ज्वलंत उदाहरण है, लेकिन इसके पूर्व भी उन्होंने अपने कई नाटक तथा मुक्तक रचनाओं द्वारा भारतीय अतीत की झाँकियाँ ली हैं। अपनी मर्यादा से बाहर जाने पर उन्होंने बुद्धिवाद की विगर्हणा की है और पूंजीवाद से उत्पादित वैज्ञानिक सभ्यता के कारण मानव जीवन में जो विश्रृंखलता-सी आ गई है उसका विरोध किया है। आरंभ से अंत तक प्रसाद भारतीय भावनाओं के एक प्रतिनिधि कवि रहे हैं, परंतु उनके प्रतिनिधित्व का ढंग सर्वत्र कवि के अनुरूप ही नहीं रहा, स्थान-स्थान पर वे स्पष्ट विचारक के रूप में उपस्थित हो गए हैं।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' सिद्धांत के विचार से अद्वैतवादी हैं और ऐसे विषयों का अध्ययन-मनन भी उनका अच्छा है, पर यह रूप उनके विचारक का है। कवि-रूप में निराला इतने कट्टर सैद्धांतिक नहीं ठहरते। ब्रह्म और जीव के विवेचन के समय कविताओं में निराला के प्रायः द्वैत रूप ही दृष्टिगोचर होते हैं, किंतु उनका वास्तविक रूप भी समय-समय पर स्वानुभूतिमूलक रचनाओं तथा अपने काव्यगत पात्रों की ओट में प्रकट हुआ है। ब्रह्म आनंद-स्वरूप है, लेकिन जीव को भी आनंद-स्वरूप बन जाने में जीवन की रसात्मक सार्थकता प्राप्त नहीं हो सकती। पंचवटी-प्रसंग में निराला ने लक्ष्मण के मुख से इस विषय का स्पष्टीकरण कराया है।

> सुधाधर की कला में अंशु यदि बनकर रहूँ
> तो अधिक आनंद है
> अथवा यदि होकर चकोर कुमुद नैश गंध
> पीता रहूँ सुधा इंदु-सिंधु से बरसती हुई
> तो सुख मुझे अधिक होगा ?
> इसमें संदेह नहीं,
> आनंद बन जाना हेय है,
> श्रेयस्कर आनंद पाना है,

वस्तुतः गुड़ बन जाने से ही गुड़ की मिठास नहीं मिल सकती। जीव भी यदि 'अहं ब्रह्मोस्मि' ही रटता रहे तो उसे साधना का सुख प्राप्त नहीं हो सकता। काव्य का जो मूल तत्त्व हृदय की रागात्मक विभूति है उसका सामंजस्य अद्वैतवाद के साथ नहीं

बैठता। अपनी सैद्धांतिक शुष्कता को हटाकर निराला ने हृदय की भावुकता का अपनी रचनाओं में स्थान-स्थान पर परिचय दिया है, किंतु सर्वत्र ऐसी बात नहीं पाई जाती। उनके गीतों में भावानुभूति का क्षेत्र अत्यंत सीमित हो गया है। कहीं-कहीं दार्शनिक तत्त्वों को हृदयग्राह्य रूप देने की चेष्टा बिलकुल नहीं की गई है। पंचवटी-प्रसंग में ही इसके अनेक उदाहरण हैं। जैसे—

> छनो भाई,
> जिस प्रकार व्यष्टि एक धरती है सूक्ष्म रूप
> वैसे ही समष्टि का भी
> सूक्ष्म भाव होता है।
> रहते आकाश में हैं
> प्रकृति के तब सारे बीज।
> और यह भी सत्य है कि,
> प्रकृति के तीनों गुण सम तब हो जाते हैं,

हमारे जीवन के भीतर जो जीवन है, खंड में जो अखंड है उसका वर्णन एक समस्या है। इस समस्या के कारण हमारे अहं-बोध की चेतना वास्तव से अवास्तव की ओर हमें ले चलती है। साधना-विहीन जीवन में वह अवास्तव केवल अवास्तव ही बना रह जाता है, उसकी प्रतीति के द्वारा हमारे हृदय की रागिनी तन्मय नहीं हो पाती। वह एक गूढ़ तथा साध्य विषय की तरह हमारी बोधवृत्ति को चंचल तो कर देता है, पर तृप्त नहीं कर सकता। निराला की कविता में हृदय-योग की अपेक्षा मस्तिष्क-योग का आधिक्य है। बुद्धि-तत्त्व की प्रबलता के कारण ही उनकी कविताओं में विचारों की इतनी सघनता रहती है कि वे प्रायः

दुर्बोध-सी लगती हैं। निराला एक भावुक कवि की अपेक्षा तार्किक विचारक तथा दार्शनिक ही विशेष हैं।

निराला के गीतों में रहस्यात्मक भावनाएँ अपनी प्रधानता रखती हैं, किंतु उनके सब गीत ऐसे ही नहीं। कोई-कोई गीत तो परोक्ष की अपेक्षा प्रत्यक्ष जीवन के साथ ही अधिक संबंध रखने वाले हैं। आध्यात्मिक चिंतन प्रबल रहने के कारण उनके साधारण गीत भी किसी-न-किसी रहस्य-भावना से अनुप्राणित मालूम पड़ते हैं। उनके कुछ गीत प्रार्थना-परक हैं और कुछ केवल तथ्य-निरूपक। गीतों के आलंबन कहीं अमूर्त्त हैं और कहीं मूर्त्त। मूर्त्त रूप में आदिशक्ति माँ के प्रति कवि की पूजा-बुद्धि अधिक जागरित है। 'हुआ प्रात प्रियतम तुम जाओगे', 'तुम्हीं गाती हो अपना गान, व्यर्थ मैं पाता हूँ सम्मान' 'प्रिया के प्रति', 'नयनों में हेर प्रिये' आदि गीतों तथा अन्य कविताओं में आलंबन का स्त्रीत्व ही नहीं, कामिनीत्व भी झलकता है।

निराला के चित्त पर वैष्णव पदावलियों का संस्कार भी जाग्रत् है। लौकिक प्रणय-मूलक वासना को लोकोत्तर भाव के मूल्य पर अभिव्यक्त करना निश्चय ही आत्म-प्रवंचना है। वैष्णव पदावलियों में भी लौकिक तथा अवैध प्रणय-वासना की कमी नहीं है, परंतु वहाँ आध्यात्मिकता का संस्कार आरोपित कर उससे शक्ति-ग्रहण किया जाता है। जीव को ब्रह्म की ओर अपनी चित्रवृत्ति को लगाए रखने केलिए जिस तीव्र मनोवेग की अपेक्षा की जाती है वह परकीया के अवैध प्रेम में ही संभावित माना गया है। श्रुति ने भी—तं च जारमिव—परपुरुष के मिलन में ही उत्कट आकर्षण की स्थिति मानी है। पति-पत्नी का वैध प्रेम उतना उन्मादकर

नहीं होता जितना उन्माद ब्रह्म को प्राप्त करने केलिए पर्याप्त माना जा सकता है। स्वामी विवेकानंद ने अपने 'भक्तियोग' में वैष्णव पदावलियों की अवैध प्रणय-भावना की आध्यात्मिक सार्थकता बताई है। उनके मतानुसार प्रायः भक्तगण भगवत्प्रेम का वर्णन करने केलिए मानवी प्रेम-भाषा का व्यवहार करते हैं। मूर्ख लोग इस वर्णन को नहीं समझते। जड़-दृष्टि से देखने के कारण इसे वे समझ भी नहीं सकते। भगवत्प्रेमी को पति-पत्नी के प्रेम से संतोष नहीं होता, क्योंकि वैसा प्रेम यथेष्ट उन्मादकर नहीं होता। इसलिए वह अवैध (परकीय) प्रेम-भाव ग्रहण करता है, क्योंकि वह अत्यंत प्रबल होता है। अवैध प्रेम की अवैधता उसका लक्ष्य नहीं होती। इस प्रेम की प्रकृति यह है कि वह जितना ही रोका जाता है उतना ही उग्र होता जाता है। पति-पत्नी का स्वकीय प्रेम वैध होने के कारण अवाध है। उसमें वाधाएँ और विघ्न नहीं हैं। इसी कारण भक्त कल्पना करता है कि मानो एक बालिका अपने प्रियतम परपुरुष पर आसक्त है, परंतु उसके माता-पिता और स्वामी इस अवैध प्रेम के विरोधी हैं। इस प्रेम में जितनी ही वाधाएँ डाली जाती हैं उतना ही वह प्रबल भाव धारण करता जाता है। स्वामी विवेकानंद ने अवैध प्रेम की प्रबलता को ही भक्ति के राग का मापदंड माना, उसकी अनैतिकता के अनौचित्य को न्याय्य नहीं माना। निराला के गीतों तथा शीर्षक-युक्त कविताओं में मानवोचित प्रेम-भाषा का बड़ा उन्मुक्त व्यवहार किया गया है, किंतु कवि के हृदय पर वैष्णव पदावली का संस्कार ऐसे सघन रूप से प्रतिष्ठित नहीं है जिसके लिए आध्यात्मिक समर्थन की बहुत आवश्यकता समझी जाय।

प्रकृति की नाना वस्तुओं के विविध रूपों तथा व्यापारों को निराला ने मानवीय दृष्टिकोण से, लौकिक प्रणय-वासना से संतप्त, वर्णित किया है। यदि प्रकृति-व्यापार को मानवीय अनुकरण पर चित्रित कर उसके रूप की अन्योक्ति कल्पना न की जाय तो कवि की अपूर्व मार्मिकता तथा सहृदयता का परिचय मिल सकता है। 'जुही की कली' तथा 'शरत्पूर्णिमा की विदाई' आदि कविताओं में अप्रस्तुत का वर्णन प्रधान न मानकर प्रस्तुत को ही वर्ण्य रखा गया है। यदि उन्हें मानवीय प्रणय-चेष्टा के रूप का अप्रस्तुत-विधान माना जाय तो वे अन्योक्तियाँ हो जायँगी और तब कवि के हृदय में प्राकृतिक दृश्य के प्रति मार्मिकता शेष न रहेगी। 'यमुना के प्रति' कविता में निराला ने अपनी भावुकता का अच्छा परिचय दिया है। यमुना के दृश्य-वर्णन में उसका अनुबंध संबंध तथा निर्दिष्टता का सम्यक् निर्वाह कर कवि ने उसे केवल वर्णन का उपलक्ष्य मात्र नहीं रखा। कवि में प्रकृति के निरीक्षण की सूक्ष्मता और सहृदयता है, किंतु उनके पास यदि मानवीय परिधि से बाहर जाकर प्रकृति के स्वतंत्र रूप-व्यापार को देखने की प्रवृत्ति भी रहती तो हिंदी काव्य में वे एक आदर्श की प्रतिष्ठा कर पाते।

छंद का त्याग या लय का अवलंबन कर चलनेवाली कविताओं के साथ रहस्यवाद का कोई जातीय संबंध नहीं। रहस्यवाद काव्य-वस्तु के साथ संबंध रखता है और छंद या लय उसके अभिव्यक्ति-विधान से। हिंदी काव्य में रहस्यवाद तथा मुक्त छंद का प्रचलन प्रायः एक ही समय तथा एक ही प्रवृत्ति के कवियों के द्वारा हो जाने के कारण कुछ पाठकों ने दोनों को अन्योन्याश्रित समझ लिया और उन्हें मुक्त छंद में रचित शुद्ध

इतिवृत्तात्मक तथा वर्णनात्मक कविता में भी रहस्यवाद का भ्रम हुआ। छंद और कुछ नहीं, लय के आधार पर ही टिका हुआ नाद-विधान है। मुक्त छंद में भी जबतक लय का प्रतिबंध माना ही जायगा तबतक उसे मुक्त—सभी बंधनों से मुक्त—नहीं माना जा सकता। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि पुराने बंधन की जगह नए बंधन की व्यवस्था कर दी गई।

निराला की प्रसिद्धि का अधिकांश श्रेय उनकी नई छंद-व्यवस्था को है। भिन्न-तुकांत कविताएँ पहले से ही रची जा रही थीं और संस्कृत का सारा काव्य-साहित्य ऐसा ही है, पर मुक्त छंद की रचना में निराला ने अपने अद्भुत साहस तथा विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है। 'जुही की कली' शायद उनकी इस प्रकार की पहली रचना है। इस कविता में उनका मनोवेग जिस तीव्रता के साथ व्यक्त हुआ है उससे स्वभावतः ही उसमें श्रुति-मधुरता उत्पन्न हो गई है। छंद में यथासंभव लय के अनुशासन की चेष्टा की गई है, किंतु उनका अनुशासन इतना कठिन है कि साधारण गायक या पाठक केलिए वह व्यर्थ-सा हो जाता है। लय या राग के अनुशासन से कविता को दीर्घायु प्राप्त होती है। निराला एक अच्छे गीति-कवि हैं, किंतु यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि शास्त्रीय दृष्टि से वे एक गीति-कवि की अपेक्षा गीतिकार ही अधिक हैं।

मुक्त छंद या स्वच्छंद छंद का उत्तरदायित्व बहुत-कुछ निराला के ऊपर है और शायद इसी कारण कवि ने हिंदी पाठकों के सम्मुख स्वच्छंद छंद को लेकर उपस्थित होते समय मस्तिष्क में तर्क तथा हृदय में साहस भर लिया है। छंदों के नये विधान को

देखकर ही घबड़ाने या चिंता करने की जरूरत नहीं होती। यदि नये छंद कवि की अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में विशेष सुविधाजनक हों तो उनका औचित्य सिद्ध किया जा सकता है। छंद-विधान में परिवर्त्तन होने पर समीक्षक को भी अपना दृष्टिकोण बदलना आवश्यक है, अन्यथा उससे न्याय की आशा कम ही रहेगी। व्यवस्थापक के अनुसार ही विचारक को अपनी समीक्षा का निर्वाह करना पड़ेगा १। निराला ने अपने ऊपर दो भार लिये हैं—विधान बनाना तथा उसके अनुसार चलना। नीति-शास्त्र की दृष्टि में यह अभियोग्य स्वेच्छाचार है। ऐसी स्थिति में कवि के साथ समीक्षक का दायित्व भी बढ़ जाता है। सममात्रिक सांत्यानुप्रास के संबंध में विशेष कुछ कहना नहीं, क्योंकि इसके लिए निराला को हिंदी के लक्षण-ग्रंथों की अनुमति मिली हुई है। मुक्त छंद में उन्होंने दो ढंग की रचनाएँ की हैं—एक विषम-मात्रिक सांत्यानुप्रास तथा दूसरा विषम-मात्रिक अंत्यानुप्रासहीन या पूरा स्वच्छंद छंद। इसी दूसरे प्रकार की रचना में काफी विलक्षणता है। प्राचीन गुरुडम से उत्पन्न प्रतिक्रिया ने निस्संदेह कवि को एक नवीन पथ का निर्माण करने तथा उस पर चलने की प्रेरणा दी, किंतु इसके साथ ही प्राचीन गुरुडम से परिचालित वैदिक संस्कृत के मंत्र-श्लोकों ने ही—जिनकी पंक्तियाँ स्वच्छंद छंद की तरह ही विषम-मात्रिक तथा अंत्यानुप्रासहीन हैं—उनकी प्रतिभा के उपयोग का निर्देश किया। इस प्रकार निराला का स्वच्छंद

१ '........When the laws of poetry are changed, the critic, of course, has to begin again; the judiciary must administer what the legislature enacts ....'

—H. W. Garrod : Poetry and the Criticism of Life.

छंद भी प्राचीन गुरुडम के प्रभाव-क्षेत्र से बाहर का नहीं। केवल इतना ही कि वैदिक संस्कृत साहित्य में जो पद्धति आर्ष तथा मंत्रपूत मानी जाती थी उसको निराला ने प्रतिक्रिया के आवेग तथा अपनी विलक्षण प्रतिभा के साथ हिंदी में उपस्थित कर दिया। निराला को इसका श्रेय अवश्य मिलना चाहिए। उनके विचार से किसी भी प्रकार का नियम बँध जाने से कविता कदापि मुक्त छंद नहीं हो सकती। मुक्त छंद तो वह है जो छंद की भूमि में रह कर भी मुक्त है। यह सौभाग्य की बात है कि उन्होंने अपने मुक्त छंद केलिए भी (प्राचीन गुरुडम के) छंद की भूमि में रहने की बात मानी है। अपने स्वच्छंद छंद में उन्होंने एक और प्रणाली रखी है जिससे कविता के किसी चरण का विराम अंत में ही न मानकर बीच में भी स्थिर कर दिया जाता है। जैसे—

ज्योतिर्मय चारों ओर
परिचय सब अपना ही !
स्थित मैं आनंद में चिरकाल
जाल-मुक्त। ज्ञानांबुधि
वीचि-रहित। इच्छा हुई सृष्टि की,
प्रथम तरंग वह आनंद-सिंधु में,
प्रथम कंपन में संपूर्ण बीज सृष्टि के,
पूर्णता से खुला मैं पूर्ण सृष्टि-शक्ति ले,
त्रिगुणात्मक रचे रूप,
विकसित किया मन को,
बुद्धि, चित्त, अहंकार, पंचभूत,
रूप-रस-गंध-स्पर्श,
शब्दज संसार यह,
वीचियाँ ही अगिनित शुचि सच्चिदानंद की।

यह सच है कि किसी भाव या विचार की पूर्णता का संबंध उसके वाक्य-विन्यास के ऊपर निर्भर करता है और यह आवश्यक नहीं कि ऐसी पूर्णता चरणांत में ही समझी जाय। निराला के पहले भी दो-एक कवि ने ऐसे मध्य-चरण विराम का प्रयोग किया है। पूर्ण विराम का ऐसा प्रयोग केवल व्यर्थ नवीनता ही नहीं, प्रत्युत लय की गति का बाधक भी है। स्वच्छंद छंद में इतनी सुविधा तथा स्वेच्छा तो है ही कि जहाँ पाया वहाँ चरण तो समाप्त कर दिया। फिर इस प्रकार के प्रयोग का कुछ औचित्य नहीं मालूम पड़ता।

निराला की प्रतिभा बहुमुखी है। मुक्तक रचनाओं के अतिरिक्त 'तुलसीदास' की प्रबंध-कल्पना भी उनकी प्रतिभा की द्योतक है। जीवन में केवल प्रेम-गीत को ही महत्त्व न देकर उन्होंने विधवा, भिक्षुक तथा इलाहाबाद के पथ पर पत्थर तोड़ती हुई मजदूरनी की चिंता भी रखी है। उनकी 'भिक्षुक' कविता में भिखारी का बड़ा रमणीय बिंब-ग्रहण किया गया है।

> वह आता—
> दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
> पेट पीठ दोनों मिल कर हैं एक,
> चल रहा लकुटिया टेक,
> मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
> मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता—
> दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
> साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए,
> बाएँ से वे मलते हुए पेट को चलते,
> और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए।

कवि ने जगत् और जीवन की वास्तविकता का संस्पर्श कर समाज के दलित तथा उपेक्षित पक्ष के प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित कर प्रतिभा का सदुपयोग किया है। भिक्षुक के वर्णन में मार्मिकता का भाव अपूर्व है और इसके साथ ही उसके करुणा-जनक रूप का बड़ा सूक्ष्म निरीक्षण किया गया है। कवि ने अपनी रचनाओं में यथार्थता को निर्वासित नहीं किया है। प्रयोजन के अनुसार उनके अंतर्जगत् से वास्तविकता उद्भूत हो उठी है। 'जागो फिर एक बार', 'महाराज शिवाजी का पत्र' आदि रचनाओं से उनमें जातीय महत्त्व की रक्षा तथा वीरत्व की प्रतिष्ठा का भाव पाया जाता है। निराला को नई-नई उद्भावनाओं का उन्मेष है और उनको गति देने की भी यथेष्ट क्षमता है। उनके काव्य की एक मर्यादा है। उनके जीवन में व्यक्तित्व-बोध का तत्त्व जिस रूप में लक्षित है वह उनकी काव्य-रचना में भी प्रतिफलित है।

जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'

जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' स्वानुभूतिमूलक करुणा के एक मार्मिक कवि हैं। अपनी तरल भावुकता को बाह्य प्रकृति की शुष्कता तथा संयम के नियंत्रण के भीतर रखने की उन्हें अपूर्व क्षमता भी है। वेदना उनके जीवन का सार-सर्वस्व है। उनकी वेदना जीवन की शुद्ध वेदना नहीं, बल्कि उसमें जीवन के विलास का आकर्षण है। अपने विरह-दुख को हृदय के भीतर पालनेवाली पतिप्राणा नारी की तरह वे अपनी वेदना को आध्यात्मिक आवरण देकर सुख की सांस लेते हैं। उनकी वेदना जीवन की शाश्वत भावना है और किसी भी आकांक्षा की पूर्त्ति से उसका शमन नहीं हो सकता—

अमर वेदना ही हो मेरे
सकल सुखों का मीठा सार।

अपनी वेदना को अमरता का विशेषण देकर अपनी काव्य-साधना के साथ-साथ उन्होंने उसे आत्म-साधना का भी विषय बना लिया है। द्विज की वेदना कविता में आत्मप्रवंचना के रूप में नहीं देखी जा सकती। वेदना या पीड़ा ही उनका मूल काव्य-द्रव्य है और उसके स्मृति-स्पर्श से ही उन्हें काव्य-प्रेरणा होती है—

पुलक, कंपन की खा मृदु चोट
सिहर उठते प्राणों के तार।

साहित्य-साधना के क्षेत्र में द्विज व्यक्तिवाद की प्रधानता का समर्थन करते हैं और शायद इसी कारण वैयक्तिक अनुभूतियों के साधारणीकरण की आवश्यकता नहीं समझते। यह सच है कि "प्रत्येक व्यक्ति की अंतर्वृत्तियाँ स्वतंत्र हुआ करती हैं और वे इतनी जटिल होती हैं कि उनके आधार पर सहसा किसी सार्वभौम

नियम की संस्थापना कर लेना असंभव है," किंतु इसके साथ द्विज के कवि को यह भी मानना पड़ेगा कि शुद्ध वैयक्तिक अनुभूतियाँ ही काव्य के रूप में रसग्राह्य नहीं हो सकतीं। यदि कवि अपनी अनुभूतियों की सामानता अपने पाठकों तथा श्रोताओं के साथ स्थापित न करे तो केवल व्यक्ति-वैचित्र्यवाद से काव्य की रचना नहीं हो सकती। कवि की अनुभूतियों का जिस सीमा तक साधारणीकरण किया जा सकता है उसी सीमा तक वे रस-ग्राह्य बन सकती हैं। प्रत्यक्ष जीवन की विचित्रता को काव्य में समाविष्ट करना उचित नहीं माना जा सकता। किसी की प्रकृति का कोई अद्भुत मैनोवैज्ञानिक वैचित्र्य शास्त्रीय पद्धति का अपवाद ही हो सकता है, सर्वमान्य नियम नहीं। साहित्य या काव्य-साधना में व्यक्ति को कोई अद्भूत व्यतिक्रम उपस्थित करने का अधिकार नहीं। वह अधिक-से-अधिक अपनी प्रवृत्ति के अनुसार जीवन के किसी मार्मिक पक्ष को लेकर, अपनी वैयक्तिक विशेषता के कारण उसके पद-विन्यास या प्रणाली पर ही प्रभाव डाल सकता है। काव्य के रूप में मानव प्रकृति की किसी ऐसी विशेषता का ही प्रतिपादन किया जा सकता है जो विरल तो हो, पर विचित्र नहीं। विशेषता सदा विरल होती है और इसी तरह वैचित्र्य भी विरल ही होता है, किंतु विशेषता जीवन के राग-तत्त्वों का समन्वय रखकर चलती है और वैचित्र्य केवल हमारी जिज्ञासा-वृत्ति को प्रेरित करता है। राग-तत्त्व से ही काव्य-रचना होती है, जिज्ञासा-वृत्ति केलिए उसमें कोई अवकाश नहीं रह जाता।

"आज चारों ओर आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, मिलन-विच्छेद, सफलता-असफलता आदि के भीषण द्वंद्व चल रहे हैं

और प्रत्येक वर्ग का पूर्वपक्ष पराजित होता जा रहा है, उत्तर पक्ष को विजय मिलती जा रही है।" इसी कारण शायद द्विज के जीवन में आनंद की सृष्टि नहीं हो सकती। विषाद वस्तुतः आरंभ से ही उनकी कविता का पोषक तत्त्व बनकर रहता आया है और आज भी वह वही है, लेकिन इसका परिणाम यह हुआ कि जीवन के एक ही स्वरूप के प्रति दृष्टि रखने के कारण द्विज का काव्य-क्षेत्र बहुत संकीर्ण हो गया। जीवन में सत्य का प्रत्यक्ष पराजय कोई असंभाव्य घटना नहीं, किंतु अंतिम रूप से उसको पराजित करना निश्चय ही असंभव है। यदि जीवन में सत्य की सर्वत्र प्रत्यक्ष विजय हो होती जाती तो असत्य का पल्ला पकड़कर कोई विजय का स्वप्न ही क्यों देखता! द्विज प्रत्यक्ष के आग्रही हैं। वे जीवन के उस आध्यात्मिक स्वरूप को देखने का कष्ट नहीं करते जहाँ पराजय का कुछ पता नहीं, केवल विजय-ही-विजय है। वे जीवन और जगत् में दुखों के अस्तित्व की उपेक्षा न करनेवाले कवि हैं जो आशावाद का मोह न छोड़कर भी निराशावादी बनते हैं।

सुख और दुख या आनंद या विषाद की भिन्न-भिन्न सत्ताओं के संबंध में वेदांतिकों में भी मतभेद रहता आया है। कोई दोनों को नित्य और शाश्वत मानता है और कोई एक के अभाव में दूसरे की स्थिति। यदि आनंद और विषाद दोनों की सत्ताएँ शाश्वत मानी जायँ तो किसी भी कारण उनके अस्तित्व का बाध नहीं हो सकता। परिस्थिति के अनुसार वे न्यूनाधिक हो सकती हैं। द्विज अपनी प्रवृत्ति के अनुसार जीवन में विषाद-तत्त्व को विशेष महत्त्व देते हैं, पर आनंद-तत्त्व का बाध नहीं करते। विषाद उनकी कविता का पोषक तत्त्व भी तभी तक रह सकता है जबतक वे

अपनी काव्य-प्रेरणा केलिए उसमें से ही आवश्यक आनंद उपार्जित न कर लें। लोग वेदना से रोते हैं, किंतु इस प्रकार रोने में भी उन्हें आनंद न मिले तो वे अपने रोने के क्रम को कुछ देर तक भी न चला सकेंगे। आनंद के विना उनके कवित्व की प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। यदि जीवन में वे आनंद-तत्त्व की सत्ता किसी रूप में भी न मानते होते तो अपनी कविता के संबंध में ऐसा विचार न रखते कि रुदनशील प्रवृत्ति की इस प्रधानता के कारण उनकी काव्य-कला में एकांगिता आ गई है। इस एकांगिता शब्द से ही यह संकेत मिलता है कि जीवन में केवल रुदन-शील प्रवृत्ति ही नहीं होती, बल्कि उसका कोई दूसरा पक्ष भी होता है। कोई भी कवि लोक-जीवन की समस्त सामान्य भावनाओं का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। द्विज से भी हम ऐसी आशा नहीं रख सकते।

अभाव की पूजा तथा अपनी वेदना की विवृति में विशेष अनुरक्त रहने के कारण द्विज प्रकृति के भाव की पूजा करने में समर्थ न हो सके। जगत् में अभाव कुछ नहीं, भाव की सत्ता सर्वत्र पाई जाती है। दार्शनिक बाध की तरह अभाव भाव की सत्ता के विनाश का द्योतक नहीं हो सकता। जीवन की अपूर्णता जिस सीमा तक सत्य है, अभाव भी उसी सीमा तक सत्य माना जा सकता है, किंतु जब जीवन अपनी सारी अपूर्णताओं को रखते हुए भी जीवन ही रहता है तब भाव अपने अभाव की स्थिति के रूप में भी भाव क्यों न बना रहे। द्विज अपने सुख-दुख की अपेक्षा रखकर ही प्रकृति का वर्णन करनेवाले कवि हैं, प्रकृति को मुख्य आलंबन के रूप में ग्रहणकर चलने वाले कवि नहीं।

जीवन की संगति के अनुरूप ही प्रकृति के ऊपर अपने सुख-दुख को आरोपित करने की प्रवृत्ति प्रायः हिंदी कवियों की रही है। ऐसे कवियों की वेदना का क्षेत्र भी रति-भाव के ही अंतर्गत रहता आया है। द्विज करुणा के कवि हैं और इसी कारण विरही या विरहिणी की तरह प्रकृति को भी केवल विरह-क्लांत रूप में ही देखने की आवश्यकता समझते हैं। उनकी करुणा में वैयक्तिक जीवन को प्रधान स्थान प्राप्त है। उसमें न तो अखंड मानवता केलिए स्थान है और न प्रकृति को ही अपनी सारी विभूतियों के साथ अँटने की जगह। संस्कृत के कवि भवभूति ने काव्य में करुणा को जो महत्त्व दिया उसके भीतर उन्होंने प्रकृति को भी अपनी सीमा में प्रतिष्ठा दी, किंतु द्विज की कवि-प्रवृत्ति में विषाद इतना घनीभूत है कि वह अपनी छाया के अतिरिक्त जगत् में दूसरी कोई सत्ता नहीं देख सकती। उनकी सारी रचनाओं में जिन दो-चार स्थलों पर आयास या अनायास भाव से प्रकृति के वर्णन हैं वहाँ प्रकृति को अपने स्वतंत्र रूप की मर्यादा नहीं मिली है। अपने हृदय की पूर्व प्रतिष्ठित वेदना की प्रबलता व्यंजित करने केलिए द्विज ने प्रकृति के विहँसते स्वरूप में भी उपहास का ही अवसाद पाया है—

नभ के इन हँसते तारों का
छिपा हुआ उपहास,
फूंक रहा मुझ निराधार को
ग्लानि-अनल के पास।
नियति का कैसा निठुर विधान!
ढूँढ़ने चलूँ कहाँ परित्रान?

शायद उनके जीवन में कभी प्रकृति को भी स्थान प्राप्त था, पर अब उनका जीवन-उपवन उजड़ गया है और उपवन के उजड़ने के बाद ही उनके काव्य-देवता ने उसमें प्रवेश किया—

कलियों का यौवन बीता,
अलियों के भाग बिलाये !
मेरे उजड़े उपवन में
तब हो तुम हँसते आये !

कवि के जीवन में जबतक प्रकृति शृंगार करती थी तबतक उनका कवित्व मौन था। प्रकृति का शृंगार हटते ही उनके जीवन में विषादमय उस परम तत्त्व ने अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त की। प्रकृति के उस पुराने साहचर्य ने भी कवि के जीवन में कोई राग उत्पन्न नहीं किया, प्रत्युत उससे उनको मादक संवेदना ही मिली—

किसकी यह छवि, किसका सिंगार !
मिल रहा पुनः किस मधुऋतु का
जीवन - उपवन को यह दुलार !
पा किस नव आशा से हुलास,
खिल पड़ा प्रणय का मुकुल मौन !
स्मृति के निकुंज में कूक उठी
यह तड़प - भरी कोकिला कौन।
किसकी साँसें यों सिहर - सिहर,
करतीं मादकता का प्रसार !
छल - स्वप्नों का यह अमर लोक
निरखूँ अब किससे नयन छीन !
मेरा प्यारा सौभाग्य - सूर्य
छिप गया, हुआ मैं ज्योति - हीन।

पर, उसको ही यह मधुर याद
फिर कौन दिलाता बार - बार!
पाकर खोता हूँ सतत, कभी
खोकर पाऊँगा क्या न, हाय!
भय है, यह मेरा मिलन आज
फिर शाप विरह का पा न जाय!
क्या करूँ? छिपा सकता न और
इस 'छाया - नट' से हृदय - हार!

द्विज के विषाद में वैयक्तिकता का अधिक समन्वय रहने के कारण सूफियों की-सी विरह-वेदना की एकनिष्ठता तो आ गई है, परंतु एकनिष्ठता का निर्वाह करते हुए जीवन के विविध रसात्मक पक्षों की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई। उनकी झोली छोटी है, वैभव का अधिक भार उठा सकने की उसमें समर्थता नहीं। प्रकाश की भीख माँगते उनको अंधकार ही मिलता है, किंतु प्रकाश माँगने की आकांक्षा तो दूर नहीं होती। अपनी अनुभूति तथा अंतर्ध्वनि को आत्म-साधना के अनुरूप अभिव्यक्त कर सकने की कवि में यथेष्ट क्षमता है। विषाद-तत्त्व को अपनी काव्य-साधना का विषय बनाकर करुणा का इतना वैभव बिखेरनेवाला हिंदी में कोई दूसरा कवि नहीं। द्विज अपनी सीमा में एक बहुत ही मार्मिक कवि हैं।

सुमित्रानंदन पंत

सुमित्रानंदन पंत आधुनिक युग के हिंदी कवियों में प्रकृति की रमणीयता पर मुग्ध होनेवाले सब से अधिक भावुक कवि हैं। बचपन से ही प्रकृति का उन्मुक्त साहचर्य प्राप्त रहने के कारण उनको प्रकृति के नाना व्यापारों में अपनी कवि-सुलभ अंतर्दृष्टि से काम लेने की अच्छी समर्थता मिली है। जीवन के अनेक अवसर पर, विविध प्रसंग पर प्रकृति के जो चित्र-विन्यास उन्होंने अपनी रचनाओं में उपस्थित किए हैं वे हिंदी काव्य-जगत् में अपूर्व और रमणीय हैं, लेकिन प्रकृति को देखने केलिए सदा उन्होंने अपनी एक ही अंतर्दृष्टि से काम नहीं लिया। प्रकृति के विविध स्वरूपों में सर्वत्र और सर्वदा अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति का पूरा-पूरा सामंजस्य नहीं मिल सकने के कारण उन्होंने प्रकृति के निश्चल रूप का मानवीकरण भी कर दिया है। कहीं-कहीं मानवीकरण के अप्रस्तुत विधान की ओर अधिक आकर्षित रहने से प्रस्तुत की प्राकृत व्यंजना दूरारूढ़ हो गई है। कवि जब प्रकृति में अपने ऐंद्रीय प्रणयोद्गार तथा मनोनुकूल सौंदर्य-रचना की कल्पना करता है तब हेत्वाभास के आधार पर प्रकृति को भी उसी स्तर पर लाने की चेष्टा करता है। चाँदनी पर कवि के उद्गार हैं—

नीले नभ के शतदल पर
वह बैठी शारदहासिनि,
मृदु करतल पर शशिमुख धर
नीरव, अनिमिष एकाकिनि!
वह स्वप्न जड़ित नत चितवन
छू लेती अग-जग का मन

श्यामल कोमल चल चितवन
लहरा देती जग-जीवन!

× × ×

दिन की आभा दुलहिन बन
आयी निशि निभृत शैन पर,
वह छवि की छुई-मुई-सी
मृदु मधुर लाज से मर-मर।

× × ×

दूसरे प्रसंग पर चाँदनी के ही संबंध में वे कहते हैं—

जग के दुख-दैन्य-शयन पर
यह रुग्ना जीवन बाला
रे कब से जाग रही, वह
आँसू की नीरव माला!
पीली पड़, दुर्बल, कोमल,
कृश देह-लता कुम्हलाई
विवसना, लाज में लिपटी—
साँसों में शून्य-समाई।
रे म्लान, अँग रँग, यौवन
चिर मुक्त, सजल नत चितवन!
जग के दुख से जर्जर उर
बस मृत्यु-शेष अब जीवन!!

जहाँ कहीं उन्होंने प्रकृति को मानवीकरण से निरपेक्ष होकर चित्रित किया वहाँ बहुत ही रमणीय दृश्य-विधान उपस्थित हो गया है—

पावस-ऋतु थी पर्वत-प्रदेश;
पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेश।

मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार-बार
नीचे जल में निज महाकार;
—जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण-सा फैला है विशाल !!

गिरि का गौरव गाकर झर्झर्
मद से नस-नस उत्तेजितकर,
मोती की लड़ियों से सुंदर
झरते हैं झागभरे निर्झर।
गिरिवर के उर से उठ-उठकर
उच्चाकांक्षाओं-से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर,
अनिमेष, अटल, कुछ चिंतापर !

—उड़ गया, अचानक, लो, भूधर
फड़का अपार पारद के पर !
रव-शेष रह गए हैं निर्झर !
है टूट पड़ा भू पर अंबर !
धँस गए धरा में सभय शाल !
उठ रहा धुआँ, जल गया ताल !
—यों जलद-यान में विचर-विचर,
था इंद्र खेलता इंद्रजाल !

पंत ने प्रकृति में एक शक्ति तथा रहस्य को देखा है। उनके वर्णन में सूक्ष्मता तो है, किंतु प्रकृति के व्यापार का वर्णन अप्रस्तुत-विधान की साम्य-भावना के आधार पर हुआ है। प्रकृति के

विविक्त स्वरूप को सर्वत्र महत्त्व न दे सकने का कारण उनकी कवि-सुलभ भावुकता ही है। फिर भी वे सर्वाधिक प्रकृति-प्रेमी कवि हैं।

पंत को नारी-रूप के प्रति सहज आकर्षण है। भोग्य-रूप में नारी का साधारणतः सौंदर्य-विधान किया जाता है और पूज्य रूप में उसका महत्त्व-विधान। मातृ-सुख से वंचित रहने के दुर्भाग्य का निराकरण करने केलिए उनके कवि ने बालिका बनकर माँ से स्नेह-संलाप किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपनी अनेक रचनाओं में सखियों तथा सजनियों के साथ हिल-मिलकर भावनाओं की कोमलता प्राप्त की है। नारी-रूप के प्रति अधिक आकर्षित होने का कारण वासनात्मक प्रणयोद्गार की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के अतिरिक्त अपनी भावुक तथा कोमल प्रकृति का सामंजस्य रखना भी मालूम पड़ता है। किसी प्रबंध-विधान के अंतर्गत प्रसंगप्राप्तरूप से स्त्रियोचित अभिव्यक्तियाँ जितनी स्वाभाविक हो सकती हैं उतनी मुक्तक रचनाओं में नहीं। कविता के समग्र रूप को नारी की अभिव्यक्ति के रूप में उपस्थित करना और वह भी पुरुष रचयिता होकर, उनकी कवि-प्रकृति की स्त्रैणता ही प्रमाणित करता है। पंत ने कोमलता के आग्रह से ही ऐसा किया है।

पंत की गीति रचनाओं में अनुभूति की तीव्रता उतनी नहीं पाई जाती जितना उनमें कल्पना का प्रसार है। गीति काव्य में कवि की अनुभूति तथा मनोनिवेश ही प्राण-स्पंदन करता है। कवि की भावुकता अपने कल्पना-सूत्र को कभी-कभी इतना अधिक विकसित कर देती है कि कहीं-कहीं उनकी रचनाएँ, कुछ ज्यादा

पानी मिले शरबत की तरह, नीरस मालूम पड़ती हैं। क्षणिक तथा क्षीण अनुभूति को भी कल्पना के वितान पर चढ़ा-बढ़ाकर रमणीय बना देने की कला पंत में अद्भुत है, किंतु अपनी इस कला के साथ-साथ यदि वे अपने हृदय को भी लेते चलते तो वास्तव में पंत के रूप में हिंदी को एक अपूर्व कवि प्राप्त होता।

राष्ट्रीय नव जागरण ने भी पंत के चित्त को प्रभावित किया लेकिन उनकी रचनाओं में इसका कोई जाग्रत् स्वरूप लक्षित नहीं होता। प्रकृतिवाद की एकनिष्ठा को क्रमशः अग्रसर करते हुए जब वे मानवतावाद की सीमा पर जा पहुँचे तब कुछ लोग कहने लगे कि पंत साम्यवादी-सा विचार रखने लगे हैं। वस्तुतः कोई कवि न तो गांधीवादी होता है और न साम्यवादी। कवि-रूप में वह किसी भी 'वाद' के साथ स्पष्ट संबंध रखकर अपने काव्य की मर्यादा का निर्वाह नहीं कर सकता। पंत का ध्यान देश के उन दीन-हीन कृषक-श्रमजीवियों के दशा-वर्णन पर आकर्षित हुआ है। कवि के नाते यह स्वाभाविक ही है। काव्य के अंतर्गत विभिन्न शाखा-पद्धतियों के रूप में जितने 'वाद' चल रहे हैं उनसे मुक्ति पाकर राजनैतिक 'वादों' से प्रभावित हो प्रवादी बन जाना, किसी भी कवि केलिए शोभनीय नहीं माना जा सकता। मानवता के हित-विचार से अपनी काव्य-रचना के दृष्टिकोण में वस्तु-विन्यास का कुछ दिशा-भेद करना, असंगत नहीं है। पंत ऐसे ही एक कवि हैं। मानवता की पुकार पर द्रवित होना कवि का धर्म है। महात्मा गांधी के व्यक्तित्व ने कवि के चित्त पर जो मुद्रा अंकित की वह 'बापू के प्रति' स्पष्ट हो गई है। गांधीवाद तथा साम्यवाद दोनों की परिणति प्रायः एक ही लक्ष्य-बिंदु पर होती है, भेद है

केवल प्रक्रिया और दृष्टिकोण का। पंत ने अपनी सहजभावुकता के अनुसार मानवता के परित्राण की कामना की है। मेरी समझ से पंत की आध्यात्मिक तथा आस्तिक बुद्धि साम्यवाद को विदेशी आवरण में अपने सम्मुख उपस्थित न होने देगी। युगांत तथा युगवाणी की रचना के पहले से ही पंत को मानवता में समानता का भाव आ गया था। उनकी रचनाओं के अध्ययन से यह बात स्पष्ट लक्षित हो जाती है। अपने गुंजन में उन्होंने लिखा है—

जग पीड़ित है अति दुख से,
जग पीड़ित रे अति सुख से,
मानव जग में बँट जावे
दुख-सुख से औ सुख-दुख से।
अविरत दुख है उत्पीड़न
अविरत सुख भी उत्पीड़न
दुख-सुख की निशा-दिवा में
सोता जगता जग - जीवन

अपनी 'ज्योत्स्ना' में उन्होंने एक स्थान पर 'अन्न-वस्त्र की चिंता से मुक्त, स्वस्थ, साक्षर, सिद्ध कृषकों, श्रम-जीवियों एवं व्यवसायियों के नर-नारियों एवं बालक-बालिकाओं का चटकीले रंगों के वस्त्र पहने, गीत, वाद्य, नृत्य, व्यंग्य, विनोद-पूर्वक वसंतोत्सव मनाते हुए धीरे-धीरे प्रवेश' कराया है। वे सम्मिलित स्वर में गाते हैं—

गूँजे जयध्वनि से आसमान
'सब 'मानव-मानव' हैं समान'!

निज कौशल, मति, इच्छानुकूल
सब कर्म-निरत हों भेद भूल
बंधुत्व - भाव ही विश्वमूल,
सब एक राष्ट्र के उपादान
× × ×
सब श्रम, उद्यम गौरव प्रधान
सब कर्मों का हो उचित मान
सब कंठों में हो एक गान—
मानव - मानव सब हैं समान

पंत अपने भावना-क्षेत्र को विकसित कर चलनेवाले प्रगतिशील कवि हैं। उनमें सांप्रदायिक प्रगतिशीलता की भावना नहीं आ पाई है जिसकी अभी धूम मचाई जाती है। वे जाग्रत् कवि की तरह युगधर्म के अनुकूल परिस्थिति का निर्माण करना चाहते हैं। मानव-जीवन में जो रूढ़िग्रस्त तथा जीर्ण-शीर्ण पत्र हैं उनका संहारकर वे नवयुग की मदिरा से मत्त होना चाहते हैं—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र !
हे स्रस्त ध्वस्त ! हे शुष्क शीर्ण !
हिम ताप पीत, मधुवात भीत,
तुम वीतराग, जड़, पुराचीन !!
निष्प्राण विगत युग ! मृत विहंग !
जग नीड़ शब्द औ' श्वासहीन,
च्युत, अस्तव्यस्त पंखों से तुम
झर-झर अनंत में हो विलीन !
× × ×
मंजरित विश्व में यौवन के
जग कर जग का पिक, मतवाली

निज अमर प्रणय स्वर-मदिरा से
भर दे फिर नवयुग की प्याली !

पंत सुख-दुख से निरपेक्ष रहकर समान भाव से उनके महत्त्व को जीवन में स्वीकार करते हैं, किंतु समय-समय पर उनकी रचनाओं में दुख तथा सुख की प्रधानता स्पष्ट रूप से अंकित होती गई है—

विना दुख के सब सुख निस्सार,
विना आँसू के जीवन भार
दीन, दुर्बल है रे संसार,
इसी से दया, क्षमा औ' प्यार ।

और—

वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान
उमड़कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान ।

जीवन में वे केवल दुख को महत्त्व ही नहीं देते, प्रत्युत इस सारी सृष्टि को ही अशांति की जड़ समझते हैं—

हाय री दुर्बल भ्रांति !
कहाँ नश्वर जगती में शांति !
सृष्टि का ही तात्पर्य अशांति
जगत अविरत जीवन-संग्राम
स्वप्न है यहाँ विराम ।

इस प्रकार पंत जीवन और जगत् में दुख तथा अशांति को गौण नहीं मानते और इसके साथ वे जीवन में शाश्वत उल्लास को भी दूर नहीं छोड़ते—

जग - जीवन नित नव - नव
प्रति दिन प्रति क्षण उत्सव
जीवन शाश्वत वसंत
अगणित कली कुसुम वृंत
सौरभ, सुख, श्री अनंत ।

इतना ही नहीं जीवन और जगत् की रमणीयता पर उल्लसित होकर उमंगभरी वाणी में वे कहते हैं—

जग-जीवन में उल्लास मुझे
नव आशा नव अभिलाष मुझे ।

इस प्रकार परिस्थिति के अनुसार ही जगत् और जीवन में वे सुख तथा दुख को प्रधान या गौण मानते हैं । कुछ कवि ऐसे हैं जो जीवन-पर्यंत केलिए दुख या सुख के साथ अपना ग्रंथि-बंधन कर लेते हैं और उनकी सारी रचनाओं में एक ही स्वर बजता है । पंत में यह विशेषता है कि वे जीवन में दोनों के महत्व को स्वीकार करते हैं और परिस्थितिवश उनसे प्रभावित होते हैं।

पंत के समान शब्द-विन्यास में सुरुचि का निर्माण करनेवाला कोई दूसरा कवि नहीं। उन्हें शब्दों की प्रकृति तथा उनकी अर्थ-शक्ति को पहचानने का विवेक है, किंतु कहीं-कहीं उन्होंने शब्दों से बलात् अर्थ-व्यक्ति का भी काम लिया है। अँगरेजी लाक्षणिक वैचित्र्य तथा चित्र-विन्यास को हिंदी काव्य में प्रवेश कराने का काम जितना पंत ने किया उतना किसी ने नहीं। सरल तथा सरस पद-योजना के रूप में उन्होंने अपनी भावना को अभिव्यंजित किया है। सौंदर्य-प्रेमी होने के नाते उन्होंने काव्य-भाषा को

मनोरम बनाने में एक कृतविद्य साहित्य-शिल्पी का काम किया है। अभिव्यंजनावाद की विभिन्न प्रवृत्तियों के दिक्दर्शक वैचित्र्य-विन्यास, अलंकार आदि का निर्वाह पंत की बड़ी विशेषता है। उनकी काव्य-वस्तु में रहस्य-भावना के जो संकेत मिलते हैं वे पहाड़ी पगडंडियों की तरह सर्वत्र दुर्बोध तथा दुर्गम नहीं हैं। पंत ने प्रकृति के उस परम तत्व में जो रहस्य देखा उससे अधिक जीवन में उसका विधान नहीं किया। उनकी रचनाएँ कट्टर रहस्य-वाद की रचनाएँ नहीं हैं जो अपनी रहस्यता के आग्रह के वशीभूत होकर इतनी दुर्गम हो जाती हैं कि 'सांत' जगत् से बाहर होकर 'अनंत' में ही उनकी अर्थ-व्यक्ति हो सकती है। पंत का कवि प्रवंचना के पथ पर चलकर अपनी अनुभूतियों के साथ खिलवाड़ नहीं करता। उनके भाव तथा विचार जटिल नहीं, प्रत्युत सरस तथा सरल हैं। जीवन और जगत् को वे आदर्शवादी दृष्टि से देखनेवाले कवि हैं।

मैं प्रेमी उच्चादर्शों का
संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शों का,
जीवन के हर्ष-विमर्षों का ;
लगता अपूर्ण मानव-जीवन,
मैं इच्छा से उन्मन, उन्मन !
जग-जीवन में उल्लास मुझे,
नव आशा, नव अभिलाष मुझे,
ईश्वर पर चिर विश्वास मुझे;
चाहिए विश्व को नवजीवन,
मैं आकुल रे उन्मन, उन्मन !

रामधारी सिंह 'दिनकर'

रामधारी सिंह 'दिनकर' के हृदय में अतीत का बड़ा प्रबल आग्रह है। जिस दिन उनके हृदय में हिमालय फूटा उसी दिन से उनकी प्रतिभा ने एक नई दिशा की ओर गति की। अतीत गौरव की स्मृति तथा खँडहरों के प्रति दिनकर ने जिस भावुकता का परिचय दिया वह अप्रतिम है। भारत के उन अवशिष्ट स्वरूपों के साथ भारतीय जीवन की जो भाव-धारा प्रवाहित होती रही है उसमें कवि ने अपनी भाव-प्रवर्तिनी शक्ति से तरंगें उत्पन्न की हैं, लोक-हृदय की अंतर्भूमि को अपनी मार्मिक वाणी से अनुकंपित किया है। प्रागैतिहासिक या ऐतिहासिक काल से ही जो हमारे सुख-दुख के सहचर रहे हैं उनको हृदय-ग्राह्य रसात्मक रूप देने का यह अच्छा प्रयास किया गया है। हिमालय के प्रति कवि के हृदय में जिन-जिन भावनाओं का उदय हुआ है वे स्पष्ट हैं—

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
साकार, दिव्य, गौरव विराट !
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल !
मेरी जननी के हिम-किरीट !
मेरे भारत के दिव्य भाल !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
युग-युग अजेय, निर्बंध, मुक्त,
युग-युग गर्वोन्नत, नित महान
निस्सीम व्योम में तान रहे,
युग से किस महिमा का वितान।

कैसी अखंड यह चिर-समाधि ?
यतिवर ! कैसा यह अमर ध्यान ?
तू महाशून्य में खोज रहा
किस जटिल समस्या का निदान ?
    उलझन का कैसा विषम ज्वाल
    मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

× × ×

कितनी मणियाँ लुट गईं, मिटा
कितना मेरा वैभव अशेष !
तू ध्यान-मग्न ही रहा, इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश ।
कितनी द्रुपदा के बाल खुले,
कितनी कलियों का अंत हुआ;
कह हृदय खोल चित्तौर ! यहाँ
कितने दिन ज्वाल वसंत हुआ !

× × ×

तू पूछ अवध से राम कहाँ ?
वृंदा ! बोलो घनश्याम कहाँ ?
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक ?
वह चंद्रगुप्त बलधाम कहाँ ?
पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी,
तू पूछ, कहाँ इसने खोई
अपनी अनंत निधियाँ सारी ?
री कपिलवस्तु ! कह बुद्धदेव
के वे मंगल - उपदेश कहाँ ?

तिब्बत, इरान, जापान, चीन
तक गये हुए संदेश कहाँ ?
वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी-शान कहाँ ?
ओरी उदास गंडकी ! बता
विद्यापति कवि के गान कहाँ ?

× × ×

हिमालय दिनकर की काव्य-रचना का मेरुदंड है। उनके चित्त पर हिमालय ने जिस संस्कार को विकसित किया वह उसकी नस-नस में फैल कर ही रहा। उनकी अधिकांश रचनाओं में हिमालय, गंगा, गंडकी, सतलज, नालंदा, वैशाली, कपिलवस्तु, दिल्ली आदि की स्मृति न भूली जा सकी। भारत के इन मार्मिक स्वरूपों की ओर इस प्रकार दृष्टि ले जाने का काम पहले-पहल दिनकर ने ही नहीं किया, आज से प्रायः ६० वर्ष पहले भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भी राष्ट्रीय नवजागरण काल में अपनी रचनाओं में काशी, प्रयाग, अयोध्या, पंचनद, चित्तौड़ आदि का मार्मिक संबोधन किया था[1]।

[1] दिनकर के हिमालय-जन्म के प्रायः ५० वर्ष पहले भारतेंदु का भारत-भाग्य भारत को दुर्दशा की घोर निद्रा से जगाते-जगाते थककर उदास हो कहता है—

भारत के भुजबल जग रच्छित।
भारत विद्यालहि जग सिच्छित॥
भारत तेज जगत बिस्तारा।
भारत भय कंपत संसारा॥

× × ×

दिनकर के हृदय में जो उमंग और उत्साह है वह भारतेंदु की रचना में उद्भासित नहीं होता। ऐतिहासिक या राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति में अभी जैसी निर्बंधता है वैसी उस समय नहीं थी। भारतेंदु-काल से चलती हुई हिंदी-कविता की इस परंपरा को दिनकर ने नया जीवन दिया। अपनी भावना और कल्पना का आश्रय देकर भारतीय अतीत को कवि ने सजीव कर दिया। दिनकर की कवि-दृष्टि केवल भारत की भौगोलिक सीमा तक ही रुकी न रही; मेघरंध्र में रागिनी बजाते समय वह जर्मनी, जापान, शांघाई आदि सुदूर स्थानों तक भी पहुँची है।

दिनकर के हृदय में भावना-संपत्ति का जो संचय है वह यथेष्ट है। भावना के एक केंद्र-विंदु पर ठहरकर उनके ग्राम्य जीवन के अनुभव तथा ऐतिहासिक स्मृति ने कल्पना के बल पर

ते कलंक सब भारत केरे।
ठाढ़े अजहूँ लखो घनेरे॥
काशी प्राग अयोध्या नगरी।
दीन रूप सम ठाढ़ी सगरी॥
चंडालहु जेहि निरखि घिनाई।
रहीं सबै भुव मुँह मसि लाई॥
हाय पंचनद हा पानीपत।
अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत॥
हाय चित्तौर निलज तू भारी।
अजहुँ खरो भारतहिं मंझारी॥
× × ×

—भारतेंदु हरिश्चंद्र—भारत-दुर्दशा, पृ० ३२-३४।

वाणी का अच्छा वैभव दिखाया है। स्मृति ज्ञातक्षेत्र के बाहर नहीं जा सकती, किंतु जीवन का अनुभव अपनी मर्यादा के अनुसार जीवन के सभी ज्ञात तथा अज्ञात क्षेत्रों में प्रसारित हो सकता है। कवि की कल्पना का प्रसंग जब उद्वेलित होता है तब जल्द वह रुकता भी नहीं। यही कारण है कि दिनकर की अधिकांश कविताएँ, कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक, लंबी हो गई हैं और जो इस प्रकार लंबी हुई हैं उनमें प्रायः एक ही प्रकृति का काव्य-द्रव्य है। ऐसी कविताओं में भाव-संपर्कत्व का गुण स्वाभाविक रूप से आ गया है, पर कहीं-कहीं ऐतिहासिक उल्लेखों के गूढ़ प्रसंग-गर्भत्व के कारण साधारण पाठकों की रस-ग्राहिणी कल्पना विस्तृत क्षेत्र में फैल नहीं पाती।

दिनकर को जीवन के किसी गूढ़ तथा अन्य मार्मिक पक्ष को देखने की न अंतर्दृष्टि है और न वैसी प्रवृत्ति। 'बालिका से बधू' के वर्णन में कवि की बहुत आत्मीयता झलकती है, किंतु बधू के हृदय की भावनाओं के अंतर्द्वंद्व की व्यंजना का अच्छा प्रसंग पाकर भी कवि ने अनुभाव के बाह्य रूप पर जितनी दृष्टि रखी उतनी उसके विभावत्व पर नहीं। प्राकृतिक दृश्यों के प्रति हृदय का जो संबंध संस्कृत कवियों ने स्थापित किया था उसकी परंपरा हिंदी काव्य में न चल सकी। दिनकर को भी प्रकृति के नित्य नवीन रूप के प्रति अनुराग नहीं है। प्रकृति के नाना रूप और व्यापार में केवल अतीत गौरव की याद दिलाना, उसके प्रति क्षोभ, उपालंभ तथा भर्त्सना प्रकट करना अपनी भावना को संकुचित करना है। निरपेक्ष प्रकृति-दर्शन की प्रवृत्ति दिनकर में बहुत कम है। प्राकृतिक दृश्य-वर्णन के उपलक्ष्य से अपनी भावना

को दूसरे क्षेत्र में अभिव्यक्त करने की जो एक काव्य-परिपाटी रही है वही दिनकर का लक्ष्य है। प्रकृति के नाम पर दिनकर की लेखनी उठती है, पर उसमें उनका हृदय रमता नहीं, अतीत दर्शन की लालसा से क्रम-भंग हो जाता है। 'वसंत के नाम पर,' 'वन फूलों की ओर' आदि रचनाओं में कवि की कल्पना सचेष्ट तथा एकनिष्ठ नहीं रह सकी है। कवि के हृदय में वसंत की उमंग जगी और उनकी—

कलम उठी कविता लिखने को
अंतस्तल में ज्वार उठा रे!
सहसा नाम पकड़ कायर का
पश्चिम पवन पुकार उठा रे!
देखा शून्य कुँवर का गढ़ है,
झाँसी की वह शान नहीं है;
दुर्गादास, प्रताप बली का
प्यारा राजस्थान नहीं है;—

और इसी प्रकार कवि की स्मृति-विधायिनी कल्पना अग्रसर होती गई। कुछ क्षण के बाद फिर जब वसंत की याद आई तब इसी कविता के प्रसंग में वे कहने लगे—

हाँ, वसंत की सरस घड़ी है
जी करता मैं भी कुछ गाऊँ
कवि हूँ आज प्रकृति-पूजन में
निज कविता के दीप जलाऊँ।
क्या गाऊँ? सतलज रोती है
हाय! खिलीं बेलियाँ किनारे

भूल गए ऋतुपति, बहते हैं
यहाँ रुधिर के दिव्य पनारे।
बहनें चीख रहीं रावी-तट
बिलख रहे बच्चे मतवारे,
फूल-फूल से पूछ रहे हैं—
'कब लौटेंगे पिता हमारे ?'

इस प्रकार दिनकर प्रकृति के साथ अपनी तन्मयता न दिखा सके। लेकिन देश के अतीत गौरव, उसके खँडहर, दीन-दुखी भूखे किसान-मजदूर, हरे-भरे धन-खेत, खलिहान, हरी-भरी दूब, गांव के चौपाल पर उनकी कवि-दृष्टि भिन्न-भिन्न रचनाओं के रूप में पहुँची है। दिनकर प्रगतिशीलवादी नहीं, किंतु स्वाभाविक रूप से एक प्रगतिशील कवि हैं। भारत की राष्ट्रात्मा के मर्म को स्पर्श करने की जैसी क्षमता दिनकर में दिखाई पड़ रही है वैसी किसी दूसरे कवि में नहीं मालूम होती। भारतीय लोक-जीवन के सम्मुख राष्ट्रीयता का रसात्मक स्वरूप उपस्थित करने की आशा दिनकर से की जा सकती है। उनका भविष्य इसी संभावना पर बहुत-कुछ निर्भर करता है। अपने देश के दलित पक्ष को ऊपर उठाने केलिए वाणी में जिस संयम तथा दर्प की आवश्यकता है वह दिनकर में पर्याप्त मालूम पड़ती है—

उठ वीरों की भावरंगिणी दलितों के दिल की चिनगारी,
युग-मर्दित यौवन की ज्वाला जाग-जाग री क्रांति-कुमारी
लाखों क्रौंच कराह रहे हैं जाग आदिकवि की कल्याणी
फूट-फूट तू कवि-कंठों से बन व्यापक निज युग की वाणी

आदिकवि की कल्याणी—कविता देवी—को जगाने केलिए लाखों क्रौंचों की वेदना का अर्थ-गर्भित उल्लेख करना कवि की सहृदयता है, किंतु इतना ही नहीं, कवि की वाणी में क्षमता भी है और इस क्षमता को कवि ने अपनी वाणी में बड़े दर्प के साथ व्यक्त किया है—

छनूँ मैं सिंधु क्या गर्जन तुम्हारा ?
स्वयं युगधर्म की हुंकार हूँ मैं ।

महादेवी वर्मा

संसार में कुछ ऐसी वस्तुएँ होती हैं जिन्हें हम बहुत प्यार करते हैं, किंतु अपने प्यार की प्रतिष्ठा केलिए कोई तर्क नहीं दे सकते। पुष्प का सौंदर्य हमें रमणीय मालूम पड़ता है, चाँदनी हमें प्रिय मालूम होती है, परंतु उनकी प्रियता का कोई स्पष्ट कारण नहीं मालूम हुआ रहता है, केवल इतना ही कि उनमें आकर्षण है। शुद्ध सौंदर्य का तत्त्व कुछ ऐसे ही उपादानों से बना होता है जो हमारे हृदय को प्रलुब्ध तो बना देता है, पर तर्क को प्रबुद्ध नहीं करता। हृदय के साथ उनका कुछ-न-कुछ सांस्कारिक संबंध रहता है जो अज्ञात रूप से अपनी स्थिति को प्रकट करने की चेष्टा करता है। जड़ और चेतन की सृष्टि में इसी कारण वह द्वैध नहीं रखा गया जो साधारणतः ऐसी स्थिति में रखा जा सकता था। इसी कारण जड़ और चेतन, दोनों, के युगपत् आविर्भाव को ही सृष्टि कहते हैं। वस्तु और भाव, स्थिति तथा प्रक्रिया के भेद को मानते हुए, एक ही हैं। महादेवी वर्मा को वेदना प्रिय है, लेकिन उसकी प्रियता केलिए उनके पास ऐसा कोई कारण नहीं जो स्पष्ट हो। व्यक्ति का जीवन ऐसे ही रहस्यमय तत्त्वों से निर्मित होता है जिन्हें हम समूल अभिव्यक्त नहीं कर सकते। महादेवी ने अपनी वेदना की प्रियता के संबंध में जिन कारणों का उल्लेख किया है वे पर्याप्त तो क्या, युक्तिसंगत भी नहीं हैं। उनके जीवन में बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिलने की प्रतिक्रिया से वेदना प्रिय नहीं मालूम हो सकती। प्रतिक्रिया हृदय की इच्छित वृत्ति नहीं होती और काव्य में स्वाभाविक वृत्तियों के

विना रमणीय अभिव्यक्ति संभव नहीं। यदि महादेवी की सारी काव्य-रचनाएँ, जैसा कि उन्होंने लिखा है, अतिशय प्यार, दुलार की प्रतिक्रिया के कारण ही वेदना-बहुल हैं तो उनका मर्म किसी कवयित्री का मर्म नहीं हो सकता। किंतु, यह बात नहीं है। महादेवी एक सफल कवयित्री हैं और उनके पास कवि-सुलभ एक संवेदना-पूर्ण हृदय भी है।

जीवन में सुख के उपभोग के समय हृदय स्वार्थी रहता है और दुख के सहन-काल में प्रायः वह उदार हो जाता है। उदारता कवि-प्रकृति है। अपनी जिन उदात्त वृत्तियों के कारण कवि जनता की सहानुभूति को आकर्षित करता है उनके प्रति उसका ममत्व स्वाभाविक है। जगत् और जीवन की करुणा प्राप्त करने केलिए अपना वैभव भी लुटाना पड़ता है। जिस करुणापूर्ण दुखवाद के ऊपर बौद्ध दर्शन की प्रतिष्ठा हुई उसके संकेत यत्र-तत्र महादेवी की रचनाओं में भी मिलते हैं, किंतु इतना तो स्पष्ट मानना पड़ेगा कि जिस अगाध करुणा तथा निराशा से प्रेरित अनात्मवादी बौद्ध दर्शन पंच-स्कंध को ही आत्म-संज्ञक मानने को वाध्य हुआ वह उनकी रचनाओं में कहीं भी लक्षित नहीं होता। जीवन-विज्ञान का विश्लेषण ही दर्शन-शास्त्र का विषय है, लेकिन विश्लेषण की भिन्नता जीवन की अखंडता पर कुछ आघात नहीं कर सकती। निर्वाण या मोक्ष जीवन की लौकिक परिधि से मुक्ति है, पर इस परिधि के बाहर जाकर भी जीवन एक दूसरी सीमा में आवद्ध हो जाता है। उस सीमा की परिधि इतनी विशाल तथा विस्तृत है कि मानव बुद्धि उसे निस्सीम मान लेती है। व्यक्ति-बोध के खंड की यही अखंडता है। यदि अखंड तथा अविच्छिन्न जीवन में

खंड तथा विच्छिन्न जीवन को महत्त्व न दिया जायगा तो सामान्य मानव बुद्धि को उसका बोध नहीं हो सकेगा। ज्ञान का क्षेत्र सदा परिमित रहता आया है और ऐसे ही क्षेत्र में भाव भी संचरित हो सकता है। हमारी बुद्धि की सीमा के बाहर भाव अपनी व्यापकता नहीं बढ़ा सकता। जिस क्षेत्र पर एक बार ज्ञान का आधिपत्य हो चुका रहता है उसी पर भाव को संक्रमण का अवकाश मिलता है। जिस क्षेत्र पर आधिपत्य करने केलिए ज्ञान को अज्ञान से द्वंद्व करना पड़ता है वह अज्ञेय बनकर काव्य-प्रवृत्ति का बाधक हो जाता है।

रहस्यवाद के तथ्य को लेकर काव्य-रचना करनेवाली महादेवी वर्मा एक मुख्य कवयित्री हैं। काव्य के स्वरूप को ग्रहण करते समय रहस्यवाद को अज्ञेय की सीमा से नीचे उतरकर एक स्पष्ट तथा ज्ञात आलंबन के रूप में उपस्थित होना पड़ेगा। यदि ऐसा न हुआ तो रहस्यवादी रचनाएँ काव्य के अंतर्गत न रहकर अज्ञेय दर्शन के अंतर्गत हो जायँगी। ऐसा देखा जाता है कि रहस्यवादी कवियों ने अपने आलंबन की एकरूपता का निर्वाह प्रायः नहीं किया है। कभी आलंबन स्पष्ट है तो कभी अस्पष्ट। कहीं आलंबन लौकिक है तो कहीं लोकोत्तर। आश्रय के संबंध में भी लिंग का विपर्यय बना रहता है। इस प्रकार की भिन्नता रहस्यवादी कविताओं के मर्म को रसग्राह्य बनने में बाधा देती है। महादेवी वर्मा की रहस्यवादी कविताओं के रहस्य को समझने केलिए यदि उनके कथन को ही लिया जाय तो उनके 'गीतों ने पराविद्या की अपार्थिवता ली, वेदांत के अद्वैत की छाया-मात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सब को

कबीर के सांकेतिक दांपत्य-भाव-सूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेह-संबंध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय का अवलंब दे सका, उसे पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।' कवयित्री ने अपनी काव्य-वस्तु के संबंध में जो कुछ कहा है वह एक तथ्य के रूप में ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि शायद इसी कारण उनकी रचनाओं में आलंबन के एकत्व का सम्यक् निर्वाह नहीं हो पाया। निर्गुण ब्रह्म को महत्त्व देकर भी जनता की चित्तवृत्ति को भक्ति-रस से अनुप्राणित करने केलिए कबीर को सगुण 'राम की बहुरिया' बनना पड़ा। अद्वैत काव्य का विषय नहीं हो सकता। काव्य-स्वरूप के अंतर्गत आने केलिए अद्वैत को द्वैत के रूप में उपस्थित होना आवश्यक है। यदि द्वैत के रूप में उसका वर्णन न भी किया जाय तो विशुद्धाद्वैत या शुद्धाद्वैत के विना उसकी काव्य-परिणति नहीं हो सकती। आश्रय और आलंबन, काव्य के उभय पक्ष केलिए, अद्वैतवाद में स्थान नहीं और काव्य-रचना केवल एक के ही उपलक्ष्य पर नहीं हो सकती। अनुभूति तथा कल्पना को अपनी स्थिति-मात्र केलिए भी आश्रय से पृथक् आलंबन के रूप में किसी वस्तु को ग्रहण करना पड़ेगा। काव्य-जगत् में ब्रह्म को भी उसी वस्तु-रूप में उपस्थित होना पड़ेगा, अन्यथा 'अहं ब्रह्मास्मि' के कारण आश्रय और आलंबन का एकत्व प्रतिपादित हो जाने पर काव्य-रचना को अपनी प्रतिष्ठा का आधार नहीं मिल सकेगा। तुलसी और सूर के विशिष्टाद्वैत तथा शुद्धाद्वैत को रहस्यवाद में नियोजित करने की समर्थता प्राप्त नहीं होने पर निर्गुणवाद की सूफी पद्धति ही रहस्यवाद के अनुकूल पड़ सकी।

कबीर के शुद्ध निर्गुणवाद में रहस्यवाद की स्थिति संभव नहीं। जहाँ-कहीं कबीर ने रहस्यवाद की झाँकी ली है वहाँ उन्हें निर्गुण को सगुण मान लेना पड़ा है। लौकिक जीवन को लौकिक अर्थ-भूमि का आधार देने केलिए लौकिक वासनात्मक प्रणयोद्गार का माध्यम आवश्यक है। लोकोत्तर उपलक्ष्य के सहारे जीवन की सारी भावनाएँ व्यक्त नहीं की सकतीं। जो विषय केवल बुद्धिगम्य है वह सदा भावगम्य नहीं हो सकता। बुद्धिगम्य विषय को भावगम्य बनने में कुछ समय लगता है।

मुख्य आलंबन को गौण रखकर माध्यम को ही अभिव्यक्त करना रहस्यवादी कविताओं का एक लक्ष्य हो गया है। माध्यम की प्रधानता के कारण ही ऐसी रचनाओं में अन्योक्ति-पद्धति का आश्रय विशेषतः लेना पड़ा है। जीवन की विरह-वेदना, अतृप्ति, निराशा, अवसाद को चित्र भाषा-शैली में बड़ी विलक्षणता तथा विचित्रता के साथ वर्णित किया गया है। रूपक की विभिन्नता के कारण महादेवी वर्मा की रचनाएँ सहज ही दुर्बोध हो गई हैं। उनका प्रेम-व्यापार कहीं तो बिलकुल लौकिक पद्धति पर चला है, और कहीं लोकोत्तर। लौकिक प्रेम की तीव्रता जहाँ ज्यादा उभार मिली है वहाँ आलंबन स्पष्ट है और विषय भी रसग्राह्य, किंतु लोकोत्तर आलंबन पाठक या श्रोता की भाव-भूमि से इतनी दूर पड़ जाता है कि वहाँ तक कल्पना किसी तरह कभी-कभी पहुँच भी जाती है, हृदय को पहुँचने में बड़ी कठिनता होती है।

मुक्तक गीत में अन्विति-रक्षा केलिए पूर्वापर-संबंध का निर्वाह लोक-जीवन के अधिक निकट रहनेवाले प्रतीक या भावनोद्गार से हो सकता है। प्रकृति के अनंत रूप-व्यापार

के उपलक्ष्य पर प्रेम की गूढ़ तथा अगूढ़ व्यंजना हो सकती है, पर गूढ़ प्रेम व्यंजना को समझने के लिए अपेक्षित मनोरचना प्रायः नहीं होती। धुँधली साम्य-भावना के आधार पर अगूढ़ को गूढ़ बना देने की प्रणाली काव्योपयुक्त नहीं मानी जा सकती किंतु, इन सब दोषों का भार महादेवी वर्मा के ऊपर ही लादना उनके प्रति अन्याय होगा। उनकी सब से बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपनी भाव-धारा को एक स्वाभाविक तथा निश्चित क्रम से प्रवाहित होने दिया है, उसमें ज्वार-भाठा के कारण तरंगों का आवर्त्तन-प्रत्यावर्त्तन तो होता रहा है, पर प्रवाह को अपनी सीमा में रखनेवाले दोनों तट प्रायः सुरक्षित रहे हैं। कवयित्री के शब्दों में ही "समय के अनुसार रचनाओं में जो परिवर्त्तन आते गए हैं उनके लिए भी मुझे कभी प्रयत्न नहीं करना पड़ा। याद नहीं आता जब मैंने किसी विषय-विशेष या वाद-विशेष पर कुछ सोच कर लिखा हो।" उनके इस कथन से चाहे हम पूरे सहमत न भी हों, परंतु उनकी काव्य-दृष्टि में विषय की एकरूपता का यथासंभव निर्वाह तथा क्रमिक विकास मानना पड़ेगा। भिन्न-भिन्न समय में, प्रत्येक संवेदनशील कवि की तरह, उनकी अनुभूति, चिंतन तथा कल्पना के सामंजस्य में कुछ व्यतिक्रम रहा है। अपने चारों—नीहार, रश्मि, नीरजा तथा सांध्यगीत—कविता-संग्रहों के रचना-काल की प्रवृत्तियों के संबंध में उन्होंने जो कुछ लिखा है वह उनकी रचना-प्रकृति के साथ मेल रखनेवाला तथ्य है। वे लिखती हैं—"नीहार के रचना-काल में मेरी अनुभूतियों में वैसी ही कुतूहल-मिश्रित वेदना उमड़ आती जैसी बालक के मन में दूर दिखाई देनेवाली अप्राप्य सुनहली उषा और स्पर्श

से दूर सजल मेघ के प्रथम दर्शन से उत्पन्न हो जाती है। रश्मि को उस समय आकार मिला जब मुझे अनुभूति से अधिक उसका चिंतन प्रिय था, परंतु नीरजा और सांध्यगीत मेरी उस मानसिक स्थिति को व्यक्त कर सकेंगे जिसमें अनायास ही मेरा हृदय सुख-दुख में सामंजस्य का अनुभव करने लगा।"

महादेवी वर्मा ने वेदना को अपने काव्य का मूलद्रव्य रखा है। वेदना दुःखमूलक अवश्य है, किंतु प्रत्येक स्थिति में वह दुःखजनक नहीं होती। काव्य में जीवन की वही भावना अभिव्यक्त होती है जो कवि को प्रिय रहती है। अप्रियता को काव्य में स्थान नहीं। वेदना भी प्रिय लगने पर ही काव्य का स्वरूप धारण करती है। कवयित्री ने दुखवाद को अपना काव्य-विषय बनाकर सुखवाद से बैर नहीं ठाना, प्रत्युत सुखवाद का उल्लास प्राप्त करने केलिए ही उन्होंने वेदना से मैत्री स्थापित की है। यदि वेदना की अभिव्यक्ति में उन्हें उल्लास न मिले तो उनसे काव्य-रचना भी नहीं हो सकती। काव्य-रचना की मूल प्रेरणा सुख से ही होती है, पर अपनी रुचि-भिन्नता के कारण उसका विषय चाहे जैसा कुछ हो।

जन्म ही जिसको हुआ वियोग
तुम्हारा ही तो हूँ उच्छ्वास
चुरा लाया जो विश्व समीर
वही पीड़ा की पहली साँस
छोड़ क्यों देते बारंबार
मुझे तम से करने अभिसार।

जन्म या जीवन-ग्रहण को वियोग के नाम से अभिहित करना आध्यात्मिक दृष्टिकोण है। ब्रह्म से जीव की सत्ता जब पृथक्

होती है तब उसकी दशा प्यार-संभार से दबी उस लाड़ली कन्या की तरह होती है जो मातृगृह को छोड़कर पतिगृह जाते समय होती है। मातृ या पितृकुल के वियोग में भी पीड़ा का उच्छ्वास होता है। पतिगृह में जीवन की सारी सरसता रहते हुए भी मातृगृह की वियोग-वेदना नष्ट नहीं होती। महादेवी वर्मा ने अपने अद्वैतवादी दृष्टिकोण को भी जीव और ब्रह्म के रूप में उपस्थित किया है। उनके विचार से लौकिक जीवन की दीर्घता से ब्रह्म के वियोग की अवधि बढ़ती ही है; इसलिए वे मृत्यु में ही जीवन का चरम विकास मानती हैं।

विखर कर कन कन के लघु प्राण,
गुनगुनाते रहते यह तान
अमरता है जीवन का ह्रास
मृत्यु जीवन का चरम विकास!

महादेवी वर्मा के जीवन की शुष्कता ने उन्हें लोक-विमुख वैराग्य देकर लोकोत्तर आलंबन की ओर प्रेरित किया है जिसके अनुसंधान में कभी तृप्ति नहीं। वे प्राप्ति और तृप्ति से दूर रहने-वाली कवयित्री हैं, किंतु अपने संधान में प्रयत्न की कोई कमी नहीं रखना चाहतीं। तृप्ति से प्रयत्न पंगु हो जाता है। प्राप्ति से विरह मिलन हो जाता है। साधिका कवयित्री की तरह वे अपनी आँखें प्यासी रखना चाहती हैं।

चिर तृप्ति कामनाओं का
कर जाती निष्फल जीवन;
बुझते ही प्यास हमारी
पल में विरक्ति जाती बन!

पूर्णता यही भरने की
ढुल कर देना सूने घन;
सुख की चिर पूर्ति यही है
उस मधु से फिर जाए मन

चिर ध्येय यही जलने का
ठंढी विभूति बन जाना;
है पीड़ा की सीमा यह
दुख का चिर सुख हो जाना!

मेरे छोटे जीवन में
देना न तृप्ति का कण भर;
रहने दो प्यासी आँखें
भरतीं आँसू के सागर।

महादेवी वर्मा ने अपनी सारी मनोभावनाओं को एक अप्राप्य आराध्य के उपलक्ष्य से अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है। अतृप्त इच्छाएँ ही प्रलुब्ध होती हैं। इतना होने पर भी जगत् और जीवन के संबंध को हम विध्वंस नहीं कर सकते। उसी के अंतर्गत रहकर हम जीवन में उत्तीर्ण हो सकते हैं और वस्तुतः जीवन की यही सच्ची साधना है। क्षुद्र से विराट् तथा नश्वर से शाश्वत होने केलिए अंश में ही पूर्णता तथा सीमा में ही असीमता उपलब्ध करना पड़ेगा। अपनी सारी चेतना के साथ देखने से बद्ध भी अबद्ध मालूम पड़ता है। जीवन के विषाद तथा अवसाद चेतना की अंतर्ज्योति से स्वतः दीप्तिमय होकर आनंद तथा उल्लास में परिवर्त्तित हो जाते हैं। रवींद्रनाथ ठाकुर ने 'प्रकृति का प्रतिशोध' नामक अपने नाट्य काव्य में ऐसे ही एक तथ्य का बड़ा

रमणीय रूपक-विधान किया है। एक संन्यासी संसार के सारे स्नेह-बंधन को तोड़, अपनी प्रकृति पर विजय प्राप्तकर विशुद्ध भाव से एकांत में अनंत की उपलब्धि करना चाहता था। शायद वह यह सोचता था कि अनंत इस जगत् और जीवन से बाहर है। एक दिन अचानक एक बालिका ने उसे अपने स्नेह-पाश में आबद्धकर अनंत के ध्यान से जीवन और जगत् में लौटा लिया। जगत् में उस संन्यासी ने देखा कि क्षुद्र से ही बृहत् है, सीमा से ही असीम है और प्रेम से ही मुक्ति है। जैसे ही प्रेम का आलोक दिखाई पड़ा वैसे ही आँखें बंद करने पर उसने देखा कि सीमा में भी सीमा नहीं है।

महादेवी वर्मा ने, जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, अप्राप्तव्य को ही अपने प्रयत्न का लक्ष्य रखा है। उन्होंने अपनी सारी उत्कंठा, विह्वलता तथा उद्वेग को लेकर अपने जीवन के अतिथि का अनुसंधान करना चाहा है।

इस अचल क्षितिज रेखा से
तुम रहो निकट जीवन के
पर तुम्हें पकड़ पाने के
सारे प्रयत्न हों फीके।

जन्म-मरण के समय सुख-दुख की जो स्थिति रहती आई है वह जीवन में उल्लास-विषाद की प्रेरणा देती रही है। बार-बार मरने के विषाद की अनुभूति को प्राप्त करने केलिये बार-बार जन्म-ग्रहण की अनिवार्यता को भी स्वीकार करना पड़ेगा। उन की इस आकांक्षा के सामने उनका बौद्ध दर्शन पराजित हो जाता है। वे कहती हैं—

घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय !

जलधि-मानस से नव जन्म पर
सुभग तेरे ही दृग-व्योम में।
सजल श्यामल मन्थर मूक-सा
तरल अश्रुविनिर्मित गात ले,

नित घिरूँ झर-झर मिटूँ प्रिय !
घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय !

जीवन की नश्वरता को समझकर वे कहती हैं—

विकसते मुरझाने को फूल
उदय होता छिपने को चंद,
शून्य होने को भरते मेघ
दीप जलता होने को मंद ;
यहाँ किसका अनंत यौवन ?
अरे अस्थिर छोटे जीवन !

मरने का अधिकार, जो प्रेम की सब से सात्विक मांग है, कवयित्री रखना चाहती है—

क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार ?
रहने दो हे देव ! अरे
यह मेरा मिटने का अधिकार।

कवयित्री ने खंड में अखंड तथा सीमित में असीम को भी समझने की चेष्टा की है। अनंत तबतक प्राप्तव्य माना नहीं जा सकता जबतक वह सांत न हो। महादेवी वर्मा में एक बहुत ही प्रांजल कवि-हृदय है। उनकी काव्य-प्रवृत्तियों की विविधता में

भी एक ऐसी एकरूपता है जो हिंदी के अधिकांश कवियों को प्राप्त नहीं। वे जानती हैं कि—

विश्व में वह कौन सीमाहीन है,
हो न जिसका खोज सीमा में मिला?
क्यों रहोगे क्षुद्र प्राणों में नहीं,
क्या तुम्हीं सर्वेश एक महान हो?

हरिवंश राय 'बच्चन'

हरिवंश राय 'बच्चन' जीवन के राग-विराग से संतप्त मत्त तथा विद्रोही कवि हैं। ईरानी मदिरा से अभिसिंचित उमर खैयाम की रुबाइयों के प्रशंसक जब यूरोप तक में मिले तब भारत में उनके हिमायती क्यों न मिलते! ईरान के साथ भारत का कुछ सांस्कृतिक संबंध भी रहा है। यूरोप की बोतलों में जो ईरानी मदिरा भरी गई उनपर लेबुल तो ईरान का ही लगा, पर बच्चन ने अपनी मधुशाला में मदिरा भी अपने ढंग की बनाई और उस पर लेबुल भी बिल्कुल स्वदेशी रखा। भारतीय जीवन का जितना रमणीय अध्यात्मवाद बच्चन की कविताओं में झलकता है उतना उन तथाकथित रहस्यवादी रचनाओं में नहीं। 'हालावाद' के संबंध में, ऐसा मालूम पड़ता है, बच्चन का आरंभिक प्रयत्न प्रायः कौतुकपूर्ण ही था, पर अब उसमें धीरे-धीरे जीवन की गंभीरता और सचाई उतर गई है।

बच्चन की रचनाएँ उनके जीवन के दृष्टिकोण का स्पष्ट पता बता देती हैं। जीवन का आरंभ जिन सुनहले स्वप्नों के साथ होता है उनकी निस्सारता उनके भंग होने पर ही प्रकट होती है। अपने जीवन में केवल सुख, स्नेह, सम्मान, प्रशंसा को देखकर भूलनेवाले कवि की मादकता जब उतर जाती है तब वे जीवन को वस्तु-स्थिति के रूप में देखने की क्षमता प्राप्त करते हैं। जीवन में न तो केवल सुख-ही-सुख है और न केवल दुख-ही-दुख। सुख-दुख के द्वंद्व का ही नाम जीवन है और न मालूम इस द्वंद्व में कितनी लालसाएँ, कितनी महत्त्वाकांक्षाएँ पराजित हो जाती हैं।

"उसने न माना कि जीवन अपूर्ण है। वह विशुद्ध हृदय से यह विश्वास लेकर जीवन-पथ पर बढ़ा कि जीवन पूर्ण है। इस विश्वास के साथ वह कितनी दूर जा सकता था। कितनी पीड़ाओं को सहकर उसने सीखा कि कोमल कुसुमों की डाल काँटों से भरी है और शीतल चंदन के वृक्ष में विषधर सर्प लिपटे हैं। कितने आँसू बहाकर उसने सीखा कि प्रणय के अंदर संघर्ष छिपा तथा त्याग के पीछे स्वार्थ बैठा है। कितनी आहें भरकर उसने सीखा कि सत्य, शिव और सुन्दर इस विश्व में एक दूसरे से कितनी दूर हैं और वह कितना आश्चर्य-चकित हुआ यह देखकर कि इस संसार में पाप और पुण्य का ही विरोध नहीं। इतना ही होता तो पुण्य कब का पाप के ऊपर विजयी हो गया होता। यहाँ पुण्य का पुण्य से विरोध है। न्याय, न्याय का विद्रोह कर रहा है और सत्य और सत्य में युद्ध हो रहा है, संग्राम हो रहा है—भीषण, अति भीषण!"

बच्चन का धर्म-संबंधी विश्वास भी अपनी विशेषता रखता है। प्रेम ही उनका धर्म और भगवान है—

धर्म हमारा पूछो प्राण?—
ईश्वर को मैं नहीं जानता,
उसकी सत्ता नहीं मानता,
जिसे न देखा जाना कैसे उसको लेता मान?
जगती में मैं अबतक प्राण!
केवल एक प्रेम पहचानूँ,
उसे हृदय का स्वामी मानूँ,
सब कहते भगवान प्रेम है—प्रेम हमें भगवान!

उनकी मधुशाला में हिंदू-मुस्लिम, पंडित-मौलवी, छूत-अछूत, राजा-रंक, पूंजीवादी-साम्यवादी सब केलिए प्रवेश-द्वार खुला हुआ है। बच्चन केलिए न ईश्वर है, न खुदा; न वेद है, न पुराण; जो कुछ है वह प्रेम है। प्रेम को परम तत्त्व समझनेवाला तथा लहरों का निमंत्रण पाकर आकर्षित होनेवाला कवि नास्तिक नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष जीवन में—जीवन के इस पार में— जो रस है, स्वाद है उसको ही महत्त्व देनेवाला कवि परलोक—जीवन के उस पार—की कल्पनाकर आस्तिक बुद्धि को परेशान करना नहीं चाहता—

इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो,
उस पार न जानें क्या होगा !

यह चाँद उदित होकर नभ में
कुछ ताप मिटाता जीवन का
लहरा-लहरा यह शाखाएँ
कुछ शोक भुला देतीं मन का,

कल मुरझानेवाली कलियाँ
हँसकर कहती हैं मग्न रहो
बुलबुल तरु की फुनगी पर से
संदेश सुनाती यौवन का,

तुम देकर मदिरा के प्याले
मेरा मन बहला देती हो,
उस पार मुझे बहलाने का
उपचार न जानें क्या होगा !

इस पार, प्रिये, मधु है तुम हो,
उस पार न जानें क्या होगा।

कवि के इस उद्गार का चार्वाक के नास्तिकवाद के साथ संबंध नहीं बताया जा सकता। जीवन के किसी काल में जब प्रत्यक्ष सुख अपनी सारी संभावनाओं के साथ उपस्थित रहता है तब अप्रत्यक्ष तथा सुदूर सुख प्रलोभन नहीं दे सकता। जब प्रत्यक्ष सुख लुप्त हो जाता है तब कल्पना किसी सुदूर सुख का भी प्रलोभन पाकर प्रेरित होती है। मानव प्रकृति की ये सर्वमान्य विशेषताएँ हैं। जो कवि कभी इस पार ही रहना चाहता था वह लहरों का निमंत्रण पाकर अंबुधि को तैरकर उस पार की कुछ विभा ले आना चाहता है—

तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण

× × ×

आज अपने स्वप्न को मैं
सच बनाना चाहता हूँ,
दूर की इस कल्पना के
पास जाना चाहता हूँ,
चाहता हूँ तैर जाना
सामने अंबुधि पड़ा जो,
कुछ विभा उस पार की
इस पार लाना चाहता हूँ,
स्वर्ग के भी स्वप्न भू पर
देख उनसे दूर ही था,
किंतु पाऊंगा नहीं कर
आज अपने पर नियंत्रण।
तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण!

और वे कहते हैं—

दूरस्थित स्वर्गों को छाया
से विश्व गया है बहलाया ।
हम क्यों उन पर विश्वास करें
जब देख नहीं कोई आया ।
अब तो इस पृथ्वीतल पर ही
सुख-स्वर्ग बसाने हम आए
मधु-प्यास बुझाने हम आए ।

अपने प्याले के संबंध में उन्होंने जो परिचय दिया है उससे उनकी कितनी मस्ती झलकती है—

जो रस लेकर आया भूपर,
जीवन आतप ले गया छीन,
खो गया पूर्व गुण, रंग, रूप
हो जग की ज्वाला के अधीन,
मैं चिल्लाया, क्यों ले मेरी
मृदुता करती मुझको कठोर ?
लपटें बोलीं 'चुप बजा-ठोंक
लेगी तुझको जगती प्रवीण ।'
यह लो, मीना-बाजार लगा,
होता है मेरा क्रय-विक्रय ।
मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण-भर जीवन मेरा परिचय ।

जब मनुष्य अपने किसी विचार को धारणागत बना लेता है तब स्वभावतः अपने उस विचार के प्रति उसकी आसक्ति हो जाती है । मनुष्य अपने निर्णय के प्रति सदा निर्बल ही रहता है ।

जबतक वह अपने निर्णय को किसी भी पक्ष में मान्य नहीं बना लेता तबतक वह अपने विचारों को दूसरे के सम्मुख उपस्थित करने का उत्साह नहीं पाता। अपनी आसक्ति के निर्वाह केलिए वह समाज के व्यंग्य को भी सहनीय बना लेता है। जब धर्म या संप्रदाय ने जीवन में मदिरा का निषेध किया तब जीवन को प्रभावित करने केलिए ही मादकता का प्रतीक बनाकर उसे काव्य में उपस्थित कर दिया गया। बच्चन ने 'हालावाद' की पुकार मचाकर कुछ लोगों के कान खड़े कर दिए। इस प्रवृत्ति के कारण उन्हें कुछ व्यंग्यवाण भी सहने पड़े, किंतु कवि की मादकता इतनी हल्की न थी। उसमें वह अपने जीवन का आसव घोल चुका था—

हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनियाँ की नजर में !
× × ×
देख भींगे होंठ मेरे
और कुछ संदेह मत कर,
रक्त मेरे ही हृदय का
है लगा मेरे अधर में ।
हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनियाँ की नजर में !

कवि ने अपनी प्रवृत्तियों के संबंध में स्थान-स्थान पर अपनी रचनाओं में संकेत दिए हैं। उनकी रचनाओं के संबंध में लोग क्या समझते हैं उसको जानकर उन्होंने उसका उत्तर भी दिया है। उनकी मधुशाला की साकी चाहे पार्थिव हो या अपार्थिव, किसी भी रूप से उसके वासनात्मक स्वरूप का निराकरण नहीं किया

जा सकता। वासना सदैव बुरी नहीं होती, वासना के अभाव में न तो जीवन में कोई प्रेरणा उत्पन्न हो सकती है और न उसका शक्ति-संवर्द्धन ही संभव है। बच्चन ने अपनी साकी के साथ वासनात्मक संबंध का प्रतिरोध करते हुए उसके स्वरूप का जो अभौतिक विधान किया है वह इतना विशाल है कि साधारण मानव की पहुँच के बाहर हो गया है--

कह रहा जग वासनामय
हो रहा उद्गार मेरा !
सृष्टि के आरंभ में
मैंने उषा के गाल चूमे.
बाल रवि के भाग्य वाले
दीप्त भाल विशाल चूमे,
प्रथम संध्या के अरुण दृग
चूमकर मैंने सुलाए,
तारिका-कलि से सुसज्जित
नव निशा के बाल चूमे,
वायु के रसमय अधर
पहले सके छू होठ मेरे,
मृत्तिका की पुतलियों से
आज क्या अभिसार मेरा !
कह रहा जग वासनामय
हो रहा उद्गार मेरा।
× × ×
प्यास वारिधि से बुझाकर
भी रहा अतृप्त हूँ मैं,

कामिनी के कुच-कलश से
आज कैसा प्यार मेरा ।
कह रहा जग वासनामय
हो रहा उद्गार मेरा ।

× × ×

हमें जग-जीवन से अनुराग
हमें जग-जीवन से विद्रोह
इसे क्या समझेंगे वे लोग
जिन्हें सीमा, बंधन का मोह !
करे कोई निंदा दिन-रात
सुयश का पीटे कोई ढोल
किए कानों को अपने बंद
रही बुलबुल डालों पर बोल

× × ×

वृद्ध जग को क्यों अखरती
है क्षणिक मेरी जवानी
मैं छिपाना जानता तो
जग मुझे साधू समझता ।
शत्रु मेरा बन गया है
छल-रहित व्यवहार मेरा !

फिर अपनी वासना की पार्थिवता के संबंध में कवि कहता है—

हमें लघु मानव को क्या लाज
गये मुनि-देवों के मन डोल

बच्चन ने प्रकृति के विविध रूप-व्यापार—सर-सरिता, निर्झर, सागर, नभ, घटा, तरुवर, पत्नी आदि में अपने जीवन

का संबंध पाया है और वह संबंध जड़ के साथ नहीं, प्रत्युत जीवंत के साथ पाया है—

सर में जीवन है इससे ही
वह लहराता रहता प्रतिपल,
सरिता में जीवन इससे ही
वह गाती जाती है कल-कल

कहीं तो कवि ने प्रकृति के शुद्ध आलंबनत्व का निर्वाह किया है और कहीं अपनी भावना के अनुरूप ही प्रकृति को चित्रित किया है। कवि के जीवन में मादकता की जो लहर है वह प्रकृति के किसी भी रूप को, किसी भी व्यापार को सदैव स्वतंत्र नहीं छोड़ सकती। उनकी मधुशाला मदिरा की नहीं, मस्ती की है। अपनी मस्ती से उन्होंने जगत् को भी मस्त बनाने की ठानी है। उनकी सुराही, प्याला, हाला, मधुबाला आदि किसी निश्चित पदार्थ के प्रतीक के रूप में व्यवहृत नहीं हुए हैं। अपनी मादकता की उमंग में प्रकृति के जिस रूप की ओर, जीवन के जिस पक्ष की ओर दृष्टि दौड़ गई है उसी ओर और उसी क्षेत्र में मधुशाला के सारे उपकरणों को स्थान-स्थान पर बिठा दिया गया है। उनका सब से बड़ा दुर्भाग्य इसी बात में रहा कि उनकी रचनाओं के आध्यात्मिक मर्म की ओर पाठक या श्रोता की दृष्टि प्रायः नहीं गई।

दुख और सुख के साथ जीवन का संश्रव बराबर ही बना रहता है। कुछ घड़ियाँ ऐसी आती हैं जब मनुष्य अपने जीवन की सारी रमणीयता को भूलकर विषाद से ही अभिभूत हो जाता है। जीवन के कुछ क्षण ऐसे भी होते हैं जो उल्लास और उमंग

को ही सूचित करते हैं। मनुष्य परिस्थितियों से घिरा रहता है। सुख और दुख के अनुभव बहुधा परवशता के परिणाम होते हैं—

साथी, साथ न देगा दुख भी।
जिस परवशता का कर अनुभव
अश्रु बहाना पड़ता नीरव
उसी विवशता से दुनियाँ में होना पड़ता है हँसमुख भी।
साथी, साथ न देगा दुख भी।

बच्चन का कवि जीवन के उल्लास से भी उल्लसित हुआ है और विषाद से भी विषन्न। उनकी रचनाओं में जीवन के परिस्थिति-मूलक चित्र अनेक भरे पड़े हैं। अपनी प्रिय पत्नी के देहांत के बाद कवि की वृत्तियाँ जीवन और जगत् की नश्वरता पर प्रहार करने लगीं और एकांत संगीत तथा निशा-निमंत्रण के रूप में उनकी सारी वेदना मुखर हो गई। अपने घनीभूत विषाद से उनके दग्ध हृदय की वाणी विकल हो उठी—

मेरे उर पर पत्थर धर दो!
जीवन की नौका का प्रिय धन
लुटा हुआ मणि-मुक्ता कंचन
तो न मिलेगा, किसी वस्तु से इन खाली जगहों को भर दो।
मेरे उर पर पत्थर धर दो!

इतना ही नहीं, वियुक्त प्रिया की स्मृति आते ही उनका जीवन त्राहि-त्राहि कर उठा है—

त्राहि-त्राहि कर उठता जीवन!
जब रजनी के सूने क्षण में,
तन-मन के एकाकीपन में
कवि अपनी विह्वल वाणी से अपना व्याकुल मन बहलाता
त्राहि-त्राहि कर उठता जीवन।

यदि जीवन में केवल विषाद का ही अंधकार घिरा रहता और प्रकाश की रेखा न दिखाई पड़ती तो मानव जीवन में न द्वंद्व रहता, न कोलाहल। काल में विषाद के दंशन को सह्य बनाने की अपूर्व क्षमता होती है। जीवन को वस्तुस्थिति के रूप में समझने वाले मनुष्य केलिए सुख-दुख की घटनाएँ कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखतीं। जगत् और जीवन जिस उद्देश्य से स्रष्ट हुआ है उसकी विजय निश्चित है। बच्चन के विषाद को भी काल के सम्मुख पराजित होना पड़ा और कवि की वाणी पुकार उठी—

जय हो, हे संसार, तुम्हारी।
जहाँ झुकें हम वहाँ तनो तुम,
जहाँ मिटें हम वहाँ बनो तुम,
तुम जीतो उस ठौर जहाँ पर हमने बाजी हारी!
जय हो, हे संसार, तुम्हारी।

संसार की इस विजय ने कवि के जीवन में नई स्फूर्ति उत्पन्न की। काल-क्रम से उनके विषाद का घनत्व कम हो गया और जीवन में पुनः प्रेम तथा आनंद का आविर्भाव हुआ। बच्चन ने अपने हृदय पर से पत्थर को उठाकर वहाँ फिर नई परिणीता को स्थान दिया। इतना होने पर भी कवि ने अपने आरंभिक जीवन की जिन उमंगों को पहले व्यक्त किया था उनकी पुनरावृत्ति अब संभव नहीं मालूम पड़ती।

कवि ने 'हालावाद' की 'खुमारी' के बाद जीवन के जिन शाश्वत तत्त्वों की ओर दृष्टिपात किया है उनकी ओर यदि उनका ध्यान केंद्रित रहा तो जीवन और जगत् की मार्मिकता को अभिव्यक्त करनेवाले एक मनीषी कवि के रूप में वे हिंदी को प्राप्त हो सकेंगे।

नामानुक्रमणिका